डाक-पंजीयन म.प्र./भोपाल/4-472/2021-23
पोस्टिंग दिनांक : प्रतिमाह दिनांक 2 से 3, पृष्ठ सं. 140
प्रकाशन दिनांक : 1 से 1 प्रतिमाह

आर.एन.आई क्र. : 38470/83
आई.एस.एस.एन. क्र. : 2456-7167

मूल्य 50/-

41 वाँ वर्ष

मई 2023

अक्षरा

218

साहित्य की मासिकी

साधो सबद साधना कीजै
अजित वडनेरकर

स्तंभ
रमेश दवे, रामेश्वर मिश्र पंकज, कुसुमलता केडिया

अनुवाद
विभा खरे

आलेख
सुदर्शन वशिष्ठ, सत्येन्द्र शर्मा, बी. एल. आच्छा, शैलेन्द्र चौहान, प्रभा पंत

संस्मरण
हरिशंकर राढ़ी

ललित निबंध
सुमन चौरे

व्यंग्य
आर. एस. खरे

आत्मकथ्य
प्रकाश मनु

कहानी
प्रेमकुमार गौतम, रंजना जायसवाल आदि

चिंतन
हरप्रसाद शर्मा

कविता
नारायण श्रीवास्तव, ललन चतुर्वेदी, राधेलाल बिजधावने आदि

Antriksh

अक्षरा
अंक-218
मूल्य 50/- रुपये

वरिष्ठ छायाकार
जगदीश कौशल

पुण्य स्मरण

शरद जोशी

जन्म – 21 मई 1931
प्रयाण – 5 सितम्बर 1991

आधुनिक हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री शरद जोशी जी का जन्म 21 मई 1931 को उज्जैन (म.प्र.) में हुआ था। उनके बचपन का नाम बच्चू था। उन्होंने होल्कर कॉलेज इंदौर से स्नातक की शिक्षा प्राप्त की। वर्ष 1951–1956 तक उन्होंने नई दुनिया इंदौर के लिए लगातार व्यंग्य स्तंभ लिखा। सन् 1956 से 1960 के बीच मध्यप्रदेश शासन के सूचना तथा प्रकाशन विभाग में शासकीय सेवा भी की। लेखन के कारण उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। उन्होंने नई दुनिया, कादम्बिनी, ज्ञानोदय, रविवार, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स का प्रतिदिन स्तंभ उनका बहुत लोकप्रिय हुआ था जो लगातार सात साल तक चला था। परिक्रमा, किसी बहाने, तिलिस्म, रहा किनारे बैठ, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, दूसरी सतह, हम भ्रष्टन के भ्रष्ट हमारे, यथा संभव, जीप पर सवार इल्लियाँ आपके प्रमुख व्यंग्य संग्रह हैं। क्षितिज, छोटी से बात, साँच को आँच नहीं, गोधूलि, और उत्सव फिल्मों के लेखन के अलावा आपने ये जो है जिंदगी, विक्रम बेताल, सिंहासन बत्तीसी, वाह जनाब, देवी जी, प्याले में तूफान, दाने अनार के, ये दुनिया गजब की आदि धारावाहिकों में भी लेखन कार्य किया। वर्ष 1990 में उन्हें भारत सरकार द्वारा पद्मश्री सम्मान प्रदान किया गया, मध्यप्रदेश सरकार ने उनके नाम पर शरद जोशी सम्मान आरंभ किया है।

श्री शरद जोशी जी का यह दुर्लभ फोटो वर्ष 1960 का है जो सूचना एवं प्रकाशन विभाग में उनके सहकर्मी रहे भोपाल के सुप्रसिद्ध छायाकार श्री जगदीश कौशल ने क्लिक किया है।

अक्षरा

218

यू.जी.सी. द्वारा मान्यता प्राप्त
41 वाँ वर्ष

मनोज श्रीवास्तव
प्रधान सम्पादक

जवाहर कर्नावट
प्रबंध सम्पादक

जया केतकी
सम्पादन सहयोग

सुधा बाथम
अक्षर–संयोजन

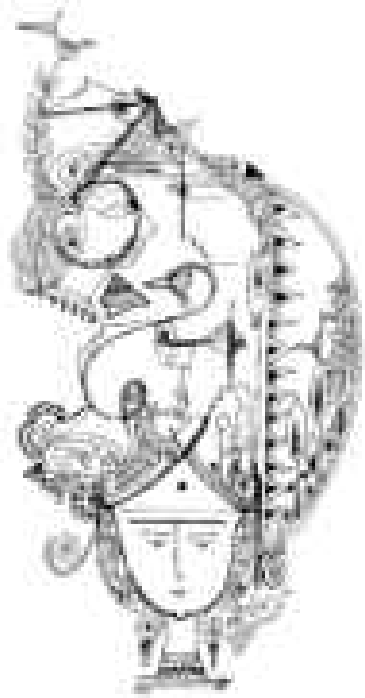

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 500 रुपए
दस वर्षीय सदस्यता शुल्क : 5000 रुपए
एक प्रति 50 रुपये
विदेशों के लिए : एक अंक : 10 डॉलर, वार्षिक : 120 डॉलर
चेक या ड्राफ्ट 'म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति- 'अक्षरा' के नाम देय
ऑनलाइन पेमेंट के लिये- इंडियन बैंक, हिन्दी भवन शाखा, भोपाल
Ac/ No. 50413818696, IFSC- IDIB000T610

सम्पर्क : म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - 462002 (म.प्र.)
दूरभाष : 0755- 2660909, 2661087, ई-मेल - **myakshara18@gmail.com**
hindibhawan.2009@rediffmail.com
वेबसाइट - **www.akshara.page, www.madhyapradeshrashtrabhasha.com**

अनुक्रम - अंक 218, मई 2023

सम्पादकीय

साधो सबद साधना कीजै

गोरखधन्धा यानी सिद्धि की राह / **अजित वडनेरकर/9**

समय और विचार - 34

मनुष्य से बढ़कर कौन? / **रमेश दवे/11**

धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित समाज शास्त्र -2

समाज और राज्य /**रामेश्वर मिश्र पंकज/19**

व्यास जी की भविष्यवाणी की उपेक्षा कर पुन: जुआ खेलना/**कुसुमलता केडिया/16**

अनुवाद

जब हैजा आया था **मूल : लिंड्से हिल्सम / अनु. विभा खरे/19**

आलेख

शब्दों का शिल्पी : मोहन रोकश / **सुदर्शन वशिष्ठ/24**

अब्दुर्रहीम : व्यक्तित्व और कवित्व के खानखाना /**सत्येन्द्र शर्मा/26**

बलराम के भीतर का आलोचक / **बी. एल. आच्छा/37**

हिंदी में कथेतर गद्य के विकास की संभावनाएँ / **शैलेन्द्र चौहान/40**

ओड़िया उपन्यास पक्षीवास : एक अध्ययन / **प्रभा पंत/44**

शोध आलेख

डॉ. जयप्रकाश कर्दम एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का काव्य / **दीप्ति आठिया/49**

समकालीन कवियों का प्रकृति प्रेम और उपभोक्तावादी समाज/ **प्रियंका सिंह/53**

सुधारवादी आंदोलन और वामा शिक्षक/ **भावना मासीवाल/56**

प्रासंगिकता का सवाल और सिद्ध सरहपा/ **दिवाकर दिव्यांशु/62**

साहित्य, सिनेमा और समाज / **सुरेश मुंढे/66**

संस्मरण

पेंसिल के अक्षर /**हरिशंकर राढ़ी/69**

ललित निबंध

कपास / **सुमन चौरे/73**

व्यंग्य

ट्रांसपेरेंट सिस्टम / **आर. एस. खरे/77**

प्रवासी कलम से

ठूँठ बन गया पेड़ / **अनिल पुरोहित/80**

आत्मकथ्य
मैं और मेरी कहानी / **प्रकाश मनु/81**
साक्षात्कार
प्रकाश मनु से श्याम सुशील की बातचीत/91
कहानी
उम्मीद रोशनी की / **प्रेमकुमार गौतम/95**
यादों की देहरी / **रंजना जायसवाल/98**
मंगतू की बकरियाँ / **संदीप शर्मा/102**
यात्रा / **हेमराज कुर्मी/105**
चिंतन
जीवन के पथ / **हरप्रसाद शर्मा/109**
कविता
काँस फूलने के बाद / **नारायण श्रीवास्तव/110**
यह याददाशत की कमजोरी नहीं है/ **ललन चतुर्वेदी/111**
जो भी बोलेगा खिलाफ/ **आलोक रंजन/112**
यादों के हंस / **गिरिमोहन गुरु 'नगरश्री'/113**
दौड़ / **राधेलाल बिजधावने/114**
गीत
धूल में साने पसीना / **अनूप अशेष/115**
दोहे / **सीमा सुशी/116**
ग़ज़ल / मनीष बादल/117
पुस्तक परिचय/ जया केतकी/118
समीक्षा
इसबार उनके लिए (मीना सिंह) / **अनीता सक्सेना/119**
सहसा कुछ नहीं होता (रक्षा दुबे) / **शिवकुमार शर्मा/120**
समय ही ऐसा है (मीरा गौतम) / **ब्रज श्रीवास्तव/121**
रानी कमलापति (श्री बलराम धाकड़) / **गिरिजेश सक्सेना/124**
मेरा झूला बहुत ही न्यारा (सुधा दुबे) / **मधुलिका सक्सेना 'मधुआलोक'/126**
कल की शक्ल (कमल चोपड़ा) / **लता अग्रवाल/128**
एकांत का इकतारा (शिरीन भावसार) / **मुजफ्फर इकबाल सिद्दीकी/130**
पहली बारिश (सुधीर सजल) / **अवधेश प्रसाद सिंह/133**
और इस बार जब तुम नदी बनी (शिशिर उपाध्याय)/ **क्रांति कनाटे/135**
प्राप्ति स्वीकार/136

धर्म की एक सकारात्मक शक्ति है। यदि उसका समाज निर्माण में उपयोग करने में संकोच करेंगे तो तामसिक ताकतें समाज विध्वंस में उसका इस्तेमाल करेंगी। संवैधानिक रूप से पंथनिरपेक्षता का अर्थ धर्म की निर्मात्री भूमिका की अवहेलना नहीं है। न ही व्यावहारिक रूप से उसके प्रति ऐसी उदासीनता है कि उसकी अंतर्राष्ट्रीय परिणतियों के प्रति असावधान रहा जाए। आज इस्लामिक सहयोग संगठन है जो संयुक्त राष्ट्र के बाद विश्व का दूसरा सबसे बड़ा संगठन है। इसमें चार महाद्वीपों में के 57 देश सदस्य हैं और यह संगठन स्वयं कहता है कि वह **मुस्लिम संसार की सामूहिक आवाज** है। इसने सन् 1970 से काम करना शुरू किया। अब यह 'मुस्लिम संसार' की बात ही भारत जैसे धर्म निरपेक्ष राज्य के लिए निराली है। लेकिन ऐसे संगठन के होते हुए धर्म के प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय राजनय से उपेक्षित करना असंभव है। जब यह संगठन मज़हब के नाम पर अपनी चिंताएँ भारत के आतंरिक मामलों में व्यक्त करने लगा है–कि उसे रामनवमी और हनुमान जयंती पर भारत में भड़की अशान्ति पर तो बोलना है पर पूरे भारत में शांति और सद्भाव के साथ मनाई गई ईद पर नहीं तब भारत धर्म निरपेक्ष राज्य होने के मोह में कई राष्ट्रों का सनातन संघ गठित करने की तो क्या सोचे, कोई आत्म–सम्मानी धर्म के प्रतिनिधित्व में बोलने के लिए ही ढाँचा बाधित है। सं.रा. अमेरिका जैसे देश ने इसी के मद्देनज़र अपने विदेश मंत्रालय में धर्म एवं वैश्विक मामले नामक एक विभाग खोला है। पर जब से इस इस्लामिक सहयोग का गठन हुआ है तब से क्या सिर्फ यह एक संयोग है कि अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में आतंकवाद और फिदाईन और जेहादी फौजों और संगठनों का इतना ज्यादा प्रसार हुआ है। जिस तर्क पर इस संगठन का निर्माण हुआ है, उस तर्क पर यदि कोई आज क्राइस्टेंडम के गठन की सोचें तो कैसा लगेगा? हमारे धर्मनिरपेक्ष देश में किसी व्यक्ति को ऐसे संगठन कभी आपत्ति के योग्य क्यों न लगे? बल्कि आपत्ति इस बात पर है कि दुनिया के तीसरे बड़े मुस्लिम जनसंख्या देश होने पर भी भारत इसका सदस्य कैसे नहीं बन रहा है। यदि आप धर्मनिरपेक्ष देश हो तो आप तभी तक सुरक्षित हो जब तक कि बाकी दुनिया धर्मनिरपेक्ष है। आपकी यदि वास्तविक निष्ठा धर्म निरपेक्षता में है तो विश्व में उसका प्रसार आपका लक्ष्य होना चाहिए। आप स्वयं को धर्मनिरपेक्ष कहते हो और सामने वाले की भाषा ही धार्मिक है। अब तो उनका दुस्साहस इस हद तक का है कि इस्लामिक सहयोग संगठन भारत और पाकिस्तान के बीच एक बैठक बुलाने का प्रस्ताव करता है। यानी इस संगठन के लक्ष्य जितने मज़हबी हैं, जितने इस्लामी हैं, उतने राजनीतिक हैं। विश्व व्यवस्था (वर्ल्ड आर्डर) को यह एक बड़ी चुनौती है कि मज़हब का इस्तेमाल राजनीतिक प्रयोजनों के लिए हो रहा है। हम ऐसे संगठन में 'विशेष अतिथि' (गेस्ट ऑफ आनर) कैसे बन रहे हैं? हमें 'प्रेक्षक' का दर्जा देकर बुलाने की कोशिशें क्यों हो रही हैं? पोप के बुल्स लेकर निकले उपनिवेशवादियों के 'राष्ट्रमंडल' अभी भी हैं। मध्यकाल के इस्लामिक आक्रमणकारी देशों ने 'इस्लामिक सहयोग संगठन' के रूप में अपने को पुनर्गठित कर लिया है। पर सनातन का कोई धनीधोरी नहीं है। हमारे देश के मंत्रिमंडल में धर्म का कोई मंत्रालय तक नहीं।

कई देशों की केन्द्र सरकारों ने धार्मिक मामलों का विभाग बनाया है। अफगानिस्तान में हज एवं धार्मिक मामलों का

मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ हज एंड रिलीजस अफेयर्स) है। अल्जीरिया में धार्मिक मामलों का मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ रिलीजस अफेयर्स) है। बांग्लादेश में भी इसी नाम से है। ध्यान दें कि बांग्लादेश में पंथनिरपेक्षता 1972 के मूल संविधान में प्रावधानित थी। 1977 में जिया-उर-रहमान ने हटा दी। 1988 में इस्लाम को राजकीय मज़हब घोषित कर दिया गया। अभी 2010 में बांग्लादेश के सर्वोच्च न्यायालय ने पंथनिरपेक्षता को पुन: देश के संविधान का बुनियादी सिद्धान्त कहा है, हालाँकि इस्लाम अभी भी राजकीय धर्म है। ब्रुनेई, म्यांमार, ट्यूनीशिया और इंडोनेशिया में भी धार्मिक मामलों का मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ रिलीजस अफेयर्स) है। म्यांमार हालाँकि किसी भी धर्म में विश्वास की स्वतंत्रता देता है किन्तु यह भी कहता है कि चूँकि बड़ा बहुमत बौद्ध है, अत: बुद्ध के '**सासन**' का शुद्धिकरण, निरन्तरता सुनिश्चय और प्रचार उसका काम है। पाकिस्तान में इस नाम के आगे 'एंड इंटर-फेथ हार्मनी' और जोड़ दिया है। मैं अभी सिंगापुर में था। वहाँ मैंने मुस्लिम मामलों का प्रभारी मंत्री ('मिनिस्टर-इन-चार्ज ऑफ मुस्लिम अफेयर्स') देखा।

ओमान में धर्मस्व एवं धार्मिक कार्य मंत्रालय है। अजरबैजान में धार्मिक संगठनों के साथ काम करने के लिए राज्य समिति (स्टेट कमिटी टु वर्क विद रिलीजस आर्गेनाइजेशन्स) है। वहाँ उसने 425 धार्मिक समुदायों को पंजीकृत किया है। इनमें से 408 तो सिर्फ मुस्लिम समुदाय हैं। जो इस्लाम को सिर्फ एकरस (मोनोटनस) रूप में परिभाषित करते हैं, वे इस विविधता को देखें। अजरबैजान के संविधान की धारा 48 धार्मिक स्वतंत्रता की धारा है और राष्ट्रपतीय आदेश क्र. 512 द्वारा धार्मिक संगठनों की गतिविधियों को अधीक्षित किया जाता है। यहाँ अंत:धार्मिक संवाद (इंटरफेथ डायलाग) और धार्मिक गतिविधियों के डाटाबेस को तैयार करने से लेकर धार्मिक पर्यटन के लिए देश के बाहर और भीतर सुविधाएँ निर्मित करने आदि बहुत से कामों को किया जाता है। मिस्र में औकाफ मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ औकाफ) है। वहाँ मुहम्मद अली ने सारे वक्फों का राष्ट्रीकरण कर दिया था और सारे औकाफ राज्य के नियंत्रण में लाए गए थे। नासेर ने 1952 में विन्यासों (एंडाउमेंट्स) को राष्ट्रीकृत कर दिया था। इमाम वस्तुत: राज्य के कर्मचारी जैसे हो गए थे। मस्जिदों को इजरायल के विरुद्ध एक प्रोपेगंडा मशीन की तरह प्रयोग में लाया गया। कतर में औकाफ के साथ साथ 'एंड इस्लामिक अफेयर्स' भी जुड़ा हुआ है। कतर के मंत्रालय ने तो अपने कार्यक्रमों में बार बार अल-अतीक को बुलाया है जो शियाओं, ईसाइयों, नौसिरिस, यहूदियों के संहार की बात करता है। माल्दीव में इस्लामिक मामलों का मंत्रालय है। (मिनिस्ट्री ऑफ इस्लामिक अफेयर्स) है। सऊदी अरब में इस्लामिक विन्यासों, दावों और मार्ग निर्देशन मामलों का मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ इस्लामिक एंडाउमेंट्स, कॉल एंड गाइडेंस अफेयर्स) है।

क्या आपको लगता है कि सिर्फ धर्मतंत्रीय (थियोक्रेटिक) देशों में धार्मिक मामलों का मंत्रालय हो सकता है? मैंने अपने एक पूर्व-संपादकीय में संयुक्त राज्य अमेरिका और अर्जेन्टीना का उदाहरण दिया था। इजरायल में भी धार्मिक सेवाओं का मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ रिलीजस सर्विसेज) है। यह यहूदी पूजास्थलों पवित्र कुंडों का निर्माण और जीर्णोद्धार करता है। धर्म की पूरक शिक्षा देता है, तोराह के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है, सार्वजनिक धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन करता है, रब्बी अदालतों की मदद करता है। फ्रांस में पूजा का मंत्रालय है। कम्पूचिया में संप्रदाय एवं धर्म मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ कल्ट एंड रिलीजन) है। सर्बिया में धर्म मंत्रालय है। डेनमार्क में

Ministry of ecclesiastical affairs है। चीन में कुछ सरासर दूसरे कारणों से है पर वहाँ भी 'मजहबी मामलों के लिए राज्य प्रशासन' (state administration for religious affairs) है। यह धार्मिक नियुक्तियाँ करता है, पुजारियों का चयन करता है, धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या करता है और यह सुनिश्चित करता है कि सभी पंजीकृत धार्मिक संगठन चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नीतिगत प्राथमिकताओं को क्रियान्वित करें।

कई देशों में धर्म को विदेश मंत्रालय की जगह कुछ दूसरे मसलों से जोड़ा हुआ है। मसलन बहरीन में वह न्याय से जुड़ा हुआ है। वहाँ न्याय एवं इस्लामिक मामलों का मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ जस्टिस एंड इस्लामिक अफेयर्स) है। ग्रीस में वह शिक्षा से जुड़ा हुआ है और वहाँ 'शिक्षा एवं धार्मिक मामलों का मंत्रालय' है। यह ग्रीस के सबसे पुराने मंत्रालयों में से है। बीच में दो बार इसे संस्कृति मंत्रालय से भी जोड़ा गया। फ्रांस में पूजा मंत्रालय का पहले एक काम यह देखना था कि रोमन कैथलिक चर्च की क्या भूमिका सार्वजनिक शिक्षा में हो सकती है। अब यह मंत्रालय गृह मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ इंटीरियर) के साथ मिला दिया गया है। सूडान में उसे जेंडर एवं समाज कल्याण से जोड़ा हुआ है। वहाँ लिंग, समाज कल्याण एवं धार्मिक मामलों का मंत्रालय (मिनिस्ट्री ऑफ जेंडर, सोशल वेल्फेयर एंड रिलीजस अफेयर्स) है। ब्रिटेन में अभी कुछ वर्षों के दंगों के अनुभव को देखकर समुदाय विभाग (डिपार्टमेन्ट ऑफ कम्युनिटीज़) ने सामुदायिक ऐक्य (कम्युनिटी कोहेशन) की व्यवस्था स्थापित की है। वहाँ इसका संस्थान भी स्थापित हुआ है। वहाँ भी आरोप यही था कि 'सामुदायिक ऐक्य' का प्रयोग अल्पसंख्यकों के संलयन के एजेंडा की ओर ले जानी वाली राजनीतिक दृष्टि के तहत हो रहा है। लेकिन ब्रिटिश मंत्रालय इस आलोचना में अप्रतिहत रहा। वहां अभी भी चर्च ऑफ इंग्लैंड के 26 सबसे वरिष्ठ बिशप राज्यसभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) के सदस्य होते हैं। हंगरी के संविधान की प्रस्तावना उसके राष्ट्रत्व (नेशनहुड) में ईसाइयत के योगदान का खुला स्वीकार करती है। इटली कैथलिक चर्च को राजकीय धर्म का दर्जा देता है।

यह एक विचित्र प्रवृत्ति कई देशों में है जो बहुसंख्यकों के धर्म का आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं, भले ही उसे राजकीय धर्म का दर्जा न देते हों। मसलन पनामा कैथलिसिज्म को 'नागरिकों के बहुमत के धर्म' के रूप में अपने संविधान में ही मान्यता देता है लेकिन उसे अधिकृत राजधर्म का दर्जा नहीं देता। अर्जेन्टीना के संविधान के अनुच्छेद 2 में ही यह कहा गया है कि सरकार रोमन कैथलिक अपोस्टलिक आस्था को समर्थन देती है पर राजकीय धर्म के रूप में उसकी स्थापना नहीं करती। बल्गारिया बल्गरियन आर्थाडाक्स चर्च को 'बल्गरियन जनता के पारंपरिक धर्म' के रूप में संविधान में मान्य करता है किन्तु राज्य को पंथनिरपेक्ष ही बताता है। जांबिया धार्मिक स्वतंत्रता का सांविधानिक वायदा करते हुए भी स्वयं को एक ईसाई देश कहता है।

भारत की केन्द्र सरकार में क्या है? यहाँ अल्पसंख्यक मामलों का मंत्रालय है। यह धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए है। अब यह भाषाई अल्पसंख्यकों के काम भी देखती है। राज्यों में धर्मस्व विभाग है। अन्य देशों से भिन्न, हमारे केन्द्र में नहीं है। राज्यों के धर्मस्व विभाग सिर्फ हिंदू मंदिरों के लिए हैं जिसके पीछे कारण भारतीय रियासतों का इतिहास है।

स्वयं सोचें, अपने देश के संदर्भ में कार्यबिन्दु या अकर्मण्यता

और उदासीनता के प्रसंग भी। व्यवस्थाएँ और अव्यवस्थाएँ। नीति संकोच और नीति अंतराल।

हमारे यहाँ एक व्याधि यह है कि हम धार्मिक विरासत को सांप्रदायिक मानते हैं और उसके संरक्षण या अनुरक्षण को संविधान की प्रस्तावना में दिए गए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श से विचलन या समझौते के रूप में देखते हैं। लेकिन अनेक यूरोपीय देशों में पूजास्थल और उनकी चल-अचल संपत्ति को सांस्कृतिक विरासत के रूप में लिया जाता है। उनका अनुरक्षण धार्मिक स्वतंत्रता के एक अनुषंग के रूप में देखा जाता है। न केवल उनकी चिंता, संधारण, रखरखाव के मामलों में बल्कि उनकी अभिवृद्धि के मामलों में भी। क्योंकि वहाँ वह मुद्दा धार्मिक न होकर नागरिकों के सामने ऐसे निर्माणों की कलात्मक और ऐतिहासिक मूल्यवत्ता को सुरक्षित रखने का माना जाता है। कौंसिल ऑफ यूरोप ने 1989 में परित्यक्त धार्मिक इमारतों पर एक संकल्प पारित कर धार्मिक विरासत भवनों की सुरक्षा और पुनर्निर्माण के मुद्दों पर चिंता व्यक्त की थी। उन्होंने कहा था कि धार्मिक स्मारक सबसे प्रथमत: एक सांस्कृतिक व पुरातात्विक विरासत की तरह देखे जाने चाहिए। इसे धर्म के प्रति धर्मनिरपेक्षीकृत एप्रोच की तरह माना गया और इसे धार्मिक भवनों का विरासतीकरण (Heritagization of religious buildings) कहा गया। बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, इटली, नीदरलैंड्स, स्पेन, तुर्की और यूनाइटेड किंगडम में प्रमुखत: यह मॉडल सक्रिय दिखाई पड़ा। मेस्नर की अभी 2015 में आई पुस्तक 'पब्लिक फंडिंग ऑफ रिलीजन्स इन यूरोप' इस दिशा में आँखें खोल देने वाली पुस्तक है। इन यूरोपीय देशों की तुलना में धार्मिक भवनों का बहुत पुराना इतिहास होने पर भी भारत सरकार में उनके विरासती मूल्य को ध्यान में रखकर उनका जीर्णोद्धार करने की कोई विशेष योजना नहीं है। सोमनाथ के मंदिर के संदर्भ में जरूर यह दृष्टि सरदार पटेल के समय दिखाई पड़ी थी। अन्यथा हम योरोपीय देशों की तरह दुहरे उपयोग की नीति पर चलते ही नहीं हैं। यदि कोई धार्मिक भवन विरासती महत्व का घोषित हो गया है तो उस पर 100 एवं 200 मीटर के पुरातत्व-संरक्षण वाले प्रतिबंध जरूर लगा दिए जाते हैं।

मैंने ये सब उदाहरण इसलिए दिए हैं कि धर्म के साथ छुआछूत की पुरानी मानसिकता से बाहर आकर हम लोग देखें कि धर्म को अब अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों द्वारा न केवल विनियोजित किया जा रहा है बल्कि अपने आंतरिक प्रशासन में भी उसका लगातार इस्तेमाल हो रहा है। ग्लानिहीन और कुंठाहीन उपयोग। हम तो अपनी विरासत के संरक्षण के प्रति भी इतने संकोचशील हैं-और यदि वह विरासत धार्मिक प्रकृति की है तब तो यह संकोच और भी बढ़ जाता है-कि अपने खंडहर होते धार्मिक भवनों को सुधारने के लिए केन्द्र स्तर पर हमारे पास कोई धर्मस्व मंत्रालय नहीं है। यह तर्क कि धर्मस्व राज्य का मामला है, इसलिए व्यर्थ है कि राज्य सूची के बहुत से विषयों पर केन्द्र सरकार में भी विभाग हैं।

अभी यूरोप में इटली में देखने आया कि 'मानवतावादी' दी, स्वैच्छिक और अधार्मिक प्रयोजनों के लिए दिए गए पैसे 'ब्रदरहुड ऑफ सेंट मेरीज़ प्यूरिटी चर्च' को दे दिए गए। 3 लाख 69 हजार यूरो की यह राशि थी। 1992 से वहाँ चर्च ने 'होली होटेल' (पवित्र होटल) की एक नई अवधारणा चलाई है और सरकार से लाभ प्राप्त कर लिये गये हैं। इटली के संविधान के अनुच्छेद 33 में स्पष्ट व्यवस्था दी गई है कि कैथोलिक निजी स्कूलों को शासकीय अनुदान नहीं दिया जाएगा लेकिन दिया जाता रहा है। राज्य के सरकारी विद्यालयों में कैथोलिक धार्मिक शिक्षा

ही नहीं दी जाती बल्कि उन शिक्षकों की नियुक्ति भी बिशप द्वारा की जाती है। ऐसे किसी शिक्षक को चर्च नौकरी से निकाल दे तो सेवानिवृत्ति की आयु तक भी इन शिक्षकों को सरकार की ओर से वेतन मिलता रहता है। जर्मन राज्य घोषित तौर पर कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट चर्चों का समर्थन करता है, उनके लिए कर संग्रह करता है, स्कूलों में धार्मिक शिक्षा देता है और उन शिक्षकों के द्वारा देता है जो इन चर्चों के द्वारा अनुमोदित किए जाते हैं। क्या भारत में हम किसी मंदिर-कर की कल्पना कर सकते हैं जो हिन्दुओं द्वारा अदा किया जाए पर जर्मनी में चर्च टैक्स ईसाई करदाताओं से लिया जाता है। सौ साल पहले जर्मनी में यह फैसला हुआ कि सरकार चर्चों को पैसा नहीं देगी पर वह कभी क्रियान्वित नहीं हआ। 560 मिलियन यूरो का वार्षिक खर्च सरकार चर्चों पर करती है। आस्ट्रिया में कैथोलिकों पर अनिवार्य चर्च कर है। और अभी से नहीं 1939 से है। डेनमार्क में इस चर्च कर को Kirkeskat के नाम से जाना जाता है। इसके अलावा उस चर्च कर राशि का 9प्रतिशत ब्लाक ग्रांट की तरह सरकार चर्च को अलग से देती है। इसका अर्थ यह है कि गैर-मज़हबी लोगों के द्वारा चुकाया गया पैसा भी चर्च की सेवा में जाता है। फिनलैंड में भी आय-आधारित चर्च कर है। आइसलैंड में वे करदाता, जो किसी अधिकृत रूप से पंजीकृत धार्मिक समूह या किसी धर्मनिरपेक्ष मानवतावादी संगठन से भी जुड़े हैं, एक congregation tax देते हैं। यह उस व्यक्ति से सम्बन्धित संगठन में जाता है। इसके अलावा भी चर्च के लिए टैक्स है और स्वीडन में चर्च ऑफ स्वीडन के लिए चर्च फीस सरकार इकट्ठी करती रहती है। स्विट्जरलैंड में जेनेला और निऊचेटल को छोड़कर बाकी सभी कैंटन रोमन कैथोलिक, ओल्ड कैथोलिक या ईवेन्जेलिकल रिफार्म्ड-इन तीन चर्चों को वित्तीय समर्थन कराधान के जरिए राशि एकत्र कर देते हैं। सं. रा. अमेरिका में चर्चों को करों से उन्मोचन दिया गया है। यहाँ तक कि चर्च पुरोहितों को मकान भाड़ा भत्ता और उन्हें करमुक्त रखना दोनों इसमें शामिल हैं। यह सुविधा सिर्फ चर्च या साइनेगॉग के पुरोहितों को प्राप्त है। यही बात कनाडा में भी है। इन दोनों में सेवानिवृत्त क्लर्जी को भी ये लाभ मिलते हैं। जर्मनी, आस्ट्रेलिया, स्वीडन, स्विट्जरलैंड, नार्वे, फिनलैंड, डेनमार्क में भी चर्च पुरोहितों आवासीय भत्ते की सुविधाएँ हैं। जर्मनी तो उन्हें वृत्ति (Stipend) भी देता है। डेनिश, आइसलैंडिक, फिन्निश सरकारें ईवेन्जेलिकल लूथरन चर्च के क्लर्जी को वृत्ति देती हैं। नार्वे की सरकार नार्वे के चर्च-पुरोहितों को देती है और स्वीडन की सरकार चर्च ऑफ स्वीडन के पुरोहितों को।

वे यह सब करते हुए धर्मनिरपेक्ष कहलाते रह सकते हैं पर भारत में हम न तो मंदिरों के लिए कोई कर आरोपित और संग्रहीत कर देते हैं, न पुजारियों को आवास भत्ता देते हैं और न धार्मिक शिक्षा में उनकी कोई भूमिका सरकारी स्कूलों में तय करते हैं।

और तब भी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय और संगठन हमारे देश के धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर प्रश्न उठाते रहते हैं और हम खिसियाकर अपनी सफाई पेश करते रहते हैं। हम भारत में धर्म पर शोर मचाते हैं, व्यवस्था नहीं देते। अपनी धर्मनिरपेक्षता को अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों से परिपक्व कीजिए, यदि अपने धर्म को न कर सकें तो।

(मनोज श्रीवास्तव)
राम-रज, 3-पारिका-फेज 2, चूना भट्ठी, कोलार रोड, भोपाल-462016 (म.प्र.)
मो.-9425150651
ईमेल-shrivastava_manoj@hotmail.com

गोरखधन्धा यानी सिद्धि की राह

– अजित वडनेरकर

जन्म – 1962।
शिक्षा – हिंदी साहित्य में स्नातकोत्तर उपाधि।
रचनाएँ – पाँच पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – राजकमल प्रकाशन का विद्यानिवास मिश्र कृति पांडुलिपि सम्मान।

समाज की नज़र में जो कुछ भी 'उच्च' है, वहाँ से उसका ज़रा सा भी विचलन हमें सहन नहीं होता। यही वजह है कि इससे पहले इस विचलन को किसी अन्य शब्द से अभिव्यक्त किया जाए, सीधे सीधे उस 'उच्चता' की ही अर्थावनति कर दी जाती है। यह भाषा का समाजशास्त्र है। अध्यापक की अर्थवत्ता वाले किन्हीं शब्दों पर गौर करें, यही प्रवृत्ति देखने को मिलेगी। गुरु अब चतुर, चालाक, धूर्त के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यही बात उस्ताद के साथ है। मठाधीश, महन्त, स्वामी, बाबा, चेला, भक्त, अफ़सर, पंच, बाबू, मास्टर, नेता, पहलवान, जादूगर, बाजीगर, ओझा, पण्डित आदि शब्द इसी कतार में हैं।

नाथपन्थी शब्दावली से रिश्ता :– अनेक शब्द अपनी मूल अभिव्यक्ति से इतने दूर आ गए कि उन्हें बरतते हुए ऐसा लगता नहीं कि दरअसल हम अन्यार्थ बरत रहे हैं, मूलार्थ नहीं। पाखण्ड किसी ज़माने में परिव्राजकों का पन्थ था। आज पाखण्डी किसे कहते हैं, यह सब जानते हैं। 'रास' रचाना पहले कुछ और था, बाद में इसका अभिप्राय विशिष्ट अर्थ में आमोद–प्रमोद से जुड़ गया। बहरहाल इन दिनों गोरखधंधा की बहुत चर्चा है। यूँ भी यह हिन्दी पत्रकारिता का पसंदीदा पद है। आज गोरखधंधा का सामान्य अर्थ उलटे–सीधे कामों के सन्दर्भ में ज्यादा होता है। छल–कपट, धोखाधड़ी, चालाकी भरे कृत्यों को इसी श्रेणी में रखा जाता है। दरअसल यह नाथपंथी सिद्ध योगियों की शब्दावली से निकला पद है।

कठिन, जटिल, दुष्कर :– नाथपंथियों में गुरु गोरखनाथ का दर्जा ऊँचा है। सिद्धियों की प्राप्ति के लिए नाथपंथी गूढ़, जटिल क्रियाएँ करते थे। आम आदमी इनसे चमत्कृत रहता था। योग, मुद्रा, श्वास–प्रश्वास से नाड़ी गतियों का नियन्त्रण, समाधि और नादानुसन्धान की सिद्धि–प्रक्रियाएँ इतनी दुर्गम जटिल, असहज, कठिन और दुसाध्य होती थीं कि आम आदमी तो दूर, सामान्य नाथपंथी साधक भी उसमें उलझ कर रह जाते थे। बिन गुरु ज्ञान कहाँ से पाऊँ इसीलिए कठिन और नतीजे तक न पहुँचाने वाले काम या उलझन के सम्बन्ध में गोरखधंधा मुहावरा प्रचलित हो गया। इस शब्द का प्रयोग अपभ्रंश में लिखित बौद्ध साहित्य में हुआ है।

चमत्कारी धागा :– यूँ देखें तो गोरखधंधा अपने–आप में एक यन्त्र था। नाथपन्थी साधना का अभ्यास–उपकरण। डोरी या धागे से बने चक्र के उलझाव–सुलझाव के ज़रिये सिद्धि प्राप्ति का अनुष्ठान। इसके अनेक प्रारूप रहे हैं। गुच्छे का सुलझाव भी रहा और अनेक चक्रों के बीच से किसी वस्तु को निकालने जैसा अभ्यास भी। इनका यौगिक–आध्यात्मिक–तान्त्रिक महत्व चाहे जो हो, पर नाथों–सिद्धों की पद्धतियों के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन की महिमा ही समाज पर ज्यादा रही। साधना के दुष्कर मार्ग की कठिनाइयों से बचते हुए अनेक साधकों ने भौतिक सुख–सुविधाओं के लिए यौगिक क्रियाओं का माया जाल रचा। मन्त्र–मुद्रा आदि के जाल में उलझा कर आमजन को खूब ठगा। मूलतः ये सभी प्रणालियाँ आध्यात्मिक विस्तार के लिए थीं, पर चमत्कारी धागों में उलझ कर रह गईं।

स्वार्थसिद्धि नहीं, अध्यात्म सिद्धि :– गोरखनाथी योगियों की जमातों के मठ पूरे भारत में हैं। गोरखपुर गढ़ है। ये साधु हिमालयी क्षेत्रों से लेकर रेतीले राजस्थान में भी पाए जाते हैं।

गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में भी इनके ठिकाने हैं। इनकी निराली धज के बारे में जायसी ने लिखा है–

मेखल सिंघी, चक्र धंधारी। जोगवाट रुदराछ अधारी।।
कंथा पहिरि दंडकर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा।।
मुद्र स्त्रवन कंठ जयमाला। कर उपदान कांध बघछला।।

अनेक लोगों को भ्रम है कि गोरखधंधा का मूलार्थ ही दरअसल उल्टे–सीधे काम कर अपना मतलब साधने से है। उन्हें लगता है इसेके ज़रिये गोरखपंथियों अथवा नाथपंथियों को बदनाम किया जाता है। मगर ऐसा नहीं है। मूलत: यह युग्मपद नाथ परम्परा से ही निकला है और इसका विशेष महत्व है। गोरखपंथी साधुओं के सिद्धि–अभ्यास उपक्रम का एक अनिवार्य चरण है 'गोरखधंधा' जो साधना की कठिन पद्धति की वजह से समाज में चर्चित हो गया।

दुनिया गोल है :– ध्यान रहे, सभी प्राचीन संस्कृतियों में चक्र की परिकल्पना ध्यान, अध्यात्म, योग, चिन्तन, मनन से जुड़ती है। चक्र यानी सर्कल, घेरा, गोला, वृत्त, मण्डल, वर्तुल, दायरा। सृष्टि में जो कुछ व्याप्त है, वह सब प्रतिक्षण बदलता है क्योंकि सब गतिशील हैं। मगर बदलाव का यह क्रम चक्रगति से चलता है। चक्र के विस्तार में न जाते हुए हमें इसके विविध आयामों पर विचार कर लेना चाहिए–मसलन सौरमण्डल, जीवनचक्र, ऋतुचक्र आदि। तो नाथपन्थियों के अनेक तन्त्र मूलत: चक्र की महत्ता से जुड़े हैं। गोरखधंधा भी चक्र ही है। गोरख–योगियों की साधना का अनिवार्य हिस्सा है गोरखधंधा। इसे धंधारी या धांधरी भी कहते हैं। धांधली का भी इससे रिश्ता है।

छल्लों का मायाजाल :– लकड़ी या लोहे की पतली छड़ को मोड़ कर चक्र बनाया जाता है। इनके भीतर कौड़ियों की माला पिरोई जाती है। यह कुछ उसी तरह–तरह का यन्त्र है जैसा हमने जादूगरों के पास देखा है। दो लोहे के छल्लों को वे एक–दूसरे में पिरो देते हैं और फिर बड़ी तरकीब से दोनों छल्लों को अलग अलग कर देते हैं। कुछ यही बात गोरखधंधा में है। ख्यात विद्वान तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी रचित मराठी विश्वकोश के मुताबिक–'धंधारी दरअसल लकड़ी की चपटी पट्टियों और लोहे की सलाइयों से निर्मित एक उपकरण होता था। इसके सुराखों में धागा डालने और फिर मन्त्रोच्चार के साथ बाहर निकालने की क्रिया सिद्धिप्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण थी।'

खेल–खेल के धागे :– यही नहीं, धंधारी समेत कुछ और उपकरण भी गोरखपंथियों की सिद्धि के उपादान थे जैसे किंगरी यानी छोटी सारंगी, मेखला यानी करधनी, सिंघी यानी सींग से बना बिगुल, अधारी यानी झोला और मुद्रा यानी कुंडल आदि इसके बदले हुए रूप भी होते हैं। हममें से हर एक ने बचपन में दोनों हाथों की अँगुलियों में धागों के छल्ले बनाते हुए एक–दूसरे में पिरोते हुए पहले उन्हें उलझाने और फिर एक झटके में सुलझाने के खेलों को सीखा भी है और उससे प्रभावित भी हुआ है। कुछ यही बात गोरखधंधा में रही, बस खास यह रहा कि गोरखधन्धा ध्यान केन्द्रित करने का यन्त्र था। विशेष मन्त्रों के ज़रिये साधक कौड़ियों की माला को बाहर निकाल पाता था। प्राय: धंधारी से डोरा निकालने की प्रक्रिया को लक्ष्य प्राप्ति से जोड़ कर देखा जाता रहा।

गोरखनाथ की धंधारी :– अन्य संदर्भों से पता चलता है कि गुरुओं की अपनी अलग धंधारी होती थी। अधिकांश साधक पारम्परिक धंधारी से काम चलाते थे। गोरखनाथ की धंधारी अनोखी थी और इसीलिए उनके पंथ में इस धंधारी का नाम 'गोरखधंधा' प्रसिद्ध हुआ। यह मान्यता थी कि जिससे यह क्रिया सध सकती है उस पर गोरखनाथ की कृपा होगी और उसे संसारचक्र से मुक्ति मिल जाएगी। बाद में गोरखधंधा शब्द जटिल और उलझाऊ क्रिया के लिए रूढ़ हुआ। गोरखनाथ की धंधारी अद्भुत थी। इसलिए साधक को चक्कर में डालने वाली सिद्धि प्रक्रिया के बतौर इसका प्रयोग शुरू हुआ होगा। धंधारी के शब्दकोशीय अर्थों में अकेलापन, सन्नाटा, सूनापन जैसे अर्थ भी हैं। निश्चित ही इसमें सिद्धि की राह में तल्लीन होने का संकेत छुपा है।

जी–37, फेज–1, ग्रीन मीडोज
भोजपुर रोड, पी.ओ. मिसरोद,
भोपाल–462047 (म.प्र.)
मो.– 6265739044

मनुष्य से बढ़कर कौन
(वर्तमान ही भविष्य है)

- रमेश दवे

वरिष्ठ साहित्यकार एवं शिक्षाविद।

जन्म - 8 जून 1936।

रचनाएँ - पचास से अधिक पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान - कुसुमांजलि साहित्य सम्मान, सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

पृथ्वी पर मनुष्य का होना श्रेष्ठतम प्राणी का होना है। मनुष्य ही सबसे लंबा जीवन जीता है और सोच-समझ कर जीता है। उसका मस्तिष्क उसके विचार, व्यवहार और संवेगों का जन्म होता है। मस्तिष्क ही भाषाओं और कलाओं, विचारों, विश्लेषणों आदि का जनक और नियंत्रक होता है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य में चेतन, अवचेतन, अहं, अस्तित्व आदि सबकी खोज तो अवश्य की लेकिन मनुष्य ऐसा प्राणी है जो हर आविष्कार या खोज के बाद उसके आगे चुनौती बनकर किसी नई खोज का आह्वान करता है। विचारहीन मनुष्य पशु ही होता, एक अराजक मनुष्य होता और जब जब मनुष्य विचारविहीन होता है तो अपने संयम और आचरण पर नियंत्रण खो बैठता है। क्रोध, विक्षिप्तता, अतिअगत्म केन्द्रीयता अथवा स्वार्थ, अपराध, हिंसा आदि के जो भी उत्पात देखे जाते हैं, वे मस्तिष्क की विचारहीनता या रोगग्रस्तता से उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य जन्म से मृत्यु तक एक क्रियाशील उपस्थिति है। निष्क्रिय होकर जीना, मात्र देह-पशु की तरह जीना है, संज्ञाहीन प्राणी की तरह जीना है। मनुष्य कई-कई प्रकार से जीवन को परिचालित करता है। वह कर्म में जीता है तो किसान, मज़दूर, उद्योगी, लेखक, चिकित्सक आदि कुछ भी हो सकता है। वह ज्ञान की साधना कर अध्ययन की सततता में जीता है तो विद्वान और विचारक का स्तर ग्रहण कर लेता है, वह चिन्तन या विचार में जीता है तो बड़ा वैज्ञानिक, विचारक एवं क्रांतिकारी बन सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह समूचा पृथ्वी तंत्र दो प्रकार से परिचालित है-एक प्रकृति के नाना प्रकार के क्रियाकलापों द्वारा और दूसरा मनुष्य की मेघा, मनीषा, प्रज्ञा एवं कर्म संकुल दृष्टि द्वारा। पुरुष अर्थात् मनुष्य और प्रकृति अर्थात् प्राण-तत्व ये ही तो संचयन, संतुलन और संवेदन के माध्यम है। बिना प्रकृति के न केवल मनुष्य बल्कि समूचे जीव-तत्व या जीवन-तत्व का अस्तित्व असंभव है। कृत्रिमता कितनी भी आ जाए, रोबोट आए, आर्टिफिशल, इंटेलीजेन्स आए, कम्प्यूटर-क्रांति आई, मोबाइल-मूवमेण्ट आए, भूगोल से खगोल तक के तमाम आविष्कार आए, अंतत: वे सब आए और आते रहेंगे तो मनुष्य के ही माध्यम से। यदि मनुष्य का वजूद मिटा तो क्या पृथ्वी-तंत्र कायम रह सकेगा, पर्यावरण, पारिस्थितिकी और समस्त प्रकृतिगत तत्व जी सकेंगे? इसलिए मनुष्य है तो ये सब हैं और ये सब हैं तो जीव-सृष्टि है।

अब प्रश्न यह है कि हम अतीत में जाए तो हमें पुरखों की स्मृति यह अहसास कराती है कि वे कितने बड़े चिन्तक, साधक, ऋषि, संत, लेखक आदि थे और उन पर हम गर्व करते हैं। हमारी ग्रंथ-संस्कृति और ज्ञान-परम्परा का संपूर्ण श्रेय हम अपने पुरखों पर निछावर कर देते हैं। जब हम अपने समय या समकाल को देखते हैं तो हम अपनी उपलब्धियों पर वैसा गर्व क्यों नहीं करते, जैसा पुरखों पर करते हैं? एक बात है, पुरखों ने और विशेष रूप से कणादि जैसे ऋषि ने अणु की खोज कर ली थी, लेकिन पुरखों ने सृष्टि को ध्वस्त करने, मनुष्य को मिटाने का अणु-बम नहीं बनाया। भरद्वाज ने विमान निर्माण का संपूर्ण यांत्रिक ज्ञान प्रकट कर लिया था, वे हवाई जहाज बना नहीं सके उसके दो कारण थे, उनके सैद्धांतिक यंत्र को व्यावहारिक रूप देने वाले संसाधनों की कमी थी और शायद दूसरा कारण यह है कि यदि वे हवाई जहाज बना देते, तो आण्विक खोज और वायुयान मिलकर शक्ति के दुरुपयोग से ग्रस्त हो जाते। वर्तमान में मनुष्य ने अद्भुत खोज की, जीवन-उम्मीद बड़ी कर दी, अनेक आश्चर्यजनक अन्वेषण मनुष्य जीवन को बेहतर बनाने के कर दिए, मगर मनुष्य अपने अंदर के हिंसक पशुत्व को

समाप्त नहीं कर सका। सभ्य होने के नाम पर प्रस्तर-युग से आण्विक-अस्त्र का नाम जितना लिया जाता है, उतना अच्छे जीवन-तत्वों की खोज का नाम क्यों नहीं लिया जाता? यदि सभ्य होने के बावजूद हम आज भी युद्ध पैदा कर रहे हैं, तो हम रामायण, महाभारत, ट्रोजन वार या विश्वयुद्धों या छोटे-बड़े अनेक युद्धों के समय से आगे जाकर वैसे अहिंसक कहाँ हो पाए कि सभ्यता का अर्थ अहिंसा होता, सभ्यता का अर्थ शांति, प्रेम, करुणा, परस्पर सहयोग, सद्भाव आदि होता अर्थात् मनुष्य आज भी इतना सभ्य नहीं हो पाया कि उसके अंदर का हिंसक पशुत्व समाप्त हो जाता।

विचार, चिन्तन, मंथन, संवाद, विमर्श, तर्क और इन सबके साथ मनुष्य का बुद्धिवाद ये सब ऐसे तत्व हैं जो जीवन-संबोधी एवं अस्तित्व चेतना से जुड़े हैं। इन तत्वों से मनुष्य का मनुष्य होना, प्रमाणित होता है, अस्तित्व चेतना की स्थापना होता है। यों तो इस धरती पर करोड़ों स्त्री-पुरुष हैं। मगर कुछ ऐसे हैं जो अपने दैनंदिन जीवन-कर्म से जुड़े श्रम करते हैं और अपने भौतिक अस्तित्व की रक्षा करते हैं कुछ ऐसे हैं जो सुविधा-संपन्न जीवन जीते हैं और अपनी समूची ऊर्जा अपने धनवान होने में गँवा देते हैं। तीसरे प्रकार के लोग वे हैं जो 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' के अध्यात्म में जीकर अंतत्व या वैराग्य अपना लेते हैं और वे आत्मा और शरीर के अध्ययन एवं किसी परम-तत्व की साधना में लीन हो जाते है। चौथा प्रकार है बौद्धिकों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, कलाकारों और चिन्तकों का। यदि चौथा प्रकार न हो तो मनुष्य के मनुष्य होने और उसके अस्तित्व की स्थापना ही निरर्थक हो जाएगी, इसलिए चिन्तनशील और सृजनशील मनुष्य को समाज का श्रेष्ठत्तर मनुष्य माना जाता है। अब एक विचार यह भी है कि मनुष्य लिखता क्यों है? कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, व्यंग्य, संस्मरण, आत्मकथा, जीवनी, वैचारिक लेखन, राजनीतिक लेखन, अध्यात्म रचना ये तमाम प्रकार की विधाएँ या लेखन प्रणालियाँ मनुष्य में उतरती कैसे हैं?

मनुष्य अनपढ़ हो या पढ़ा-लिखा ज्ञानी, वह सोचता है, इसलिए वह सोच में मनुष्य है, वह अपने सोच को कर्म के श्रम में बदलता है इसलिए वह कर्म में मनुष्य है, उसके पास एक संपूर्ण चराचरमय जीवन है, वह उनसे साक्षात्कार करता है, उनका अध्ययन कर नए ज्ञान की खोज करता है, इसलिए वह ज्ञान में भी मनुष्य है, ये सब तत्व वह अपनी बुद्धि से अर्जित करता है इसलिए वह बुद्धि में मनुष्य है और बुद्धि का काम से सतत् चिन्तन, अन्वेषण और विश्लेषण है, इसलिए वह चिन्तन में मनुष्य है और अंतत: वह एक रचनाकार, लेखक, सर्जक या कृतिकार की भूमिका अपना लेता है और साहित्यकार या लेखक कहलाकर एक भिन्न प्रकार का मनुष्य बन जाता है। इस प्रकार मनुष्य का मनुष्य होना केवल पंचतत्व की सृष्टि होना नहीं है बल्कि उसके अपने अस्तित्व की स्थापना है। वह है तो सोच है एवं सारे तत्व हैं।

आजकल भविष्यवाद बहुत ज्यादा चर्चा में है। अनेक विचारक मानते हैं कि भविष्यवाद एक प्रकार का धोखा है। प्रसिद्ध लेखक एवं अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र और सिमोन द बोउआर ने तो अस्सी के दशक में ही कह दिया था कि भविष्यवाद हमें वर्तमान की विडम्बनाओं से भटकाने के लिए पैदा किया गया है। हम अपने वर्तमान में जो हिंसा, युद्ध, साम्प्रदायिकता साम्राज्यवादी लिप्सा, शक्तितंत्र की मनमानी, धन की बेलगाम होड़ एवं गरीब-अमीर की अराजकता आदि रच रहे हैं, वह हमारे सभ्य होने के विरुद्ध है और इसलिए इन बुराइयों को ढँकने के लिए भविष्यवाद का विचार रचा गया है। जो भी हो चाहे भविष्य की कल्पना एल्विन टॉफलर करें, हक्सले या नीत्शे का समय बोध करे, सत्य तो यह है कि हर युग के मनुष्य ने अपने युग को छिपाने के लिए भविष्यवाद की एक नई मृग-मरीचिका पैदा कर दी है। भविष्यवाद का आकर्षण इस कदर फैला कि अब शिक्षा के पाठ्यक्रमों में भी भविष्यवाद एक विषय बन गया है। इसलिए यह कहावत प्रचलित है कि अतीत लुभाता है, वर्तमान सताता है और भविष्य बुलाता है।

यह तो सच है कि मनुष्य काल-जीवी है चाहे वह अतीत में जिये या समकाल में या भविष्य की कल्पना में। मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कभी एक जगह सदा के लिए ठहरता नहीं फिर चाहे वह जगह अच्छी हो या खराब। उसने पहला हथियार भले ही पत्थर का बनाया, मगर वहाँ नहीं ठहरा और आ पहुँचा आण्विक शस्त्र तक। उसने पहला हथियार शिकार से भोजन प्राप्त करने के लिए बनाया था, अब जो हथियार हैं वे स्वयं को मिटा देने के हथियार हैं, उसने जो भी श्रेष्ठ

किया, उसे भी श्रेष्ठतर बनाया फिर चाहे ज्ञान-विज्ञान हो, ग्रंथ-संस्कृति हो, विचार हो, अध्यात्म हो या नये से नया चिन्तन, अन्वेषण और आचरण हो। मनुष्य अपने स्वभाव से ही सतत आगे-आगे चलने का प्रयत्न करता है। वह नहीं चाहता कि उसे किसी भी प्रकार की पशु-संज्ञा में देखा जाए। वह यह भी नहीं चाहता कि वह इतिहास के पन्नों पर अंकित तानाशाहों एवं युद्धवादियों की तरह देखा जाए, वह तो यह भी नहीं चाहता कि उसे किसी अवतार, प्रभु, पैगम्बर, महापुरुष, संत, साधु, ऋषि की प्रचलित छवियों में देखा जाए; यदि वे सब हैं, तो वे उसकी प्रेरणा तो ज़रूर हैं क्योंकि उनके होने से उसे अपने आपको साधने और नियंत्रित रखने में मदद मिलती है, बुराइयों से बचने की हिम्मत मिलती है, इसलिए वह उन्हें केवल प्रेरक तो मानता है अगर खुद अपने में उनके जैसा देखना नहीं चाहता। वह मनुष्य है तो उसके पास अपनी अनेक शक्तियाँ हैं-मानसिक भी, शारीरिक भी, वैचारिक भी। वह अब शक्तियों के साथ जीना चाहता है।

अब यह विचार किया जाए कि अपने मनुष्य होने से क्या मनुष्य स्वयं ऊबने लगा है? क्यों वह किसी चाँद या मंगलग्रह पर किसी जीवधारी की खोज में हैं, क्यों एलियंस में वह मनुष्य का कोई नया संस्करण खोज रहा है? मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह कभी भी स्वयं से संतुष्ट नहीं रहा।

संतुष्ट होने का अर्थ उसने जड़ता या ठहराव माना। यह तो अच्छी बात है लेकिन अब यह विचार भी होना चाहिए कि क्या मनुष्य से श्रेष्ट या श्रेष्ठतर पृथ्वी से अंतरिक्ष तक कोई अब है और उस अन्य की खोज से मनुष्य अपने नए विकल्प या संस्करण की खोज कर रहा है? मनुष्य जीता तो वर्तमान में है मगर याद हमेशा अतीत को करता है और अपनी आकांक्षाएँ भविष्य में फलित होते देखना चाहता। वर्तमान तो सतत् अतीत बनता चला जाता है और भविष्य कल्पना का आकर्षण है। वर्तमान को भविष्य बनाने में मनुष्य अपनी सारी ऊर्जा खर्च कर रहा है। उसका वर्तमान से इस कदर असंतोष यह बताता है कि उसे ऐसा भविष्य मिले जो उसकी आकांक्षाओं का भविष्य हो, क्या ऐसा भविष्य अहिंसक युद्ध रहित और मानवीय भविष्य होगा?

एस. एच. 8/19 सहयाद्रि परिसर,
भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.)
मो.- 07554244064

रचनाकारों से अनुरोध

- ***मौलिक तथा अप्रकाशित-अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।***
- ***रचना फुल स्केप कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति में भेजें।***
- ***रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, पिनकोड, फोन नंबर एवं फोटो साथ भेजें।***
- ***डाक टिकट लगा लिफाफा साथ होने पर ही अस्वीकृत रचना वापस भेजी जा सकती है। अतः लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।***
- ***'अक्षरा' में प्रकाशन हेतु रचना भेजने के बाद उसे अन्यत्र प्रकाशन हेतु न भेजें। यदि अन्यत्र प्रकाशित हो रही हो तो कार्यालय को अवश्य सूचित करें।***

समाज और राज्य

- रामेश्वर मिश्र पंकज

रीवा मध्य प्रदेश में जन्मे प्रसिद्ध दार्शनिक, समाजवैज्ञानिक एवं इतिहासविद, समाजवादी एवं गाँधीवादी आंदोलनों में सक्रियता, विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों से सेवा निवृत्त। वर्तमान में निरंतर सृजनरत। आपकी बाइस पुस्तकें प्रकाशित हैं।

धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित राजधर्म के स्वरूप को जानने के लिये यह जानना आवश्यक है कि समाज और राष्ट्र के विषय में तथा समाज एवं राष्ट्र से राज्य के संबंध के विषय में धर्मशास्त्र क्या कहते हैं। वस्तुत धर्मशास्त्रों में 'समाज' शब्द नहीं प्रयुक्त है। राष्ट्र, राज्य, जन एवं लोक-ये चार पद ही इस संदर्भ में धर्मशास्त्रों में प्रयुक्त हैं। राज्य से शासित जो क्षेत्र है, उसे जनपद कहते हैं और चक्रवर्ती सम्राट से शासित क्षेत्र को राष्ट्र एवं पृथ्वी-दोनों ही कहा जाता है। जो कुछ दृश्यमान जीवन और जीव हैं, उन सबको लोक कहा जाता है। मानव समुदायों को 'जन' कहा जाता है।

'समाज' शब्द वस्तुत: अंग्रेजी के 'सोसायटी' शब्द का प्रचलित हिन्दी अनुवाद है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'समाज' शब्द का प्रयोग संगीत एवं कलाओं के सहृदय समूह के लिये ही किया जाता था। जिसे आज समाज कहा जाता है, उसके लिये 'जन' और 'लोक' ये दो शब्द ही प्रचलित थे। परंतु लोक का अर्थ है समस्त दृश्यमान जगत, विशेषकर चैतन्य से सम्पन्न संपूर्ण दृश्यमान जगत को लोक कहते हैं और भारतीय ज्ञान परंपरा अनेक अदृश्य लोकों के विषय में अत्यन्त प्राचीनकाल से विचार करती रही है। अत: यहाँ पृथ्वी के लोक के लिये पृथ्वीलोक, भूलोक आदि शब्द ही प्रयुक्त होते रहे हैं। जिसे इहलोक भी कहते हैं। जबकि अन्य लोकों को परलोक या सम्बन्धित लोक के नाम से संबोधित करते हैं। जैसे-भूलोक, भुव:लोक, स्व:लोक, देवलोक आदि। 'जन' शब्द का प्रयोग मानव समुदाय के लिये ही किया जाता है। यद्यपि उसका प्रयोग अन्य चेतन सत्ताओं के लिये भी होता है परंतु सामान्यत: भारतवर्ष तथा पृथ्वी के अलग-अलग मानव समुदायों को जन कहा जाता रहा है। साथ ही स्वयं भारत के भीतर अलग-अलग क्षेत्रों को अलग-अलग जनपद कहते हुये वहाँ रहने वालों को उस जनपद के जन कहते हैं और इसके साथ ही कुल समूहों के अलग-अलग समुदायों को भी अलग-अलग जन के रूप में संबोधित किया जाता है, जैसे-पंचजना: आदि।

यूरोप में 'सोसायटी' शब्द सर्वप्रथम किसी कंपनी के लिये ही प्रयुक्त हुआ। 12वीं शताब्दी ईस्वी में फ्रेंच शब्द 'सोसाइते' प्रयोग हुआ और उसे ही अंग्रेजी में सोसायटी कहा गया। यह शब्द लेटिन के दो शब्दों 'सोसाइतास' तथा 'सोसियस' से निगमित हुआ। जो वस्तुत: परस्पर मैत्री संबंध में बँधे हुये समूह के लिये ही कहा जाता था। बाद में 20 वीं शताब्दी ईस्वी से सम्पूर्ण मानव समाज के लिये भी इस शब्द का प्रयोग चल पड़ा। परंतु किसी एक सभा या समिति के अर्थ में भी सोसायटी शब्द का प्रयोग होता रहा है। व्यक्तियों का ऐसा निकाय जो परस्पर निर्भरता और भाषा या सांस्कृतिक संबंध आदि से बँधा हो, उसे सोसायटी कहते हैं।

सोशियालॉजी का विकास :- शिकागो यूनिवर्सिटी में पहली बार समाजशास्त्र यानी सोशियालॉजी विभाग 1892 ईस्वी में खोला गया। 1895 ईस्वी में एक छोटे से प्रयास के रूप में 'अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियालॉजी' शुरू किया गया। 20 वीं शताब्दी में ही उसका विकास हुआ।

सोशियालॉजी की प्रेरणा मुख्यत: एमिले दुर्खायम से ली गई। जो कि एक फ्रेंच दार्शनिक हैं। यद्यपि कोम्ते ने इसके पहले सोशियालॉजी शब्द का प्रयोग कर लिया था। महत्व की बात यह है कि यूरोप तथा अमेरिका में कोई भी विद्वान समाजशास्त्र का विकास भारत में कभी भी हुआ नहीं मानते। क्योंकि यहाँ समस्त समाजशास्त्रीय विवेचना धर्मशास्त्रों में होती रही है जो कि ईसाइयत या इस्लाम की रेलिजस या मजहबी किताबों में कभी नहीं हुई। इसका कारण यह है कि भारतीय धर्मशास्त्र मानवधर्म की बात करते हैं और समस्त मनुष्यों को एक इकाई मानकर फिर उनकी अलग-अलग छोटी इकाइयों, श्रेणियों आदि में पहचान निरूपित करते हैं। जबकि रेलिजस या मजहबी किताबें अपने अनुयायियों और अपने रिलिजन या मजहब को न मानने वाले 'अन्यों'-इन दो परस्पर विरोधी युग्मों में ही सारा चिन्तन करते हैं। इसलिये वहाँ समाजशास्त्र की अभिव्यक्ति असंभव है। क्योंकि समाजशास्त्र के लिये विभिन्न समाजों के अस्तित्व

का और उनमें से प्रत्येक की वास्तविक विशेषता का संज्ञान लेना अनिवार्य है।

1838 ईस्वी में आगस्त कोम्ते ने बाद में समाजशास्त्र शब्द को परिभाषित किया। पहले उन्होंने इसके लिये 'सोशल फिजिक्स' शब्द का प्रयोग किया और बाद में सोशियालॉजी का। कार्ल मार्क्स ने 19वीं शताब्दी ईस्वी में ही 'साइंस ऑफ सोसायटी' की चर्चा की। कोम्ते ने फ्रेंच क्रांति को समाज की बुराइयों से उपजे विक्षोभ से जोड़कर विश्लेषित किया और कहा कि 'पॉजिटिविज्म' के द्वारा इन बुराइयों का समाधान संभव है। कोम्ते के बाद अल्बर्ट स्पेन्सर और एमिले दुर्खाइम ने 19 वीं शताब्दी में ही सोशियालॉजी पर चर्चा की। उनका लक्ष्य था मानव व्यवहार की व्याख्या वैज्ञानिक तर्कबुद्धि से करना। इसके लिये उन्होंने 1895 ईस्वी में 'दि रूल्स ऑफ सोशियालॉजिकल मेथड' नामक एक लेख लिखा। बाद में यूरोप में पॉजिटिविज्म के विरोध में कई विचारक उभरे। हीगल ने पॉजिटिविज्म को यांत्रिक विचार बताया। कार्ल मार्क्स ने भी पॉजिटिविज्म को रिजेक्ट कर दिया। अंत में वैचारिक घात-प्रतिघातों के साथ सोशियालॉजी का विकास होता रहा और 20 वीं शताब्दी ईस्वी में ही पहली बार उसका एक स्वरूप स्पष्ट हुआ है। जो 1892 ईस्वी में शिकागो यूनिवर्सिटी में एक छोटे से विभाग के साथ शुरू हुआ था। दुर्खाइम ने सोशियालॉजी को संस्थाओं की साइंस (साइंस ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स) कहा। उन्होंने 1897 ईस्वी में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों द्वारा बड़े पैमाने पर की जा रही आत्महत्याओं का विश्लेषण करते हुये 'सुसाइडे' नामक एक मोनोग्राफलिखा। हर्बर्ट स्पेन्सर ने 19वीं शताब्दी ईस्वी के अंत में 'सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट' (जो परिवेश में सर्वाधिक फिट हो, वही बच रहता है और बढ़ता है) का एक नारा दिया और इंग्लैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 'कंजरवेटिव पॉलिटिक्स' के पक्ष में विचार व्यक्त किये।

20वीं शताब्दी ईस्वी में इसका भली-भाँति विकास हुआ। विशेषकर जर्मन समाजशास्त्री एवं ईसाई पादरी मैक्समिलियन कार्ल एमिल वेबर ने आधुनिक पश्चिम यूरोपीय समाज के विकास की व्याख्या की जिसे सोशियालॉजी में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। उन्होंने प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के नीतिसंबंधी विचारों को पूँजीवाद की आत्मा बताते हुये 1905 ईस्वी में एक पुस्तक लिखी। उन्होंने ही पहली बार तर्कबुद्धि आधारित राष्ट्रराज्य के पश्चिमी यूरोप में विकास की भरपूर प्रशंसा करते हुये पूँजीवाद (कैपिटलिज्म) को प्रोटेस्टेंट ईसाइयत का फलितार्थ बताया और इसके पक्ष में अनेक लेख लिखे। जिसके विरुद्ध कार्ल मार्क्स सहित अनेक यूरोपीय लेखकों ने कई लेख लिखे और मार्क्स ने 'दस केपिटल' (पूँजी) नामक पुस्तक फ्रेंच भाषा में लिखी। जिसमें कैपिटलिज्म के विरोध में सोशलिज्म की अवधारणा प्रस्तुत करते हुये उस दिशा में विकास को ही ऐतिहासिक नियति बताया। इस प्रकार कैपिटलिज्म एवं सोशलिज्म दोनों ही ईसाई समाजों के भीतर विकसित हो रही प्रवृत्तियों के लिये प्रयुक्त समाजशास्त्रीय अवधारणायें हैं। वस्तुत: विश्व के गैरईसाई समाजों से इन शब्दों का कोई संबंध नहीं है परंतु ईसाइयों के अधीन रहे सभी राष्ट्र राज्यों में इन शब्दों को सार्वभौम सत्य की तरह पढ़ाया और लिखा, बोला तथा पढ़ा जाता है। जो बौद्धिक दैन्य का प्रबल प्रमाण है।

दूसरी ओर, भारतीय धर्मशास्त्रों में समाज की अत्यन्त विस्तृत और गहन विवेचना है। जिसे धर्मशास्त्र या 'स्मृति' शब्द के प्रयोग के कारण पश्चिमी यूरोप के लोग समाजशास्त्र से बाहर की वस्तु मानते हैं। ज्ञान की परम्पराओं के आधार पर समाजों के दार्शनिक आधार की विवेचना करते हुये, साथ ही, आचार-विचार और मान्यताओं के आधार पर एवं पुरुषार्थ रूपों के आधार पर ऐतिहासिक काल में अलग-अलग समाजों के द्वारा किये गये पुरुषार्थ रूपों के गहन विस्तृत विश्लेषण के साथ वास्तविक समाजशास्त्र का स्वरूप हिन्दू धर्मशास्त्रों में और पुराणों में दिखता है। इसी प्रकार राज्य संबंधी विचार भी विश्व में सर्वाधिक प्राचीन काल से केवल भारत में ही हुआ दिखता है। अन्यत्र यदि रहा भी तो कहीं मुस्लिम और कहीं ईसाई समुदायों ने उन्हें नष्ट कर दिया है और विश्व के विषय में अभी तक जो जानकारी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हमें प्राप्त है, उसमें कहीं भी राज्य और राजनीतिशास्त्र संबंधी कोई प्राचीन विवरण नहीं मिलते।

भारतवर्ष में प्राचीनतम समय से राजशास्त्र और दंडनीति के शास्त्र विद्यमान रहे हैं। इन्हें ही अर्थशास्त्र भी कहा गया है। समस्त धर्मशास्त्रकारों ने राजधर्म का सांगोपांग विवेचन किया है क्योंकि राजधर्म एक विशिष्ट महत्व का विषय है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र और बौधायन धर्मसूत्र में राजा के अनेक कार्यों एवं कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुशासन पर्व एवं शांतिपर्व में विस्तार से राजधर्म की विवेचना है। ब्रह्मा जी ने धर्म की रक्षा के लिये एक लाख अध्यायों वाला एक महाग्रंथ लिखा जिसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र चारों की विस्तृत विवेचना थी, ऐसा शांतिपर्व में अध्याय 59 में श्लोक 29 से 62 तक बताया गया है। जिसमें कहा है कि ब्रह्मा जी ने उक्त ग्रंथ में चारों पुरुषार्थों की विवेचना की और दंडजनित त्रिवर्ग की भी विवेचना की। **(क्रमशः)**

ए 141, आकृति हाईलैण्ड
डाकघर-फंदा, भोपाल-462030 (म.प्र.)
मो. 8349350267

व्यास जी की भविष्यवाणी की उपेक्षा कर पुनः जुआ खेलना

– कुसुमलता केडिया

इतिहास, समाज विज्ञान और अर्थशास्त्र की गहरी अध्येता और तर्कपूर्ण विवेचना में सिद्धहस्त विदुषी प्रो. कुसुमलता केडिया के वैचारिक आलेखों का शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशन किया जा रहा है ताकि हमारे पाठकों में बौद्धिक उत्तेजना उत्पन्न हो और वे हमारी ज्ञान परंपरा को तार्किक ढंग से आत्मसात कर मौलिक लेखन की ओर प्रवृत्त हों। प्रस्तुत है इस लेखमाला की अगली किश्त **'व्यास जी की भविष्यवाणी की उपेक्षा कर पुनः जुआ खेलना।'**

पाठकों की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

– सम्पादक

स्वदेशी अर्थचेतना की संवाहक।

जन्म – 2 जुलाई 1954।

जन्म स्थान – पडरौना (उ.प्र.)।

शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी।

रचनाएँ – अनेक पुस्तकें प्रकाशित।

भगवान श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने के बाद जब एक दिन महाराज युधिष्ठिर राजसभा में बैठे थे, उस समय भगवान वेदव्यास सभा में आये। युधिष्ठिर उन्हें देखकर तत्काल खड़े हो गये और आदर सहित विधिवत पूजन किया तथा सुवर्णमय आसन पर बैठाकर निवेदन किया–'पितामह, देवर्षि नारद ने दिव्य, अंतरिक्ष संबंधी और पार्थिव–ये तीन प्रकार के उत्पात बताये हैं। शिशुपाल के वध के उपरांत क्या वे शांत हो गये हैं?' इस पर व्यास जी ने बताया कि नहीं, उत्पातों का महान फल 13 वर्षों तक हुआ करता है। जो उत्पात प्रकट हुआ था, वह समस्त क्षत्रियों का विनाश करने वाला होगा। दुर्योधन के अपराध से और भीमसेन तथा अर्जुन के पराक्रम से यह युद्ध और विनाश सम्पन्न होगा।

इससे युधिष्ठिर अत्यन्त भयभीत हो गये और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं अपने व्यवहार में कोमलता और संयम रखूँगा और विग्रह या वैर–विरोध को सदा दूर रखूँगा। इस प्रतिज्ञा के साथ महाराज युधिष्ठिर भाइयों तथा मंत्रियों के साथ अपने उत्तम नगर में प्रविष्ट हुये। परन्तु दुर्योधन और शकुनि सभाभवन में ही रह गये।

दोनों ने सभाभवन का भ्रमण आरंभ किया और नित्य ही वहाँ घूमने लगे। एक दिन उन्होंने सभाभवन में स्फटिक–मणिमय स्थल पर जल की आशंका से अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया परंतु दूसरी ओर जहाँ वे गये वहाँ स्वच्छ जल से भरी और स्फटिक मणिमय कमलों से सुशोभित बावड़ी थी जिसे स्थल मानकर वह वस्त्र सहित जल में गिर पड़ा। इस पर महाबली भीमसेन हँसने लगे :–

जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम्।।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहाससममर्षणः।।
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय 47, श्लोक 7 एवं 9)

अर्थात् उसे जल में गिरा देख महाबली भीमसेन हँसने लगे। राजाज्ञा से सेवकों ने दुर्योधन को सुन्दर वस्त्र दिये परन्तु सभी हँसते भी रहे। अर्जुन और नकुल सहदेव भी जोर से हँसने लगे। स्वभाव से ही अमर्षशील दुर्योधन इसे सह नहीं सका।

यहाँ स्पष्ट रूप से भीमसेन द्वारा हँसने का उल्लेख है। इस प्रसंग में सम्पूर्ण महाभारत में द्रौपदी का कहीं उल्लेख ही नहीं है। किन लोगों ने किस समय किस प्रयोजन से इसे द्रौपदी के उपहास से जोड़ दिया और फिर स्त्रियों की हँसी को कलह और विवाद तथा विनाश का कारण बता दिया, यह विचार योग्य है। मूल

स्रोत की पूर्ण उपेक्षा कर और उसके विपरीत जाकर इस प्रकार की निराधार बातें फैलाना दुष्ट प्रयोजन से ही हुआ करता है। इस विषय में मूलस्रोत महाभारत ही है जहाँ द्रौपदी की हँसी का कोई उल्लेख नहीं है। साथ ही, यह भी महाभारत के प्रमाण से स्पष्ट है कि हँसी का ऐसा कोई प्रसंग होता या नहीं होता, दुर्योधन में दुष्टता, द्वेष, दुर्भाव और अधर्म तथा पाप की प्रवृत्ति स्वभाव से ही थी और भाइयों का हिस्सा छीनना उसकी वृत्ति का अंग था। युद्ध का कारण वह खुला अन्याय और अनीति है, न कि हँसी विनोद जैसा कोई मामूली प्रसंग। अत: युद्ध के मूल में द्रौपदी को बताने वाले लोग अधर्म और पाप के पक्षधर लोग हैं तथा दुर्योधन और उसकी मंडली के पाप को ढँकने के दुष्ट प्रयोजन से इस प्रकार के मिथ्या प्रवाद फैलाते हैं।

सभाभवन में घूमते हुये दुर्योधन इसके बाद भी कई जगह चकराया और टकराया। कहीं उसने बंद दरवाजे को खुला समझा और प्रवेश करने लगा जिससे सिर टकरा गया और उसे चक्कर आ गया तथा कहीं खुले दरवाजे को बंद समझ कर उस पर दोनों हाथों से धक्का देने के प्रयास में स्वयं मुँह के बल गिर गया।

पाण्डवों की राजलक्ष्मी से संतप्त हो दुर्योधन पिता धृतराष्ट्र के पास गया और उनसे आग्रह किया कि युधिष्ठिर को फिर से द्यूत खेलने बुलायें। जब धृतराष्ट्र ने कुछ झिझक दिखाई तो उनके मन में भी दुर्भाव और द्वेष जगाने के लिये दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर की महिमा का वर्णन आरंभ किया। दुर्योधन ने बताया कि महाराज युधिष्ठिर की महान राजलक्ष्मी को देखकर मुझे अपना भोजन अच्छा नहीं लगता। मेरी कान्ति फीकी पड़ गई है। महाराज युधिष्ठिर के प्रासाद में 88 हजार स्नातक रहते हैं और अध्ययन करते और भरणपोषण प्राप्त करते हैं। उनकी सेवा के लिये दासियाँ भी हैं। इसी प्रकार अनेक राजाओं ने उनको जो बहुमूल्य भेंटे दी थीं, वे भी मेरे चित्त में दाह उत्पन्न करती रहती हैं। अर्जुन उत्तर दिशा में जाकर उस स्थान से अपार धन लेकर आये, जहाँ मनुष्य जा ही नहीं सकते केवल पक्षी ही जाते हैं।

उसने आगे बताया कि पिताजी, महाराज युधिष्ठिर की रसोई में जब 1 लाख ब्राह्मणों को भोजन करा दिया जाता था, तब बड़े जोर से एक शंख बजाया जाता था। ऐसा शंख वहाँ बार-बार बजता था। इससे मुझे रोमांच हो उठता था। इसलिये जुए के द्वारा हम पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी का अपहरण करने को विकल हैं।

महाराज धृतराष्ट्र ने इस पर परामर्श के लिये विदुर को बुलाया। विदुर ने उन्हें बहुत समझाया परंतु धृतराष्ट्र नहीं माने और उन्हें द्यूतक्रीड़ा का निमंत्रण देने आग्रह पूर्वक इन्द्रप्रस्थ भेज दिया।

इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है दुर्योधन द्वारा वर्णित उन उपहारों का वर्णन जो राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर को विभिन्न राजाओं ने अर्पित किये थे। इससे सम्बंधित राजाओं की विशेषताओं का भी परिचय मिलता है। ब्राह्मण नरेश कुणिन्द ने धर्मराज युधिष्ठिर को बड़े प्रेम से एक शंख निवेदन किया जिसमें सोने का हार जड़ा हुआ था तथा 1000 स्वर्णमुद्रायें मढ़ी गयी थीं। वह शंख अपने तेज से प्रकाशित हो रहा था। महाराज युधिष्ठिर ने उसे लेकर अर्जुन को दे दिया। वह शंख अन्नदान करने पर स्वत: बज उठता था। उसके बजने से अधिकांश भूमिपाल तेजहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते थे। मैं भी गिर गया था। केवल पाँचों पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि तथा धृष्टद्युम्न ही खड़े रहे।

काश्मीर नरेश ने मीठे तथा रसीले शुद्ध अंगूरों के गुच्छे भेंट किये थे। यवनों ने वेगशाली पर्वतीय घोड़े और विचित्र दर्शनीय तथा मूल्यवान कम्बल एवं भाँति-भाँति के रत्न अर्पित किये। काम्बोज नरेश ने भेड़ के ऊन तो दिये ही, बिल्लियों की रोमावलियों से तैयार सुवर्णचित्रित बहुत से सुन्दर वस्त्र दिये और मृगचर्म भी दिये। साथ ही तीतर पक्षी की भाँति चितकबरे और तोते के समान नाकवाले 300 घोड़े भी दिये। ऊँटनियाँ और खच्चरियाँ तो दी हीं।

भरूकच्छ (भड़ौंच) निवासी श्रेष्ठ शूद्रों ने रंकुमृग के चर्म तथा अन्य सामग्री दी और वे अपने साथ गांधार देश के बहुत से घोड़े भी लाये थे। प्राग्ज्योतिषपुर के अधिपति राजा भगदत्त ने वायु

के समान वेग वाले अच्छी जाति के शीघ्रगामी घोड़े उपहार में दिये। अनेक देशों के राजा जो नाना दिशाओं से आये थे, वे भीड़ के कारण रोक दिये जाने पर राजद्वार पर ही खड़े थे, यह मैंने अपनी आँखों से देखा है। चीन देश, शक देश, बर्बर देश, हूण देश तथा नीप और अनूप देश के राजा लोग वहाँ भेंट देने के लिये दरवाजे पर खड़े मैंने देखे। बाह्लीक देश के राजा भी प्रचुर भेंट लेकर आये थे।

पारद, पुलिन्द, तंगण और परतंगण नरेश भेंट में देने के लिये चीटियों द्वारा निकाले हुये विशेष प्रकार के सुवर्ण के ढेर के ढेर उठा लाये थे। उत्तर कुरू देश से गंगाजल भेंट किया गया था और पर्वतीय भूपालगण विभिन्न प्रकार की बल-सम्पन्न औषधियाँ लेकर आये थे। लौहित्य पर्वत के दोनों ओर निवास करने वाले तथा हिमालय के परार्ध भाग में निवास करने वाले राजागण भी विपुल भेंट लेकर वहाँ आये थे। किरात, दरद, पारद, बाह्लीक, काश्मीर, कुमार, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, केकय, अम्बष्ठ, पह्लव, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, कुक्कुर, शक, अंग, वंग, पुण्ड्र, गय आदि देशों के राजा भी बहुमूल्य उपहार लेकर आये थे। चोल और पाण्ड्य देशों के नरेश चमकीले मणिरत्न सुवर्ण तथा महीन वस्त्र लेकर उपस्थित हुये थे। सिंहल देश के नरेश मणियुक्त वस्त्रों से सज्जित थे और विपुल भेंट लेकर आये थे। राजाओं के अतिरिक्त अन्य सभी वर्णों के लोग तथा म्लेच्छ और अन्य समूह भी राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर आये थे। महारानी द्रौपदी उस यज्ञ में पहले सबको भोजन कराकर उसके बाद ही भोजन करती थीं और वह सदा यह देखती रहती थीं कि किसने भोजन कर लिया है और किसने अभी तक नहीं किया है।

आगे दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर के अभिषेक का महिमामय वर्णन किया। बाह्लीक नरेश सुवर्ण से सजा रथ लेकर आये और सुदक्षिण ने उस रथ में काम्बोज देश के सफेद घोड़े जोत दिये। महाबली सुनीथ ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उसमें रथ के नीचे लगाने योग्य काष्ठ लगा दिये। चेदिराज ने स्वयं उस रथ में ध्वजा फहरा दी। दक्षिण देश के राजा ने कवच दिया। मगध नरेश ने माला और पगड़ी प्रस्तुत की। महान धनुर्धर वसुदान ने साठ वर्ष की अवस्था का एक गजराज उपस्थित कर दिया। मत्स्यनरेश ने सुवर्णजटित धुरी ला दी। एकलव्य ने पैरों के समीप जूते लाकर रख दिये। अवन्तीनरेश ने अभिषेक के लिये अनेक प्रकार का जल एकत्र कर दिया। चेकितान ने तूणीर और काशिराज ने धनुष अर्पित किया। शल्य ने अच्छी मूठवाली तलवार तथा छींके पर रखा हुआ सुवर्णभूषित कलश प्रदान किया।

आगे दुर्योधन ने बताया कि अर्जुन उत्तरी ध्रुव तक गये थे, जहाँ कोई मनुष्य कभी नहीं जा पाते। अभिषेक के समय जो मंगलकारी शंख बजने लगे, उनके एक साथ बजने से मेरे रोंगटे खड़े हो गये। इस प्रकार युधिष्ठिर ऐसे ऐश्वर्य सम्पन्न सम्राट हुये हैं जैसे कि रन्तिदेव, नाभाग, मान्धाता, पृथु, भगीरथ, ययाति और नहुष भी नहीं हुये। ऐसे महाराज युधिष्ठिर का जीवित रहना हमारे लिये किसी भी प्रकार अच्छा नहीं है। इसलिये आप उन्हें जुये के लिये बुला लो।

अन्ततः दुर्योधन धृतराष्ट्र को उकसाने में सफल हो गया और महाराज धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर को बुलाने के लिये विदुर को आज्ञा दे दी तथा हस्तिनापुर में द्यूत क्रीड़ा के लिये सभाभवन बनाया जाने लगा। शकुनि ने गर्व के साथ कहा कि मैं द्यूत विद्या का ज्ञाता हूँ और पाण्डव इस कला से अनभिज्ञ हैं। जुये के दावों को मेरा धनुष समझो और पासों को मेरा बाण। मैं इन बाणों से पाण्डवों का हृदय छलनी कर डालूँगा। स्पष्ट है कि द्यूत और पाण्डवों से छल का कारण दुर्योधन का महाराज युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी से विद्वेष और दुर्भाव है। न कि कोई मामूली उपहास आदि। जो लोग ऐसे अत्यन्त स्पष्ट और दीर्घकाल तक पोषित तथा अनेक बार अनीति और दुराचरण में प्रतिपादित उन्मादपूर्ण लोभ और अनैतिक आचरण को न देखकर किसी उपहास या हँसी को छल और विनाश का कारण बताते हैं, वे दुर्योधन के ही समान दुष्ट बुद्धि लोग हैं। महाभारत सत्यकथा है और उसमें सच्चा इतिहास है। **(क्रमशः)**

ए 142, आकृति हाईलैण्ड
डाकघर-फंदा, भोपाल 462030 (म.प्र.)
मो. 8989931954

जब हैजा आया था

मूल - लिंड्से हिल्सम
अनु. - विभा खरे

शिक्षा - एम.एच.एस.सी., एम.ए.।
रचनाएँ - पत्र-पत्रिकाओं में लेखन।
विशेष - अनुवाद में विशेष कार्य ।

(जन्म 3 अगस्त 1958 में जन्मी लिंड्से हिल्सम एक अंग्रेजी टेलीविजन पत्रकार और लेखक हैं। वे चैनल 4 न्यूज के लिए अंतर्राष्ट्रीय संपादक हैं, और द संडे टाइम्स, द ऑब्जर्वर, द गार्जियन, न्यू स्टेट्समैन, और ग्रांटा के लिए नियमित आलेख लिखती हैं। हिल्सम को 2004 में एसेक्स विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया था और उन्होंने रॉयल टेलीविज़न सोसाइटी जर्नलिस्ट ऑफ़ द ईयर, जेम्स कैमरन अवार्ड, वन वर्ल्ड ब्रॉडकास्टिंग ट्रस्ट अवार्ड, एमनेस्टी, वॉयस ऑफ़ द लिसनर एंड व्यूअर और चार्ल्स व्हीलर सहित कई पुरस्कार जीते हैं। 2017 में, उन्हें रॉयल ज्योग्राफिकल सोसाइटी के संरक्षक पदक से सम्मानित किया गया था उन्होंने इन एक्स्ट्रीमिस के लिए 2018 जेम्स टैट ब्लैक मेमोरियल पुरस्कार जीता।)

'यह समझने में कोई कठिनाई नहीं थी, कि यह बीमारी एक तरह का दैवीय प्रकोप था। एक सामूहिक रूप से किये गए अपराध का सामूहिक दंड।'

बसंत के मौसम में, कोरोना वाइरस जनित लॉकडाउन के लगभग दूसरे हफ्ते में, एक दिन मुझे हैजे के दिनों की याद आ गई। विशेषत: सन 1994 की महामारी की भयावहता, जिसमें, तत्समय के जायरे के पूर्व में स्थित, गोमा के दसियों हजारों रवांडनियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। शुरुआत में अपने घर तक सीमित रहने में, मेरे लिए कोरोना महामारी का अर्थ था, बस अनुपस्थित होना। बाहरी लोगों से कोई संपर्क नहीं, कोई यात्रा नहीं, बीमार और मर रहे लोगों तक कोई पहुँच नहीं। पर इसके विपरीत गोमा में आप बीमारी से बच ही नहीं सकते थे। हैजे से ग्रसित मरीज रास्तों में या ज्वालामुखीय नुकीले काले पत्थरों की चट्टान, जिसने शहर को चारों ओर से घेरा हुआ था,

लिंड्से हिल्सम
जन्म - 3 अगस्त 1958।
शिक्षा - स्नातक।
सम्मान - मानद डॉक्टरेट के साथ अनेक सम्मान।
विशेष - पत्रकारिता में विशेष कार्य।

के मैदानों में गिर रहे थे। वे गिर रहे थे और मर रहे थे। उनके शव बिना दफनाए वैसे ही पड़े हुए थे, कम्बलों से ढके हुए या जल्दबाजी से पन्नियों में पैक किये हुए। वे इस तरह से बिखरे पड़े थे कि चलते हुए जरा सा ध्यान हटे तो व्यक्ति इन शवों से टकराकर उन्हीं पर गिर पड़े। मुझे स्मरण है, एक स्वयंसेवी संस्था द्वारा लगाए गए एक तम्बू में जाकर दर्जनों अर्ध-मूर्छित जमीन पर पड़े लोगों को देखना, उनकी बेजान आँखें, कुछ में से गाढ़ा सफेद तरल चिपचिपा द्रव्य बहता हुआ, उनका सिर अपनी गोद में लिए बैठे उनके परिजन तथा उन सबके बीच नितांत अकेली खड़ी रोती हुई डॉक्टर।

'वे बस मर रहे हैं, और मरते जा रहे हैं।' उसने सुबकते हुए कहा था, 'मैं क्या कर सकती हूँ?'

हैजा के लक्षण बड़ी आसानी से पहचान में आ जाते हैं। सफेद पानी की तरह मल त्याग और उल्टी, जिसके कारण इतनी शीघ्रता से शरीर के जल का क्षय होता है कि रोगी की आँखें उसके कोटरों में धँस जाती हैं और जबड़ा मुँह फाड़कर बाहर निकल आता है। यदि इलाज न मिले तो हैजे का रोगी मात्र बारह घंटों में भगवान को प्यारा हो सकता है। हालाँकि, रोगी का मुँह के जरिये या फिर नस में इंजेक्शन के जरिये, पुनर्जलीकरण कर, इस रोग पर आसानी से काबू पाया जा सकता है। परन्तु डॉक्टरों के पास न तो मरीजों को चढ़ाने के लिए ड्रिप शेष बचे थे, न ही मुँह के माध्यम से दिए जाने वाले पुनर्जलीकरण लवण। स्वच्छ जल की सामान्य आपूर्ति तक का न होना इससे अधिक गंभीर था। मुझे भी रोना आ गया। हम दोनों, वहाँ खड़े-खड़े, लोगों को मरते हुए देख रहे थे।

हालाँकि, अपने आँसुओं के माध्यम से, मैं एक असहज करने वाली वास्तविकता से वाकिफ़ थी। जो लोग मर रहे थे, थोड़े ही समय पूर्व वे खुद हत्यायें कर रहे थे। वे हुतू लोग थे, रवांडा के बहुसंख्यक संजातीय समूह के लोग। उसी वर्ष अप्रैल के महीने में रवांडा के राष्ट्रपति, जो हुतू जाति के थे, जिस विमान में यात्रा कर रहे थे, उसको मार गिराए जाने के पश्चात् उनके नेता ने उन्हें

पड़ोसी अल्पसंख्यक तुत्सी संजातीय लोगों की हत्या किये जाने का आदेश दिया था। कानूनविद एक सामूहिक अपराध की अवधारणा को अंगीकार नहीं करते किन्तु हुतू जनसंख्या के एक बड़े भाग ने, जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित थे, इस नरसंहार में अपनी कुछ न कुछ भूमिका अदा की थी, भले ही वह केवल पीड़ितों को सुरक्षा न दिए जाने या इन हत्याओं की ओर से अपनी आँख मूँद लेने की ही क्यों न रही हो। पूरे रवांडा के सभी शहरों तथा ग्रामों को 'हुतू शक्ति' के आदर्श–तुत्सी लोगों को खत्म करने का कूट वाक्य–ने गिरफ्त में ले लिया था और जो लोग कभी किसी अपराध में सम्मिलित नहीं रहे, वे भी हत्याओं के लिए लामबंद किये जा रहे थे। मैंने खुद भी थोड़ा नरसंहार देखा क्योंकि जब यह प्रारम्भ हुआ मैं रवांडा की राजधानी किगाली में रहा करती थी। हैजे द्वारा गोमा को अपनी गिरफ्त में लिए जाने पर, उससे कुछ सप्ताह पूर्व देखे गए उन हिंसक दृश्यों ने मुझ पर जैसे हमला कर दिया। अस्पताल पहुँचे कुल्हाड़ियों से कटे या कील लगे डंडों से पीटे गए ट्रक भर लोग, बंद रास्तों पर, हाथों में बियर की टूटी बोतलों के हथियारों से लैस, शराब में धुत्त, मेरी ओर हाथ हिलाते लोग, क्लीनिक के बाहर चार गले कटी औरतों के घावों पर भिनभिनाती मक्खियाँ।

हुतू लोग गोमा में सामान्यत: शरणार्थी कहे जाते थे। किन्तु वे वास्तव में भगोड़े थे?

निर्वासित तुत्सी नागरिकों की एक सैन्य टुकड़ी रवांडन पेट्रिओटिक फ्रंट (आर.पी.एफ.), रवांडा रिपब्लिक में पड़ोसी देशों से घुसे तथा उन्होंने उस हुतू सेना एवं मृत्यु दस्ते को पराजित कर दिया, जिन्होंने इस नरसंहार का नेतृत्व किया था। अपनी हार और उसके पश्चात् बदले में हत्या की कार्यवाही की सम्भावना से भयभीत हुतू नेताओं ने अपने लोगों को उन जगहों को छोड़ देने के आदेश दिए, जहाँ उन्होंने बड़ी संख्या में सामूहिक हत्याओं की कार्यवाही की थी, और उन्हें सीमा पार जायरे तक सुरक्षित पहुँचा दिया था। जो लोग अभी इस हैजे में मर रहे थे, उनमें से कितने ही ऐसे योद्धा थे जिन्होंने अब अपनी वर्दी उतार दी थी? या कुख्यात संगठन इंट्राहाम्वे के सदस्य? या बौर्गमेस्ट्रेस, ग्राम प्रमुख, जिन्होंने अपने अधिकार प्रक्षेत्र में सुनियोजित ढंग से नरसंहार को अंजाम दिया? अथवा क्या वे, बस वे आज्ञाकारी लोग थे जिन्होंने कृषि यंत्रों का हथियार की तरह प्रयोग करने की आज्ञा का पालन किया? अब जबकि हैजे ने प्रहार किया था, वे अपराधी और पीड़ित दोनों के बीच की सीमा रेखा में थे और संदिग्ध पहचान की श्रेणी में रखे जा सकते थे।

यह समझने में कोई कठिनाई नहीं थी, कि यह बीमारी एक तरह का दैवीय प्रकोप था। एक सामूहिक रूप से किये गए अपराध का सामूहिक दंड। जब यह पुरातनपंथी सा विचार मेरे मन में आया तो मैंने इसे खारिज़ करने का भरसक प्रयत्न किया। अंतत: ये वैसा नहीं था, जैसे मैंने दुनिया को देखा है। किन्तु वह गया नहीं।

उन दिनों बहुत सारे बड़े आँकड़े थे। कहा जाता था कि कोई '10 लाख' लोग इस नरसंहार का शिकार हुए हैं। इसी प्रकार कहा जाता था कि 14 जुलाई को लगभग 10 लाख लोग पेटिट नाके को पार करने के लिए लाइन में खड़े थे, जो एक और गिस्नी के रवांडा शहर और दूसरी ओर फायरे के गोमा शहर के बीच पड़ता है। मैं दो दिन बाद जब वहाँ पहुँची थी तब भी कई सौ हजारों की संख्या में लोगों का रेला उसे पार कर रहा था। इनमें से कुछ ही औरतें किटेंग पहने हुए थीं, ये एक रंग–बिरंगा कपड़े का परिधान होता है जिसे रवांडा की महिलायें बदन पर लपेट कर पहनतीं हैं, किन्तु अधिकतर नंगे पैर थीं और लोई लपेटे हुए थीं। सामान्यत: आप इतनी भीड़ होने पर काफी हल्ला–गुल्ला होने की उम्मीद करेंगे पर ये लोग, अपने चुकुडुओं, एक लकड़ी के पहियों वाली निचली लम्बी सायकिल, पर कुछ कपड़े और एल्युमीनियम के खाना पकाने के बर्तन लादे हुए, बड़ी शांति से चल रहे थे। शुरू–शुरू में फायरे के सीमा सुरक्षा सैनिकों ने हुतू लोगों के हथियार जब्त करने का प्रयास किया। कुल्हाड़ियों और कुदालियों के पहाड़, तथा ए के 47 और अन्य हथियारों के छोटे टीले से सीमा चौकी के पास बन गए थे। पर शीघ्र ही उन्होंने हथियार जब्त करने से अपना ध्यान हटा कर उसे भीड़ के आवेग को धीमा करने और रोकने पर केंद्रित कर लिया।

गोमा तब एक छोटा सा शहर था। किवू झील के उत्तरी किनारे पर, एक ज्वालामुखीय पर्वत श्रृंखला, जिसमें अपने पहाड़ी गुरिल्लों के लिए प्रसिद्ध, विरुंगा राष्ट्रीय उद्यान, सम्मिलित है, कि छाया में, इसे बैल्जियन उपनिवेशवादियों द्वारा बसाया गया था। इसकी भूमि सदियों से ज्वालामुखी से निकल रहे लावा के जमने से बने काले नुकीले पत्थरों से आच्छादित है। नयिरागोंगो, सर्वाधिक जागृत ज्वालामुखी की लावा झील, विश्व की सबसे बड़ी लावा झीलों में सम्मिलित है। आकाश से देखने पर यह, गाढ़े, खौलते और उबलते हुए लावे की समुचित वलयाकार संरचना, जिसके किनारों से भाप निकल रही हो, दिखाई पड़ती है। रवांडा की पौराणिक कहानियों के अनुसार नयिरागोंगो दैत्यों की आत्माओं को अपने क्रुद्ध कटोरे में भस्म कर देती है। शरणार्थियों के आने के एक दिन पहले ज्वालमुखी से गर्म भाप उत्सर्जित हुई थी, वातावरण में फुँफकार कर भाप उत्सर्जित कर वह लावा झील मानो अपनी भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों की याद दिला रही थी। अगर आप सीमा पार करने के पश्चात्

बायीं ओर मुड़ जायेंगे, तो आप शीघ्र ही शहर के आलीशान क्षेत्र में होंगे जहाँ झील की ओर मुँह किये बँगलों में यूरोपियन कॉफी कृषक, व्यवसायी और जैरियन शासकीय सेवा के अधिकारीगण निवास करते हैं। उनका प्राचीन वैभव तो कभी का समाप्त हो गया था–मामूली औपनिवेशक शैली के निम्न उठाव धीरे–धीरे जीर्ण होकर ढह रहे थे–किन्तु नियमित विद्युत व्यवधानों और पानी की कमी के बावजूद वे नागरिक अपने पड़ोसियों से कुछ स्तर की चाहत तो रखते ही थे। शरणार्थी, जिन्होंने वहाँ कैंप लगा कर, उनका झील का दर्शन अवरुद्ध करने का प्रयास किया, तेजी से वहाँ से भगा दिए गए। ज्यादातर रवांडियों ने, एकमात्र मुख्य सड़क को, उस पर बैठकर सिगरेट और चुइंगम बेचने वाले हॉकरों के पीछे, तटीय ऊष्मकटिबंधीय जलवायु के कारण मटमैली हो गई दीवारों को सफेदी से पोत कर, अपने ऊबड़ खाबड़ दुकानों के दरवाजों से परिश्रम करके सीधा किया हुआ था। उन्होंने इस भीड़ को ट्रैफिक चौराहे की ओर सरका दिया जहाँ से वे उत्तर में हवाई अड्डे की ओर या फिर जंगलों में जा सकते थे। इनमें से कोई भी विकल्प आकर्षक नहीं था। चट्टानें इतनी कठोर थीं कि उनमें कील या लकड़ी गाढ़ना बहुत मुश्किल था। जिस पर आप कड़ी धूप से छाया करने के लिए कोई कपड़ा टाँग कर बाँध सकें। उन प्रारम्भिक दिनों में बहुत से शरणार्थी सीमा पर अथवा सड़कों के किनारे ही सो जाया करते थे।

मैंने एक पतली स्कूल की कॉपी में, जो किगाली में खरीदी थी, नोट्स बनाये। मैंने उसे बक्से से बाहर निकाला जहाँ वह एक चौथाई शताब्दी से बिना पढ़ी दबी पड़ी थी। उसके बदरंगे नीले कवर पर अभी तक कीचड़ लिपटा हुआ था। मेरी टिप्पणियाँ करीब–करीब पूरे वाक्यों से शुरू होती थीं। 'एकदम सीमा पर एक आदमी अपने सामान के ढेर के बीच में मरा पड़ा था। कुछ ही दूरी पर एक और, एक नग्न शरीर और एक मिलिट्री पोशाक पहने व्यक्ति के बगल में पड़ा था, ऊनी टोपी पहने हुए एक बूढ़ा भिखारी जैसा व्यक्ति उसके सामान में एक लावारिस पड़े कोट की जेब में कुछ तलाश रहा था।' उसके बाद अंग्रेजी और फ्रेंच भाषाओं में कुछ अवलोकन और साक्षात्कार, याददाश्त हेतु, संक्षिप्त में लिखे।

कुल्हाड़ियों और कुदालियों के ढेर

डकैत

गन्दा सा किटेंग पहने हुए एक बच्ची, उसके गाल पर बहते आँसू।

मुझे नहीं लगता कि अब मुझे मेरे बच्चे वापस मिलेंगे।

ट्रैफिक चक्र पर हथियारों के तीन ढेर शवों के दूसरी ओर–बैठे हुए पाँच अकेले और असहाय बच्चे। एकदम चुप। छोटी बच्ची, बंद आँखें, पतला सा बैंगनी झबला। लाल कपड़ों का ढेर–एक और बच्चा।

सैकड़ों याड्स हथियार।

जी 3 के पहाड़, बेल्जियन, अमेरिकी और चीनी। मशीन गन। बड़ी स्वचालित गन। मशीन स्थापित, जिनके नीचे दो सोते हुए बकरी के बच्चे। मेरी स्मृतियाँ भी टुकड़ों में थी। मुझे कोरोना वायरस जनित लॉकडाउन की अवधि में इन्हें जोड़ने का काम करना था। महामारी विज्ञान का एक कुंजीगत अन्वेषण होता है शून्य रोगी की खोज। अर्थात् वह पहला व्यक्ति जो रोग के संपर्क में आया। सन 1854 में लन्दन में हुए हैजा प्रकोप के समय यह व्यक्ति, साराह और थॉमस लुइस की छोटी सी बच्ची थी। लन्दन महामारी इसलिए प्रसिद्ध हो गयी, क्योंकि इसने फिजीशियन जॉन स्नो को बीमारी के विभिन्न पड़ावों को चिह्नित करने के लिए प्रेरित किया। उस समय तक यह माना जाता था कि हैजा 'मिआस्मा' द्वारा फैलता है, जो कि एक वायु जनित बदबूदार पदार्थ होता है। पर स्नो के मानचित्र के अनुसार इसका केंद्र कुँओं में और चौड़ी सड़क के पानी के पंप में था, उस चूते हुए नाबदान के एकदम बगल में जहाँ कई दिनों पहले लुईस दम्पति ने अपनी बीमार बच्ची के मल सिक्त जाँघिये फैंके थे। स्नो ने इस सम्बन्ध को देखा और वह आश्वस्त हो गया कि हैजा जलजनित रोग था। एक निष्कर्ष, जिसे इटली के वैज्ञानिक फिलिप्पो पेकिनी ने समर्थन दिया, जिसने उसी वर्ष हैजा के एक मरीज, जिसकी मृत्यु फ्लोरेंस में हो गयी थी, की आँत का परीक्षण सूक्ष्मदर्शी द्वारा करने पर, एक अर्धविराम चिन्ह के आकार का सूक्ष्म जीव (बैक्टीरिया) देखा था। हैजा के स्रोत तथा उसके फैलाव के तरीके की इस समझ को स्वीकार करने में तीन दशक लगे तब तक स्नो तथा पेकिनी दोनों की मृत्यु हो चुकी थी।

140 वर्ष बाद, गोमा महामारी में, शून्य रोगी नहीं मिला, और अगर कभी मिला भी हो तो अब पता नहीं। आँकड़े बताते हैं मेडिसिन्स संस फ्रंटियर्स को पहला संदिग्ध रोगी 18 जुलाई को मिला। रवांडियों के सीमा पार कर आने के चार दिनों बाद। 20 को इसकी पुष्टि हुई। रवांडियों को इस बारे में बस यह जानकारी थी कि उनके कुछ लोग शहर में बीमार होना शुरू हुए और कुछ शहर के बाहर उन काली चट्टानों के मैदानों में जहाँ अधिकारियों ने उन्हें शिविर लगाने को कहा था। मैदान इतना कठोर था कि उसमें कुँए नहीं खोदे जा सकते थे, टैंकरों द्वारा पर्याप्त पानी की आपूर्ति नहीं की जा सकती थी। सहायता एजेंसियों ने 50000

रवांडियों के लिए तैयारी की थी, न कि लाख से ऊपर के लिए। एक ही उपाय था, औरतें किवू झील से पानी भरें। मुगुन्गा और मुगीनी शिविर झील के तट से महज 5 कि.मी. की दूरी पर थे किन्तु किबुम्बा और कटाले 25 कि.मी. से अधिक दूरी पर थे। फिर भी औरतें प्लास्टिक के तीन मटके, एक अपने सिर पर और एक-एक दोनों हाथ में लेकर, पैदल जाकर दूर से पानी लाती थीं। हाँ ये जरूर है कि, वे इस छोटे से, अर्धविराम के आकार के सूक्ष्म जीव 'विब्रियो कोलोरिअ' से पूर्णतया अपरिचित थीं, जो उथले पानी के उन गड्ढों में गुप्त रूप से छिपा हुआ था, और जो बीमारी वो अपने साथ लिए था, वह उस क्षेत्र की महामारी थी। पर यदि वे जानती भी होतीं तो उनके पास इसके सिवा और रास्ता भी क्या था?

गरीब देशों में जब संघर्षपूर्ण विवाद उठते हैं, तो वे अपने साथ भूख, बीमारियाँ और कष्ट ले कर आते हैं। अनगिनत लोग मर जाते हैं जिनका पता भी नहीं चलता, क्योंकि अस्पताल में व्यवस्थाएँ दम तोड़ देती हैं, क्योंकि टीकाकरण कार्यक्रम ठप्प हो जाते हैं, और कुपोषण उन्हें क्षय रोग या मलेरिया के लिए अति संवेदनशील कर देता है। बम तथा गोलियों से होने वाली मौतें अधिक खींचतीं हैं, क्योंकि वे दिखाई देती हैं। पर इस समय स्थिति उलट थी। बाहरी लोगों को, बड़े तौर पर, नरसंहार दिखाई नहीं दिया-दसियों लाख हत्यायें रवांडा के गाँवों के चारों ओर स्थित, हरी पहाड़ियों की शांत तहों में दफन हो गयीं। पर गोमा में हुतू लोगों की हत्या करने वाला हैजा वास्तव में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। बीमारी हजारों दर्शकों के सामने पूरी तरह से दृष्टिगोचर थी-लाखों दर्शकों के सामने, अगर दूरदर्शन के दर्शकों को भी गिन लिया जाये तो।

ऐसा इसलिए क्योंकि ज्यादातर पत्रकार रवांडा के नरसंहार के काफी बाद जागे थे। साऊथ अफ्रीका के पहले प्रजातंत्रीय चुनावों से विचलित, और इस अनिश्चितता से ग्रसित होकर कि इस सुदूर छोटे से देश में जिसके बारे में वे बहुत कम जानते हैं, वास्तव में क्या घट रहा है, संपादक झिझक रहे थे। इसके अतिरिक्त ये खतरनाक भी था। जुलाई के मध्य तक आते-आते, तीन महीने से अधिक समय बाद, अपनी गलती अनुभव करके पर सबसे खराब हत्याओं की खबरों को खो चुकने देने के बाद, सम्पादकों ने पत्रकारों को साऊथ अफ्रीका के स्थान पर गोमा भेजा। एक टेलीविजन कार्यकारी, जिसका मैंने बाद में साक्षात्कार किया, ने बताया कि उसने हैजा महामारी को एक 'अत्यंत सीधी कहानी-अक्सर होने वाली मानवीय त्रासदी' के रूप में देखा। किन्तु ये एकदम सीधी सपाट कहानी बिल्कुल भी नहीं थी। उसने, गरीब, दलित, श्याम लोगों की भीड़ को बीमारी से मरते, और श्वेत लोगों को उन्हें बचाते देखा-वास्तविकता का वो संस्करण जो उसकी कल्पनाओं से झंकृत हो रहा था। दूसरों ने इसे नरसंहारियों के एक गिरोह को, भले किन्तु अज्ञानी लोगों के समूह, द्वारा बचाये जाने के रूप में देखा। कम-से-कम शुरुआत में तो 'सीधी-साधी कहानी' वाला संस्करण ही प्रचलित रहा। तस्वीरें प्रसारित हुईं, निधि उगाही गयी और ज्यादा से ज्यादा स्वयंसेवकों और पत्रकारों के दल गोमा विमानतल पर उतरने लगे, जहाँ का रनवे इतने एयरक्राफ्टों के दवाब से चटकने लगा। तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति बिल क्लिंटन, जिन्होंने नरसंहार पर हस्तक्षेप करने से साफ इंकार कर दिया था, ने गोमा के इर्द-गिर्द फैली हैजा महामारी को 'पीढ़ी की सबसे भयानक मानवीय त्रासदी' से सम्बोधित किया, और आर्मी के नेतृत्व में एक बड़ा राहत अभियान चलाये जाने के आदेश दिए। नरसंहार में मारे गए रवांडियों को बचाने में विफल रहना, बीमारी से मर रहे लोगों को बचाने की प्रेरणा बन गया था। जबकि वास्तविकता यह थी कि ये गलत रवांडी लोग थे, ये भगोड़े लोग थे न कि नरसंहार के पीड़ित, वास्तविकता इस सब हड़बड़ी में कहीं खो गयी थी। रोज सवेरे सहायता एजेन्सी का संवाददाता आँकड़ों से परिपूर्ण एक संक्षिप्त वार्ता सत्र करता था। अपने रवांडी बाल शाला की नोटबुक में मैंने प्रकरणों के अनुमानित और पुष्ट आँकड़े दर्ज किये थे। मानो आवश्यक सामग्री आपूर्ति और लीटरों पेयजल का परिवहन और उन वक्तव्यों को कोट किया था जिसे वे पूरा नहीं कर सकते थे।

'हमें प्रत्येक मिनट में एक सलाइन लेकर आने वाला विमान चाहिए। वे शिविर पृथ्वी पर नर्क की तरह हैं- ज्वालामुखीय चट्टानें। जूते पहन कर चलने पर भी पैरों में चुभती हैं। उत्तर के और आगे ब्रूरूबोनिक प्लेग फैल रहा है। पानी के लिए सैकड़ों मीटर लम्बी लाइनें लग गयी हैं। हमें हार और व्यग्रता का अधिक से अधिकतम अनुभव हो रहा है। प्रेस विज्ञप्ति के उपरांत मैं अन्य पत्रकारों के साथ बाहर एक शिविर में ले जाई गयी। जहाँ लोग घास की जर्जर झोपड़ियों और प्लास्टिक की चमकीले नीले रंग की चादरों, जिन पर विख्यात संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी संस्था यू. एन. एच. सी. आर. अंकित था, के शेड बना रहे थे। हमने शवों के बीच से रास्ता बनाना सीख लिया था। सड़े हुए शवों और अपशिष्ट की गंध कभी-कभी बलवती हो जाती थी। जब तक सहायक संस्थाएँ चट्टानों को तोड़ कर उन्हें शौचालय के रूप में गढ़ने हेतु खोदने वाली मशीने लाईं तब तक शरणार्थी जंगलों में और शिविर के मुहानों पर ही निवृत हो रहे थे। मक्खियाँ अपशिष्ट से उड़ कर बच्चों के होंठों और नथुनों पर

बैठ जाती थीं, जब वे मिट्टी में खेलते होते थे। बहुत गंदगी थी, बीमारी को निष्ठुरता पूर्वक लोगों में फैलाने के लिए उपयुक्त।

ऐसे डरावने आतंक के बीच, लोग उस खुशहाल जीवन की बात करते थे, जो वे पीछे छोड़ कर आये थे, ग्रामीण सुखद जीवन। वे मानते थे कि उनके इस स्वार्गिक अस्तित्व में व्यवधान, नरसंहार के कारण नहीं, बल्कि आर. पी. एफ.–इन्कोतयानी या क्रुद्ध लड़ाकों–के आने से हुआ, जिन्हें वे अपने दुर्भाग्य का सबसे बड़ा कारण मानते थे। ऐसी भयानक स्थिति में होने के बावजूद उन्हें यह स्पष्ट था कि, जब तक उनके नेता उन्हें ऐसा करने के लिए न कहें, किसी भी परिवार को, अपनी मर्जी से, वापस रवांडा लौट कर नहीं जाना है।

'मैं कह सकता हूँ कि एक किसान के रूप में अन्य किसानों की तुलना में मैं धनवान था क्योंकि मेरे परिवार के पास सब कुछ था–हम कॉफी और आलू उगाते थे। हमारे पास गायें थीं। पर अब हमारे पास कुछ भी नहीं है। मेरे यहाँ हर मौसम में लगभग 400 किलो कॉफी होती थी। मेरे लिए ये उन वस्तुओं को खरीदने के लिए काफी था जिन्हें मैं नहीं उगाता। जैसे कपड़े, साबुन, नमक और औजार। मेरे पास दो रेडियो थे पर वे आर. पी. एफ. सैनिकों ने छुड़ा लिए। मेरे माता पिता कहते थे कि हम इस युद्ध में इन्कोतायनियों द्वारा मार दिए जायेंगे। जब वे इन्कोतायनियों की बात करते थे, उनका मतलब होता था हत्यारे।

एक दिन मैं मुनिगी गयी। जहाँ पर मैंने लोगों का साक्षात्कार करने का प्रयास किया जो अपने परिजनों के शवों को घेर कर बैठे थे जो कि चट्टानों पर बिना उठाये पड़े थे। एक चिकित्सकीय तम्बू के पीछे जहाँ सलाइन के बैग एक धुलाई की लाइन जैसी संरचना से लटके हुए थे, मुझे थेरेसे मुकाउकुरंगा मिलीं जो अपने पति नितीयंगा के लिए ड्रिप पकड़े हुए थीं। उसने यह मानने से इंकार कर दिया था कि उसे हैजा के लक्षण थे। 'हम अपना घर छोड़ कर आये हैं, इसीलिए थकान के कारण ये बहुत बीमार पड़ गए थे।' उसने बताया, 'फिर इन्हें दस्त लगने लगे।' वैसे तो दस्त भी है? की तरह घातक हो सकते हैं, पर उसके लिए यह कम बेचैनी की बात थी। थेरेसे एक दोहरे बदन की महिला थी, एक काला और पीले रंग का किटेंग पहने हुए, अभी भी एक मध्यमवर्गीय शहरी पेशेवर लग रही थी, जो कि वो दरअसल में थी भी। उन ग्रामीण खेतिहरों से एकदम भिन्न जो वहाँ बहुतायत में थे। हमने फ्रेंच में कुछ देर उसकी किगाली के दिनों की बात की, वो और उसके पति दोनों वहाँ शासकीय सेवक थे। 'हमने बहुत मेहनत की', उसने बताया, 'हम वहाँ कड़ी मेहनत करते थे। हमारा एक घर था, गाड़ी थी।' थेरेसे ने बताया की युद्ध से पहले जीवन बहुत अच्छा था। पर उसने नरसंहार का उल्लेख करना उचित नहीं समझा। उसके हिसाब से वो तो कभी हुआ ही नहीं–ये तो तुत्सी सेना ने ही हुतू लोगों पर आक्रमण किया था। मैं जानती थी ये संभावित था, यहाँ तक कि शायद निश्चित रूप से यही होगा भी, कि वो और उसके पति इन सब में किसी न किसी रूप में इसमें शामिल रहे होंगे, क्योंकि वे शासकीय सेवा में थे, और शासन ने ही हत्याओं का और अब देश छोड़ने का आदेश दिया था। ये समझना बहुत कठिन था कि मैं अपने इस विचार के साथ क्या करूँ कि जब हम उसके पति को निर्दय धूप में धीरे–धीरे मरते हुए देख रहे थे। तो मैंने अपने इस विचार को उस श्रेणी की वस्तुओं के साथ रख दिया जिन पर मनन करना बहुत कठिन होता है। अगले दिन जब मैं फिर वहाँ गयी तो वो तब भी वहीं थी। उसका पति और कमजोर हो गया था। लिंड्से हिल्सम का यह झकझोर देने वाला लेख जिसका एक अंश यहाँ प्रस्तुत किया गया है, आँख खोल देने वाली हकीकत बयान करता है। ये किसी भी प्राकृतिक आपदा को देखने का एक अलग किन्तु सार्थक नजरिया प्रस्तुत करता है, जो इन आपदाओं से बचने का एक मानवीय हल सुझाता है।

हर युग और हर समाज में कर्म और कर्मफल का सिद्धांत किसी न किसी रूप में प्रचलित है। यह सिद्धांत अपने आपको अक्सर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर प्रतिपादित कर देता है कि हम इस कठोर किन्तु अवश्यम्भावी सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाते हैं। यदि इसका सकारात्मक दृष्टिकोण देखें तो यह हमें समाज और मानवीयता के लिए अच्छे कार्य करने को प्रेरित करता है। यह हमें स्मरण दिलाता है, कि सामूहिक रूप से किये गए अनुचित कार्य, जिनके लिए किसी भी एक मनुष्य को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, का सामूहिक दंड महामारियों, भूकम्पों या अन्य प्राकृतिक घटनाओं के माध्यम से मिलना संभव है। बेहतर यही है कि हम मनुष्यता का विधिवत सम्मान करते हुए, फिर चाहे वो मनुष्य किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, या नागरिकता के क्यों न हों, जितना संभव हो मानवता के लिए कार्य करें। **(प्रस्तुत अनुवाद उनके ग्राण्टा यूनाइटेड किंगडम में एक साहित्यिक पत्रिका में छपे लेख का अंश है।)**

एच.आई.जी., 72,
हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, बागमुगलिया,
एक्सटेंशन, भोपाल-462043 (म.प्र.)
मो.- 9425079134

शब्दों का शिल्पी : मोहन राकेश

- सुदर्शन वशिष्ठ

जन्म - 24 सितंबर 1949।
जन्म स्थान - पालमपुर (हिमाचल)
रचनाएँ - बाइस पुस्तकें प्रकाशित, कतिपय सम्पादित।
सम्मान - हिमाचल अकादमी के 'शिखर सम्मान' सहित अनेक सम्मान।

यह जरूरी नहीं कि लेखक अपने ही अंचल पर, अपने ही दायरे के भीतर लिखे। पहाड़ का लेखक ही पहाड़ पर लिखे, यह भी जरूरी नहीं। बहुत बार जब बाहरी व्यक्ति ने यहाँ आ कर पहाड़ पर लिखा, वह बहुत ही मार्मिक बन पड़ा। परिवेश या लोगों के प्रति मोह न होने पर वह कई मामलों में बहुत धारदार हो जाता है। बाहरी व्यक्ति की दृष्टि बहुत भेदने वाली और कुरेदने वाली होती है। वह जटिल व्यवस्थाओं को उधेड़ कर रख देता है। अत: पहाड़ पर लिखने वाले को यहाँ का 'बोनाफाईड' होना जरूरी नहीं। पहाड़ के प्रति जवाबदेही उन लेखकों की भी है जो कुछ ही समय यहाँ रहे। हिमाचली परिवेश पर शिद्दत से लिखने वाले हिमाचल के बाहर के कुछ ऐसे रचनाकर्मी हैं जो न यहाँ के मूल वासी थे और न ही इस भूमि से उनका दूर-दूर का कोई नाता रहा। उनके पूर्वजों की कोई पैतृक जमीन यहाँ नहीं है। इनकी इस भूमि के प्रति कोई जवाबदेही भी नहीं थी। फिर भी उन्होंने लिखा।

ऐसे रचनाकर्मियों में उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन रोकश और निर्मल वर्मा प्रमुख हैं। इनकी कई कहानियाँ और उपन्यास सीधे यहाँ की पृष्ठभूमि पर हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार उपेन्द्रनाथ अश्क हिमाचल के शिमला, धर्मशाला और डलहौजी में रहे और रचनाकर्म किया। डलहौजी में वे उपन्यास लिखने आए किन्तु कविताएँ लिखते गए। 'बकरोटे की उस ढलान पर' कविता डलहौजी में लिखी हुई है। इसी प्रकार शिमला के सीपी मेले में भाग ले कर उन्होंने 'एक रात का नरक' उपन्यास लिखा। जब पहले धर्मशाला आए थे तो कचहरी के नीचे एक सराय में रहे। उस सराय का पुराना सा भवन अब भी विद्यमान है। दूसरी और अंतिम बार वे लेखक गृह धर्मशाला में एक मास से ऊपर रहे। यहाँ रह कर 'धौलाधार की छाँव में' उपन्यास लिखा तो किताब घर से प्रकाशित हुआ। निर्मल वर्मा की 'लाल टीन की छत' और दूसरी कहानियों को कौन नहीं जानता!

जब कोई व्यक्ति प्रसिद्ध हो जाता है तो सभी उस पर हमवतनी होने का दावा करते हैं। इसी कारण मोहवश पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और यशपाल को हिमाचली कहने में हम गर्व महसूस करते हैं हालाँकि उनकी कर्मभूमि हिमाचल से बाहर रही। रचनाकर्म पर बात करें तो गुलेरी की पहली दो कहानियों में हिमाचल नहीं के बराबर है। तीसरी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' भी अमृतसर की गलियों से प्रारम्भ हो कर विशाल कैनवास लिए हुए है। इस में काँगड़ी के कुछ शब्दों एवं वाक्यांशों का प्रयोग मिलता है। इन दोनों साहित्यकारों ने साहित्य की बुलंदियों को छू लिया अत: उन्हें हम अपना कहने का मोह करते हैं।

बात यहाँ मोहन रोकश की है। मोहन राकेश ने पर्वतीय परिवेश पर बहुत लिखा। और ऐसा लिखा कि अभी कोई कथाकार वैसा नहीं लिख पाया। इनकी रचनाओं में शिमला या कुल्लू मात्र एक सैरगाह, बीमारों के लिए स्वास्थ्यवर्धक स्थान या प्रकृति प्रेमियों के लिए मोहक स्थान नहीं है। इनकी रचनाओं में पहाड़ पर दो-चार दिन घूमने का अद्भुत रोमांच भी नहीं है। इनके मौसमों में आदमी के संघर्ष और उसकी घनीभूत पीड़ा है। मिस पॉल में पुल के दो रस्सों से गोलाई में घूमने का चित्र हो या चौगान के धातु के पुतले अंग्रेज का चित्रण; सभी कहानियों में एक गहरी संवेदना झलकती है।

शब्दों के सधे हुए शिल्पी मोहन राकेश की कहानियाँ महीन और कोमल वातावरण से छन कर छत से लटकती बर्फ की तलवारों के बीच सर्दियों की कमजोर धूप की तरह धीरे-धीरे मन पर छाती हुई चोट करती हैं जहाँ घास काटने वाली औरत अपनी विवशता का जिक्र करती है। लेखन के शुरुआती दिनों में मोहन राकेश मेरे आदर्श कथाकार बने। हालाँकि कभी उनसे मिलना नहीं हो पाया। यह एक सुखद संयोग ही कहा जाएगा, मैं मैट्रिक के बाद शिमला के उसी स्कूल में पहुँच गया जहाँ मोहन राकेश पढ़ाते थे। इस स्कूल में मेरे पिता लगभग पच्चीस साल हिन्दी अध्यापक रहे। बी. ए. में 'आषाढ़ का एक दिन' कोर्स में था जो मुझे पूरा याद हो

गया। बाद में उनके दूसरे नाटक, उपन्यास और पूरी कहानियाँ पढ़ डालीं।

मोहन राकेश ने जिस 'वी' के आकार की पहाड़ी का जिक्र अपने उपन्यासों में किया है वह हमारे घर के साथ ग्राउंड से साक्षात् दिखती थी। ग्राउंड के अंतिम किनारे एक लोहे की बैंच लगी हुई थी जिस पर शाम को अध्यापक बैठ कर सामने के दृश्य का आनंद लेते थे। इस बैंच के ठीक सामने तारादेवी मन्दिर के इस ओर यह 'वी' के आकार की पहाड़ी दिखती थी। संयोग आगे भी हुआ कि यह पहाड़ी अब भी मेरे वर्तमान घर के ठीक सामने है और मैं बिस्तर पर लेटे हुए भी इसे देख पाता हूँ।

'न आने वाला कल' उपन्यास बिशप कॉन स्कूल पर लिखा गया। उपन्यास में स्कूल की कॉपियाँ जाँचते हुए छत्तों से लटकती बर्फ की तलवारें, स्कूल के आसपास घास काटती ग्राम्य औरतें एक अद्भुत वातावरण तैयार करती हैं। एक कहानी 'छोटी सी चीज' में स्कूल के छोटे बच्चे का चित्रण है जिसे अंग्रेजी में 'ए लिटिल थिंग' कहते हैं। स्कूल में उस समय मोहन राकेश को जानने वाला कोई न था। हाँ, एक अध्यापिका मिसेज टूली ने बताया : 'कौण! मोहण राकेश! आहो, उत्थे रैंहदा सी स्कूल तौं बार।'

मोहन राकेश वर्तमान पुलिस हैडक्वार्टर बिल्डिंग के नीचे नाले से इधर स्कूल को जाती सड़क के साथ वाली बिल्डिंग में रहते थे। स्कूली जाने वाली निचली सड़क पर यह बिल्डिंग नाले से इधर को थी जो हमेशा अँधेरे में रहती। बिल्डिंग के गेट पर दो गेटनुमा मीनार से थे जो रात को देखने में लगता, दो पहरेदार खड़े हैं। यह स्कूल की नहीं एक प्राइवेट बिल्डिंग थी जो सम्भवत: किराए पर ली गई थी। अब इस जगह पर हिमाचल पुलिस का भवन है और इससे ऊपर तक पुलिस हैडक्वार्टर की बिल्डिंग हैं। मोहन राकेश के उपन्यास बिशप कॉटन स्कूल पर हैं, कहानियाँ इस स्कूल के अलावा कुल्लू, करसोग आदि स्थानों पर हैं। 'चौगान, मिस पाल, मंदी' आदि कहानियों में कुल्लू का वह गहन और सूक्ष्म वर्णन है जो इस प्रदेश का कोई कथाकार उकेर नहीं पाया। मैंने खुद उनका अनुसरण करते कोशिश की मगर कर नहीं पाया। हालाँकि मैं यहीं का वासी हूँ।

'चौगान' की उपस्थिति से आशंकित और आतंकित वातावरण में 'इन्सान न हो कर किसी कीमती धातु के बुत' से लगने वाले साहब की त्रासदी उसके माथे की नसों पर चोट करती उस ठक्-ठक् आवाज में है जो कांशीराम काफी लाते हुए लकड़ी के फर्श पर करता है या संतो के लाख सिखाने पर भी कमीज से आँखें पोंछने से नहीं हटती या नंगे पैर दौड़ती है। चितकबरी चाँदनी, सेब, अनार और नाशपाती की मिली-जुली गन्ध, व्यास की गड़गड़ाहट के बीच चौगान के मेले में लोंगों का लुगड़ी पीना और नाचना और उस सब से ऊपर अल्हड़ संतो का बार-बार चौगान में जाना, एक युवक का शराब के नशें में उसे अपनी ओर खींचना; कुछ ऐसे दृश्य हैं जो साहब को परेशान कर देते हैं और वह चिल्लाता है : 'ओह! कुतियाएँ! ओह! कुतियाएँ!' साहब के मरने पर संतो का कमीज से आँखें पोंछ कब्र पर बाँहें फैलाना हृदयग्राही है।

'मिस पाल' में रस्सियों के पुल पर वे झूलते हुए रस्से, मिस पाल की विवशता एक अद्भुत वातावरण तैयार करती है और 'मंदी' कहानी के तो कहने ही क्या! टूरिस्टों के जाने पर छोटे दुकानदारों में फैलती मंदी का ऐसा चित्रण आज तक कोई नहीं कर पाया। मानवीय संवेदनाओं को प्राकृतिक प्रतीकों से जिस तरह राकेश ने जोड़ा है, वह अद्वितीय है। पहाड़ पर लिखी इनकी रचनाओं पर लम्बी बात की जा सकती है।

मेरे प्रिय लेखक मोहन राकेश ने मुझे एक इंटरव्यू में रिजेक्ट करवाया तो दूसरे में मैरिट में प्रथम स्थान दिलवाया। बी. एड. का इंटरव्यू देने धर्मशाला गया। पालमपुर से सुबह सात बजे चलने वाली पालमपुरधार बस पकड़ी। इंटरव्यू सर्किटहाउस कोतवाली बाजार में था। जैसाकि हर लेखक को पूछा जाता है कि आपका प्रिय लेखक कौन! चेयरमेन ने मुझे भी पूछा। मैंने फट कहा, 'मोहन राकेश।' 'क्या वे अभी हैं', उन्होंने तुरंत पूछा। हाँ, हाँ, बिल्कुल, हैं। उन्होंने साथी मेंबर से खुसर-फुसर की। दरअसल मोहन राकेश के देहावसान की ख़बर उसी दिन अंग्रेजी अख़बार 'द ट्रिब्यून' में छपी थी। उस भले जमाने में हिन्दी लेखकों बारे में अंग्रेजी अख़बार भी ख़बर देते थे। सुबह ही घर से निकला था और अख़बार कहाँ पढ़नी! फलत: मुझे रिजेक्ट कर दिया गया। अगली बार जिला भाषा अधिकारी के लिए कमिशन में इंटरव्यू दिया तो मैं किताबों और पत्रिकाओं का बैग साथ ले गया था। हालाँकि एक कैंडीडेट ने मुझे टोका कि ये बैग भीतर क्यों ले जा रहे! जाते ही बैग से पुस्तकें व पत्रिकाएँ मेज पर फैला दीं। चेयरमेन ने फिर वही प्रश्न दागा आपका प्रिय लेखक कौन! मैंने फिर कहा, मोहन राकेश! मैंने मोहन राकेश बारे पूछे सवालों से पहले ही जवाब दे दिए। बिशप कॉटन स्कूल का एक चित्र खींच दिया। फलत: मैरिट लिस्ट में मुझे पूरे बैच में प्रथम स्थान दिया गया।

'अभिनंदन' कृष्ण निवास, लोअर,
पंथाघाटी, शिमला-171009 (हिमा. प्र.)
मो.-94180-85595

अब्दुर्रहीम : व्यक्तित्व और कवित्व के खानखाना

– सत्येन्द्र शर्मा

जन्म – 27 जुलाई 1954।
शिक्षा – एम. ए., पी–एच. डी.।
रचनाएँ –सात पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – शम्भुनाथ सिंह न्यास सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना हिन्दी काव्याकाश के ऐसे उज्ज्वल नक्षत्र हैं जिनका प्रकाश अपनी विशिष्टता लिए हुए है, यह विशिष्टता उनके काव्य और व्यक्तित्व की निजस्वता के कारण है। यों तो प्रत्येक कवि–लेखक की अपनी विशिष्टता होती है, जिससे वह अलग से पहचाना जाता है किन्तु मध्यकाल में रहीम, गोस्वामी तुलसीदास के बाद ऐसे शीर्ष कवियों में हैं जो अपनी बहुआयामी निजस्वता के लिए भारतीय जनमानस में गहरी पैठ बनाए हुए हैं। रचनाकाल के सैकड़ों वर्षों बाद भी जिनकी काव्योक्तियाँ लोकजीवन का कंठहार और लोक–व्यवहार का अंग बनकर पीढ़ी दर पीढ़ी उनके जीवन निरूपण का हेतु और सेतु बनी हुई हैं, उनमें कविवर रहीम का स्वर स्पष्टतया अलग से पहचाना, सुना–गुना और सराहा जाता है। किसी कवि के लोकमानस में इस कदर गहरी व्याप्ति के कारणों की तलाश प्रकारान्तर से उसके काव्य–कौशल को जानना–समझना तो है ही उतना ही उस काल, परिवेश और परिस्थितियों को भी जानना है जिनके बीच रहकर रचनाकार ने वह व्यक्तित्व अर्जित किया है जो जीवनानुभव और चिन्तन–दर्शन के रूप में उसके काव्य में प्रतिफलित है।

यों तो किसी भी रचनाकार के काव्यालोक में अवगाहन करने के लिए यह जरूरी है, बल्कि उसके काव्यानुशीलन के लिए न्यायसंगत ही होगा कि भावक विशेषकर समीक्षक उन परिस्थितियों और परिवेश से परिचित हो, जिनके बीच उसकी कोई रचना या रचनाएँ सृजित हुई हैं। इसे आश्चर्य ही माना जाएगा कि भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्र में व्यक्तित्व और सृजन की सापेक्षता को लेकर कोई स्पष्ट अवधारणा संज्ञान में नहीं आती, इसके बावजूद लगभग प्रत्येक भाषा के साहित्य के अध्ययन–अनुशीलन में प्रसंगवश इसकी कमोवेश चर्चा होती रही है। हिन्दी में डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला काव्य के मूल्यांकन में उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि में पग–पग पर रचनाकार के पारिवारिक–सामाजिक परिप्रेक्ष्यों को सामने रखा है। प्रसिद्ध कथाकार अमृतलाल नागर ने अपनी प्रसिद्ध जीवन परक कृतियों 'मानस का हंस' और 'खंजन नयन' में क्रमशः गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास पर जो खोजपूर्ण दृष्टि डाली है, उससे जोड़कर रचनाकारों को पढ़े जाने पर नए अर्थ क्षितिज तो खुलते ही हैं, साथ ही इस तरह के सापेक्ष अध्ययन का औचित्य भी प्रतिष्ठित होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. बच्चन सिंह का यह कथन बहुत प्रासंगिक लगता है, जिसमें वे रचना के 'सौन्दर्य शास्त्र' पर विमर्श करते हुए कहते हैं :–'कलाकार अपनी आन्तरिकता का मूर्तीकरण करता है। यह मूर्तीकरण उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी स्वयं आन्तरिकता। इसे यों भी कहा जा सकता है कि मूर्तीकरण ही आन्तरिकता है। कलाकार की संवेदना चाहे जितनी उदात्त हो जब तक वह उपयुक्त रूपान्वेषण नहीं कर लेती तब तक उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। ऐसा होने पर ही उसे, 'जीवन्त और गत्यात्मक' माना जा सकता है।' **(बच्चन सिंह : आधुनिक हिन्दी आलोचक के बीज शब्द, पृ. 147)**

रहीम के काव्यार्थ को समझने के लिए चाहे उनके कवित्व का परिचय जरूरी न हो किन्तु उनके काव्य की विभिन्न दिशाओं–दशाओं, रूपों, छवियों, अर्थच्छटाओं, कथन की भंगिमाओं और अन्ततः उसकी अन्तश्चेतना को पहचानने के लिए, उसमें व्याप्त कस्तूरी के आस्वादन के लिए पाठकों को उनकी जीवन–रेखाओं से परिचित होना आवश्यक है। सभी मध्यकालीन कवियों का जीवनवृत्त दो श्रेणियों में रखकर देखा जा सकता है। एक, भक्त एवं संत कवि–गार्हस्थ जीवन की चुनौतियों के बीच लौकिक–पारलौकिक मार्ग का संकेत करते हुए अपने आराध्य के लिए समर्पित। दूसरे, वे जो राज्याश्रय में रहते हुए अक्सर काव्य प्रतिभा का परचम फहराने के लिए और कभी कभार

अपने मन की पुकार पर काव्य रचना करने वाले। रहीम, तीसरी कोटि के अकेले कवि हैं जो किसी एक आराध्य के लिए एकाग्र नहीं हैं, किन्तु वे परमात्मा के लिए प्रणत हैं, जो राम, कृष्ण या किसी भी सांसारिक व्यक्ति में आत्मतत्व के रूप में अवस्थित है। दूसरा, वे उस अर्थ में राज्याश्रित भी नहीं हैं कि जिन्हें 'दरबारी कवि' के नाम से पहचाना जा सके, बल्कि वे एक ही बादशाहत की तीन पीढ़ियों से जुड़े ऐसे क्षत्रप और सिपहसालार हैं जिन्होंने सम्बद्ध बादशाहों को समय-समय पर मूल्यवान मंत्रणा दी है और उनके लिए युद्ध लड़कर और प्राय: विजयी होकर उन इलाकों की मनसबदारी हासिल की है। इस प्रकार पूरी ज़िन्दगी राज़दरबार से जुड़े रहकर भी वे पूरे स्वाभिमान ओर मानमर्यादा के साथ जिए। पर ऐसा भी नहीं है कि तत्कालीन सत्ता के कोप भाजन न बने हों, ईर्ष्यालु और प्रतिद्वन्दी समकक्ष राजकर्मियों के षड्यन्त्रों का शिकार न हुए हों, उनका उन्नत मस्तक क्षत-विक्षत न हुआ हो, और उनका निजी जीवन दैवी और सांसारिक आपदाओं के दंश से बच सका हो; किन्तु इस सबके बावजूद रहीम अविचल, अविराम कर्म सन्नद्ध रहते हुए साढ़े इकहत्तर साल जिए और अपनी आन्तरिक प्रज्ञा के बल पर अपनी विलक्षण काव्य-साधना के लिए संसार में अमर हो गए।

वास्तव में जीवन की स्थूल घटनाएँ किसी भी व्यक्ति की आन्तरिक प्रकृति के निर्माण में कितनी प्रभावी और निर्णायक होती हैं, यह कविवर रहीम की निर्मित जीवन-दृष्टि से समझा जा सकता है जिसका प्रतिफ लन उनके काव्य में हुआ है। नि:संन्देह व्यक्ति की अन्त:प्रकृति की संरचना उसके गर्भकाल से ही होने लगती है किन्तु विशेषकर बाल्यावस्था में और उसके विकास के साथ जुड़ी घटनाएँ और परिवेश उसे दीक्षित करने जाते हैं। व्यावहारिक तौर पर मिलने वाली यह शिक्षा उसकी जीवन-प्रकृति का निर्धारण करती है। रहीम के पिता बैरम खाँ में तुर्क जाति का रक्त था। वह हिन्दुस्तान में आक्रामक हुमायूँ के साथ उसका विश्वासपात्र, स्वामीभक्त सेवक और कुशल सेनापति बनकर आया था। ईरान का बादशाह उसकी राजनीतिक समझ का सम्मान उसे 'खाँ' की उपाधि देकर पहले ही कर चुका था। हुमायुँ ने हिन्दुस्तान पहुँचकर बैरम खाँ को अपने किशोर बेटे अकबर का संरक्षण दायित्व और पंजाब प्रदेश का मालिकाना हक सौंप दिया और अपना तथा उसका विवाह मेव जमींदार की बेटियों से कर लिया। ज्ञातव्य है कि मेव, राजपूताना के मेवाड़ क्षेत्र में रहने वाली एक साहसी लड़ाकू जाति थी जो मुसलमानी शासनकाल में हिन्दू से इस्लाम में परिणत हो गई थी। इस प्रकार रहीम मुसलमान पिता और हिन्दू माँ की सन्तान थे।

रहीम कुल चार वर्ष की अबोध अवस्था में पिता विहीन हो गए। पिता बैरम खाँ को गुजरात में एक पठान ने मार डाला। समकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने बैरम खाँ के बुद्धि, चातुर्य, शील, स्वामीभक्ति, दूरदर्शिता, वीरता, सफल राजनीतिज्ञ और कुशल प्रशासक होने की बात कही है। ऐसा व्यक्ति महत्वाकांक्षी भी हो तो यह स्वाभाविक ही है। इस महत्वाकांक्षा ने उसके पाल्य बादशाह अकबर के कान खड़े कर दिए और दरबार में वह पृष्ठभूमि तैयार हो गई जिसकी परिणति गुजरात में उसकी हत्या में हुई। बैरम खाँ की मृत्यु के लगभग चार माह बाद उस परिवार की परेशानियों की ख़बर पाकर अकबर ने निराश्रित माँ-बेटे को आगरा बुला लिया और रहीम का पालन-पोषण उसी भाव से किया, जिस भावना से बैरम खाँ ने अकबर का पोषण किया था। रहीम, अकबर के लिए पुत्रवत हो गए और राजदरबार में उन्हें एक प्रतिष्ठित और सम्मानित स्थान-गौरव दिया गया। कालान्तर में अकबर ने रहीम की माँ सुल्ताना बेगम से विवाह भी कर लिया। इस तरह रहीम अकबर के धर्मपुत्र हो गए। रहीम की माँ ने राजाश्रय का भरपूर लाभ उठाया और बेटे को हर दृष्टि से सुयोग्य, सक्षम और सुदृढ़ बनाने का बेहतर पाठ पढ़ाया। रहीम के व्यक्तित्व संघटन में भारतीयता के प्रति अगाध आकर्षण का बुनियादी कारण उनकी माँ का मूल रूप से हिन्दू होना है, वे राजपूताने के जिस मेवात क्षेत्र की निवासी थीं। वहाँ ईश्वर के प्रति आस्था, तिथि-त्यौहार की परम्परा, उदारता, सहिष्णुता और त्यागवृत्ति तथा लोक व्यवहार के मूल्य थे। संयोगवश अकबर के संरक्षकत्व में रहीम के भीतर इन प्रवृत्तियों को पनपने का भरपूर अवसर मिला। धर्म से मुसलमान और चेतना से हिन्दू संस्कारों में पले-बढ़े रहीम ने सामाजिक संस्कृति के प्रतीक-पुरुष का जीवन तो जिया ही, तत्कालीन राजनीति और राजदरबार की प्रमुख भूमिका में रहते हुए, घात-संघातों को झेलते हुए भी कभी मनुष्यता के उच्च आदर्शों से च्युत नहीं हुए। उनका विश्वास था : -

'रहिमन सीधी चाल सो, प्यादा होत वज़ीर।
फ़रजी साह न हुइ सकै, गति टेढ़ो तासीर।।
टूटे सुजन मनाइये, जो टूटे सौ बार।
रहिमन फिरि फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार।।'

मात्र सत्रह वर्ष की अवस्था में युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश करने वाले रहीम ने जीवन भर बड़ी-बड़ी लड़ाइयों का सैन्य संचालन और नेतृत्व किया तथा विजय प्राप्त की। रण कौशल से प्रभावित होकर अकबर ने इन्हें 1572 ई. में पाटन (गुजरात) की जागीर प्रदान की। चार साल बाद पूर्ण विजय के बाद उन्हें गुजरात का सूबेदार बना दिया गया। उन्होंने 1583 ई. में गुजरात के विद्रोह का युद्ध और कूटनीति से जिस तरह दमन किया उससे प्रसन्न अकबर ने इन्हें 'खानखाना' की उपाधि और पंचहजारी का मनसब दिया। 1579 ई. में वे 'मीर अर्जु' का पद पा चुके थे और 1589 ई. में उन्हें दरबार की 'वकील' पदवी से नवाजा गया। शाहजादा दानियाल और अब्दुल फजल की मृत्यु के बाद (1604 ई.) वे दक्षिण के पूरी तरह अधिपति हो गए।

अकबर के न रहने पर जहाँगीर के शासनकाल के प्रारंम्भिक दौर में इनको यथोचित सम्मान मिलता रहा। रहीम के अन्य अनेक गुणों के साथ विशेष तौर पर उनके साहस, शूरवीरता और युद्ध कौशल पर उनके समकालीन और कुछ तो उनके साथी दरबारी कवियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। केशवदास, आसकरन, मंडन संत, हरिनाथ, तारा, मुकुन्द आदि ऐसे ही कवि हैं। जिनके एकाधिक या अनेक छन्दों में उनकी प्रशस्ति गाई गई है। सम्पर्क तो उनका संत कवि तुलसीदास और कुंभनदास जैसे बड़े भक्त कवियों से भी रहा है, और लोक में प्रचलित अनेक काव्योक्तियों को उनके इस सम्पर्क-सम्बन्ध की फलश्रुति भी कहा जाता है, किन्तु गंग कवि तो उसी दरबार के कवि थे, जिस दरबार की तीन पीढ़ियों से रहीम का वास्ता था, इसलिए इतिहास लेखकों के अतिरिक्त, कवि गंग के इस रचनात्मक साक्ष्य को जरूर देखा जाना चाहिए, जिसमें रहीम की वीरता का बखान उसी स्वत:स्फूर्ति, उसी उन्मुक्तता, उसी तन्मयता, उसी श्रद्धाभाव और उसी रागात्मकता से किया गया है, जिस तरह भूषण छत्रपति शिवाजी या महाराजा छत्रसाल की करते हैं। गंग का यह छन्द है :-

'नवल नवाब खानखाना जू तिहारे उर,
परी है खलक सैल मैल जहूँ तहूँ जी।
राजन की रजधानी डोली फिरै वन वन,
बैठन को देऊँ बैठे भरे बेटी बहू जी।
चहुँ गिरि राहे परी समुद अया है अब,
कहै कवि गंग चक्रवल्ली और चहूँ जी।
भूमि चली शेष धरि, शेष चल्यो कच्छि धरि,
कच्छ चल्यो कौल धरि, कौल चल्यो कहूँ जी।।'

गंग के और भी कवित्त हैं, जिनके नायक रहीम ख़ानख़ाना हैं; किन्तु उनका वह 'छप्पय' तो दूसरा ही है जिस पर रीझ कर रहीम ने उन्हें छत्तीस लाख रुपये भेंट कर दिए थे, और जिसके केन्द्रीय भाव में काव्य नायक की शूरवीरता ही है। क्योंकि जहाँगीर के सामने रहीम के लड़ाकू योद्धा, कुशल रणनीतिकार, सफल सेनानायक और राजसत्ता के लिए समर्पित भाव से कार्य करने वाले व्यक्ति की प्रामणिक तस्वीर थी। 'तबकातेनासिरी' में निजामुद्दीन बख्शी ने रहीम (अब्दुर्रहीम) के बारे में लिखा है :- 'इस समय खानखाना की उम्र 37 वर्ष है। दस वर्ष हुए इसने खानखाना का मनसब और सेनापति का पद प्राप्त किया था। इसने बड़ी-बड़ी सेवाएँ की हैं और बड़े-बड़े युद्धों में विजयी हुआ है। इस सुयोग्य और मान्य पुरुष के ज्ञान, विद्या और गुणों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखें, वह सब सौ में से एक और बहुत में-से थोड़े हैं। इसने सब लोगों पर दया करने का गुण बड़े-बड़े विद्वानों-पण्डितों की शिक्षा, फकीरों का प्रेम और कवि हृदय अपने दिल से उत्तराधिकार में पाया है। लौकिक ज्ञान और गुण की दृष्टि से इस समय दरबार में इसके जोड़ का कोई अमीर नहीं है।' **(रहीम : विजयेन्द्र स्नातक : पृ. 23)** यही नहीं जहाँगीर के गद्दीनशीन होने पर रहीम से हुई पहली भेंट के वाकये का उल्लेख वह 'जहाँगीरनामा' में करना नहीं भूला। किन्तु इतिहास के पृष्ठों से ही पता चलता है कि जहाँगीर, रहीम के युद्ध कौशल, योग्यता, विद्वता, काव्य-कला, निपुणता, और सन्तुलित तथा शालीन व्यक्तित्व का प्रशंसक होते हुए भी मन के किसी कोने में उसके प्रति शंकालु था। इसकी पृष्ठभूमि में अकबर और जहाँगीर (पिता-पुत्र) के बीच चले-द्वन्द्व और सलीम के विद्रोह में रहीम का अकबर के प्रति निष्ठावान रहना था। इसके अलावा 'जे बिनु काजु दाहिने बाएँ' भी अनेक दरबारी थे जो रहीम के उदात्त व्यक्तित्व और उनके उत्कर्ष को नहीं देख पा रहे थे, ऐसे लोगों में सेनापति महावत खाँ अग्रणी था। और तो और रहीम के मित्र अबुल फ ज़ल जिनकी विद्वता और प्रतिभा की प्रशंसा करते रहीम अघाते न थे, उन्होंने रहीम के लिए ही लिखा था-'तलवार और कमान को बोलने की शक्ति होती तो तुम्हारे (रहीम के) भुजबल का हजार बार बखान करते।'

(रहीम : विजयेन्द्र स्नातक : पृ. 18)

राजतंत्र विशेषकार मुगलकाल में सेनापतियों, मनसबदारों और दरबारियों के बीच परस्पर-रागद्वेष, शत्रुता और षड्यन्त्रों की

बिसात बिछना कोई नई बात न थी, जिसका शिकार रहीम हो रहे थे किन्तु वे बादशाह की नज़रों में भी तब बागी हो गए जब उन्होंने शाहजहाँ के विद्रोही होने पर उसका साथ दिया। यद्यपि 1625 ई. में रहीम ने अपनी इस भूल के लिए क्षमा याचना कर ली और जहाँगीर ने उन्हें 'ख़ानख़ाना' की उपाधि से पुन: अलंकृत किया। इसका साक्ष्य स्वयं जहाँगीर के 'जहाँगीरनामा' के लिखे उसके इस आत्मकथ्य से मिलता है।

'मैंने कहा कि जो-जो बातें घटित हुई हैं, वे सब भाग्य की बातें हैं, न तुम्हारे अधिकार की हैं, न हमारे अधिकार की। इस कारण अब तुम अपने मन में व्यर्थ लज्जित और दु:खी मत हो। हम अपने आपको तुमसे अधिक लज्जित और दु:खी पाते हैं। जो कुछ हुआ, सब भाग्य से ही हुआ। यह हमारे अधिकार की बात नहीं।' **(रहीम : विजयेन्द्र स्नातक, पृ. 19)**

रहीम का सार्वजनिक अथवा राजनीतिक जीवन संघर्षमय और कंटकाकीर्ण तो रहा ही किन्तु पारिवारिक जीवन तो और अधिक पीड़ादायक रहा-'जा दिन से जिउ जनमियाँ कबहुँ न पाया सुख, डाले-डाले हम फिरे पाते-पाते दु:ख।' जैसे अहसास वाला। अबोध बाल्यावस्था में पिता का विछोह, अधेड़ अवस्था के पहले ही पत्नी की मृत्यु, तीन पुत्रों, दामाद और पौत्र के असामायिक निधन जैसी घटनाओं ने उन्हें किस मन:ताप से गुजारा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। इन दारुण घटनाओं के बीच सबसे मर्मान्तक और लोमहर्षक प्रसंग तो वह था, जब जहाँगीर के सेनापति और रहीम से शत्रुता रखने वाले महावत खाँ ने बंगाल में उसके बेटे दाराब का सिर काट दिया। अमानुसिकता की वीभत्सता यहीं नहीं रुकी। बेटे के कटे हुए सिर को रूमाल से ढके थाल रखकर बाप को इस सन्देश के साथ भेजा गया कि 'आपके लिए तरबूज पेश है।' पिता रहीम ने उसे आँसुओं से भरी छलकती आँखों से देखा और कहा-'तरबूज शाहीदी अस्तर- यह एक शहीदी तरबूज है। रहीम के जीवन की ये दु:ख भरी गाथाएँ किसी भी पाठक के लिए किसी ऐतिहासिक पात्र के जीवन के मार्मिक प्रसंग हो सकते हैं किन्तु किंचित ठहरकर सोचने पर आश्चर्य लगता है कि इन त्रासदियों के बावजूद रहीम न तो सिर पकड़कर बैठ गए, न ही कर्तव्य क्षेत्र से विचलित हुए और न ही रचनात्मकता से विलग हुए। वे परम पुरुषार्थी थे किन्तु 'सबहिं नचावत राम गोंसाई' के नियतिवाद को स्वीकारते हुए : -

'ज्यों नाचत कठपूतरी, करम नचावत गात।
अपने हाथ रहीम ज्यों, नहीं आपुने हाथ।।'

किसी भी कालजयी रचनाकार के काव्यान्वेषण के लिए उसके जीवन की स्थूल रेखाओं की समझ के साथ उसकी मानसिक पृष्ठभूमि और उस पृष्ठभूमि के निर्माण का आधार भी जानना आवश्यक है। रहीम खानखाना हिन्दी, संस्कृत के अतिरिक्त तुर्की, फ़ारसी और अरबी के भी अच्छे जानकार थे। इस दृष्टि से वे इन भाषाओं के ज्ञाता ही नहीं थे, वरन् इनमें व्यक्त जीवन-जगत को भी उन्होंने अनुभूत किया था, इसलिए उनकी अभिव्यक्तियों को पीठिका में इनके भाषायी और साहित्यिक संस्कार भी थे। उनका अधिकांश काव्य हिन्दी में है किन्तु संस्कृत और फ़ारसी में भी उन्होंने प्रमुख रचनाएँ लिखीं हैं।

जहाँगीर ने रहीम के उत्तरकालीन जीवन में कन्नौज की जागीर और एक लाख रुपये तथा खानखाना की उपाधि वापस कर उनके प्रति नाराजगी और कुटिलता के शमन का स्वरूप रखा तो कवि रहीम द्रवीभूत हो गए और फ़ारसी ज़बान में ही एक शेर कह बैठे :-

मेरा लुत्फ़े जहाँगीरी, जे ताई दीत ख़ब्बानी।
दो बार ज़िंदगी बाद, दीवार: ख़ानख़ानाना।।

अर्थात् 'जहाँगीर की मेहरबानी और कुदरत की ताकत से मुझे दोबारा ज़िदगी और खानखानानी नसीब हुई' के आराम से युक्त इस भेट को उन्होंने अगूँठी में खुदवा लिया। रहीम की यह काव्यात्मक प्रतिक्रिया उनके फारसी ज्ञान की बानगी तो है ही, उनके हृदय के कृतज्ञता बोध का दर्पण भी है। असल बात तो यह है कि रहीम की बहुभाषाई ज्ञान की प्रतिभा से जहाँगीर स्वयं चमत्कृत था। उसने 'तुजुके जहाँगीरी' में लिखा है :-
'खानखाना योग्यता और गुणों के सारे संसार से अनुपम था। अरबी, तुर्की, फ़ारसी और हिन्दी भाषाएँ जानता था। अनेक प्रकार की विद्याओं के साथ ही भारतीय विद्याओं का अच्छा ज्ञान रखता था। फ़ारसी और हिन्दी में बहुत अच्छी कविता करता था। पूज्य पिता की आज्ञा से 'वाकेआत बाबरी' का तुर्की से फ़ारसी में अनुवाद किया था। कभी कोई शेर, कभी कोई सवाई और कभी कोई ग़जल भी कहता था।' **(रहीम : विजयेन्द्र स्नातक : पृ. 22)**

खानखाना के सम्बन्ध में जहाँगीर की यह टिप्पणी बहुत अर्थभरी है। एक तो इसमें चरित नायक के बहुभाषी प्रवीणता की स्वीकृति-सूचना; दूसरा, उसकी काव्य प्रतिभा और छन्द के अनेक रूपों में लिखने के लिए क़द्र की गई है, तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि 'वाकेआत बावरी' का तुर्की से फ़ारसी में अच्छा अनुवाद करने के लिए वह पहले से ही उसकी योग्यता का कायल था। ध्यातव्य है कि खानखाना से पहले कुछ लोग इस अनुवाद के प्रयास में विफल हो चुके थे, दूसरा, यह कृति उसके दादा की जीवनी थी, जिससे वह थोड़ा-बहुत लगाव महसूस करता था।

इतिहासकार अब्दुल बाकी के अनुसार 'रहीम ने ग्यारह वर्ष की आयु से काव्य रचना प्रारंभ कर दी थी' और युवावस्था में ही उन्होंने 'वाकेआत बावरी' का बेहतर अनुवाद कर पर्याप्त प्रसिद्धि पा ली थी, और अनेक भाषाओं के जानकार तो वे थे ही। इस प्रकार साहित्यकार, कला मर्मज्ञ, नीतिज्ञ, रणयोद्धा होने के अलावा इतिहासकारों ने उनके सुन्दर, सुगठित, आकर्षक बाह्य रूप की भी प्रशंसा की है। लम्बी भरी-पूरी देहयष्टि, चौड़ा-ऊँचा, गौर, उन्नत ललाट, जिस पर आत्म संयम और गांभीर्य की प्रसन्न मुद्रा। अकबर के दरबारी-लेखक 'आज़ाद' के अनुसार :-
'रहीम अपने आकर्षक सौन्दर्य से स्वजनों को ही नहीं, राह चलते पथिकों को भी आकर्षित करते थे। अनेक युवतियाँ उनके सौन्दर्य पर मोहित थीं।' रूपवान देहयष्टि व्यक्ति को प्रकृति या ईश्वर प्रदत्त उपहार है किन्तु उसे अपने अन्तर्प्रकृति के सरलता, संयम शालीनता और सौजन्य भरे व्यवहार से पुष्ट और वृद्धावस्था तक उसे आकर्षक बनाए रखना व्यक्ति की अपनी सजगता का परिणाम है। साथ ही यह प्रकृति के प्रति व्यक्ति-जीवन के कृतज्ञता की अभिव्यक्ति भी है। कवि गंग ने उनके प्रौढ़ावस्था के अन्तर्बाह्य सौन्दर्य का जो चित्र खींचा है, वह महाकवि कालिदास की उक्ति-'यत्र आकृतिः तत्र गुणाः वसन्ति' को यहाँ चरितार्थ करता दिखाई देता है :-

'गंग-गौंछ, मौछें जमुन, अधरन सरसुति राग।
प्रगट ख़ानख़ानान के, कामद बदनु प्रयाग।।'

अर्थात् रहीम के मुखमंडल के गौरवर्ण गंगधार की धवलता में काली मूँछें जमुना की श्यामलता लिए हुए हैं, और अधरों में तो स्वयं सरस्वती विराजित हैं; इस प्रकार रहीम ख़ानखाना, प्रत्यक्षतः लोगों की मनोकामना पूर्ण करने वाले साक्षात् प्रयागराज हैं।'

वास्तव में 'गंग' की यह काव्योक्ति अपने सहृदय और यदा-कदा उन्हें पारितोषिक प्रदाता रहीम के प्रति औपचारिक कथन मात्र नहीं माना जाना चाहिए, वरन् जीवन के चतुर्दिक संग्राम के बीच अविचलित खड़े रहकर रहीम ने जो व्यक्तित्व अर्जित किया था और उसका प्रतिफलन जिस तरह उनके काव्य में हुआ है, यह उस अखण्ड अनुभूति की अभिव्यक्ति है। निःसन्देह यह उक्ति प्रशस्तिमूलक है, इसलिए स्वभावतः अतिरंजित भी है किन्तु इस कथन से नायक की जो उदारमना छवि उभरती है वह उसकी तथ्यात्मक यथार्थभूमि को स्पर्श करती है और उसका बोध कराती है।

रहीम के समकालीन इतिहास और लोक जीवन में कवि से जुड़ी अनेक किंवदन्तियाँ उनकी उदारता, सहृदयता और उच्चाशयता का बखान करतीं हैं। उनमें से एक की चर्चा करना यहाँ प्रासंगिक है। कवि की जीवनी यह बताती है कि वे चित्त की उस गति में रमते रहे हैं जिसमें प्रतिशोधात्मक भाव और संकुचित दृष्टि का शमन हो चुका था। उनका जीवन सरलता की सीधी रेखा का पर्याय था। कहा जाता है किसी कवि त्रिशूली ने उन्हें स्वरचित नीति विषयक श्लोक सुनाया :-

प्राप्य चलानधिकारान् शत्रुषु मित्रेषु बंधुवर्गेषु।
नापकृतं, नोपकृतं न सत्कृतं किं कृतं तेन।।

अर्थात् 'अधिकार सम्पन्न होने पर जिसने शत्रु का अपकार, मित्र का उपकार और सगे-सम्बन्धियों का सत्कार नहीं किया तो उसका कुछ भी करना अकारथ है।' रहीम को यह काव्योक्ति बहुत भायी किन्तु उन्होंने इस श्लोक का दूसरा चरण परिवर्तित कर दिया, जिससे रचना का मूल स्वर ही बदल गया-संशोधित पंक्ति थी : -

'नोपकृतं नोपकृतं नोपकृतं किं कृत तेन।'

इसमें शत्रु, मित्र और बन्धु बान्धवों के साथ एक सा व्यवहार करने का उच्चाशय व्यक्त हुआ है। यह जनश्रुति जनमानस में व्याप्त कवि के उदात्त मानस के प्रभाव को तो व्यक्त करती ही है, उसके संस्कृत ज्ञान, प्रत्युत्पन्नमति और सदाशयता को भी प्रकट करती है। हिन्दी संसार में तुलसी और कबीर के बाद सर्वाधिक ख्याति रहीम की है। यद्यपि काव्य में 'कान्ता सम्मित' अभिव्यंजना के मामले में उनके दोहे कबीर से अधिक आत्मीयता और अपनपौ लिए हुए हैं, और अन्य अनेक आधारों के अलावा

इस कारण भी उनकी काव्योक्तियाँ भारतीय जनमानस में गहरी पैठ बनाए हुए हैं। अशिक्षा, गरीबी और लम्बी गुलामी भी वह कारण है, जिसकी वजह से अपने रचनाकाल के बाद लम्बे समय तक रहीम लोक जीवन में प्रभावी ग्राह्यता के बावजूद सीमित संख्या में दोहे और सोरठे लिखे जाने के लिए ही पहचाने जाते रहे हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यह बात बहुत धीरे-धीरे लोगों के बीच प्रकाश में आई कि उन्होंने न सिर्फ विपुल मात्रा में लिखा है, बल्कि विषय, भाव, भाषा, छन्द-शैली आदि रूपों के वैविध्य में वे तुलसीदास की पंक्ति में उनके ठीक पार्श्व में खड़े दिखाई देते हैं। हिन्दी वाङ्मय के आधारभूत ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भक्तिकाल की सगुणधारा के जिन फुटकर कवियों का उल्लेख किया गया है उनमें आचार्य कवि केशवदास के बाद विस्तृत चर्चा रहीम की ही है। इस फर्क के साथ कि समीक्षा की सूत्रात्मक सघन अभिव्यक्ति में जहाँ केशवदास के परिचय के साथ 'उन्हें कवि हृदय नहीं मिला था' को बताने में आचार्य शुक्ल को मूल्यवान पाँच पृष्ठ देने पड़े वहीं रहीम को इससे आधे पृष्ठों में 'जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव' रखने वाला कहते हुए वे काव्य-वैविध्य और उसकी सूक्ष्म अनुभूतियों पर बार-बार रीझते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।

इसे रहीम के काव्य की शक्तिमत्ता ही समझा जाना चाहिए कि उनके समकालीन कवियों में तुलसी के बाद, हिन्दी के सुधी और नामवर समीक्षकों का सर्वाधिक ध्यान उनके काव्य पर गया है। आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' के पूर्व पं. मायाशंकर याज्ञिक रहीम काव्य के ऐसे प्रेमी ठहरते हैं जिन्होंने संभवत: पहली बार उनकी अनेक रचनाओं का पता लगाकर 'रहीम रत्नावली' नामक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ हिन्दी जगत को दिया और तब जिज्ञासुओं को पता चला कि जिन रहीम को 'दोहा' और कुछ हद तक 'सोरठा' लिख पाने में ही सिद्धहस्त माना जाता था, वे उस काल में प्रचलित प्राय: सभी प्रमुख छन्दों के प्रवीण शिल्पी थे। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त ब्रजरतन दास कृत 'रहिमन विलास' और मुंशी देवीप्रसाद की कृति 'ख़ानख़ानानामा' आरम्भिक दौर की ऐसी शोधपरक कृतियाँ हैं जिनमें कवि के काव्य वैविध्य और उसके बहुकोणीय जीवन-समर का संक्षिप्त इतिवृत्त मिलता है। इधर, डॉ. विद्यानिवास मिश्र व गोविन्द रजनीश के संपादन में 'रहीम ग्रन्थावली' ऐसे समग्र संकलन के रूप में उपलब्ध हुआ है, जिसमें डॉ. मिश्र की सारगर्भित भूमिका कवि के व्यक्ति और रचाव को अनेक कोणों से प्रस्तुत करती है।

यहाँ कवि की सम्पूर्ण रचनाओं का विस्तार से प्रवृत्तिगत परिचय देना अभीष्ट है और न ही इस लेख के आयतन में उसकी गुंजाइश बनती है किन्तु उनकी काव्यकृतियों के नाम, उनके प्रमुख कथ्य, भाषा-भाव और शिल्प पर उड़ती निगाह डालना कवि के काव्य-धर्म की मूल चेतना को पहचानने का ही उपक्रम है। दोहावली, बरवै नायिका भेद, नगर शोभा, बरवै (भक्ति परक) श्रृंगार सोरठा, मदनाष्टक, संस्कृत काव्य और फुटकर सोरठे आदि कुल आठ संग्रह कवि प्रणीत माने जाते हैं। इन संग्रहों के अतिरिक्त उनके नाम से 'खेटकौतुक जातकम्' प्रसिद्ध है। यह ज्योतिषशास्त्र का ग्रन्थ है, जिसमें ग्रहों के जब-तब स्थान परिवर्तन से मनुष्य के भाग्यलिपि के आकलन के सूत्र बताए गए हैं। रहीम पर, जिनमें भारतीय जीवन शैली का गहरा प्रभाव था, ज्योतिष उसका महत्त्वपूर्ण अंग आज भी है किन्तु उससे भी अधिक जीवन के झंझावाती चक्रों ने जिन्हें जिस तरह दौड़ाया और लहूलुहान किया उससे जीवन में नियति की भूमिका की स्वीकारोक्ति उनका अनुभूत सत्य भी था। वे कहते हैं :-

'बड़ेन सो जान पहिचान के रहीम काह,
जो पै करतार ही न सुख देनहार है।
सीत-हर सूरज सों नेह कियो याही हेत,
ताऊ पै कमल जारि डारत तुषार है।।
नीरनिधि माँहि घस्यो शंकर के सीस बस्यो,
तऊ न कलंक नस्यो ससि के सदा रहे।
बड़ो रीझिवार है, चकोर दरबार है,
कलानिधि सो यार तऊ चाखत अंगार है।।'

प्रकृति के उपकरणों, वैज्ञानिक कारण-कार्य विधान, के साथ लोकमानस की मान्यताओं को प्रतिष्ठा देते हुए भाग्य लिपि की प्रबलता की जो उक्ति यहाँ रची गई है, वह कवि के व्यापक लोक निरीक्षण, शास्त्र-ज्ञान और पौराणिक कथा-प्रसंगों में गहरी पैठ का परिचायक तो है ही; एक तथ्य के प्रतिपादन के लिए जिस तरह वे अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, वह उनकी तार्किक मेधा का भी प्रमाण है।

हिन्दी काव्य-धारा में रहीम की भाँति भाषा-भाव और शिल्प में इतनी विविधता लिए कोई दूसरा कवि संज्ञान में नहीं आता, जिसके यहाँ फारसी, संस्कृत, हिन्दी में एक समान गति से भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया हो। विभिन्न भाषाओं का

ज्ञान व्यक्ति-विकास के परिवेश, शिक्षा-दीक्षा और परिस्थितियों की देन होता है किन्तु उन सबको अपनी अन्तर्चेतना की अभिव्यक्ति कर भावनाओं की तुष्टि पाना स्वभाव जन्य कर्म है, जिसमें उसकी अन्त: प्रकृति का पता चलता है और यह भी कि सम्बन्धित के व्यक्तित्व निर्माण में उस भाषा के संस्कार भी गतिमान हैं। रहीम के लिखे कुछ श्लोक संस्कृत में हैं। इनमें सांसारिक दु:खों से मुक्ति और शान्ति की प्रार्थना परमात्मा से की गई है। उनका छन्द सौष्ठव और भाषा विधान की गुणवत्ता देखकर अध्येता चकित हैं, और उनकी यही विशेषता इन्हें रहीम की रचना होने में संदेह को जन्म देती हैं। स्वयं 'रहीम ग्रन्थावली' के प्रथम पुरस्कर्ता पं. मायाशंकर याज्ञिक भी इस सन्देह के फेर में पड़े हैं। किन्तु विशुद्ध संस्कृत श्लोकों से अलग ऐसे भी छन्द उनके नाम से हैं जिनमें आधा चरण संस्कृत और आधा चरण हिन्दी या फ़ारसी युक्त हिन्दी में रचे गए हैं। यह कौतुक कम से कम रीतिकाल तक तो किसी कवि में दिखाई नहीं देता। आलोचना की आधुनिक शब्दावली में इसे विस्मय विमुग्ध कर देने वाला सराहनीय रचनात्मक प्रयोग कहा जा सकता है :-

'दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां, मैं था गया बाग में।
काचित्तत्र कुरंगशान नमना, गुल तोड़ती थी खड़ी।।
उन्मद्भ्रूधनुषां कटाक्षशिखै:, घायल किया था मुझे।
तत्सीदामि सदैव मोहजलधौ, हे दिल गुजारो शुकर।।'

'कोई तन्वंगी बाग में खड़ी हैं, इस हिरणाक्षी की धनुषाकार भौंहों ने अपने कटाक्ष से नायक को घायल कर दिया है, वह मोह विद्ध होकर उससे प्रेम के प्रतिदान की चाह करते हुए कह रहा है-'मेरे दिल में आओ।''हे दिल गुज़ारो शुकर'-चार चरणों के इस छन्द में चारों आधे चरण संस्कृत के हैं, शेष आधे तीन चरणों की भाषा हिन्दी है, मात्र अन्तिम आधा चरण फ़ारसी में पूरे छन्द के भाव का परिपाक करता हुआ। यह चित्र श्रृंगार का मनोहारी दृश्य-विधान है। उद्दीपन की समवेत परिस्थितियों के बीच आलम्बन और आश्रय की मनोचेष्टाएँ साधारणीकरण और श्रृंगार के परिपाक का उदात्त चित्र। इस दृश्य में एकाग्र होते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह उस काल की रचना है, जब दरबारी कवियों का रीतिकालीन मन देह के वृत्त में घूमकर स्थूल होता जा रहा था, तब रहीम की यह काव्याभिव्यक्ति पश्चिमी काव्यशास्त्री अरस्तू के 'विरेचन' का स्मरण दिलाती है।

श्रृंगार का यह छन्द रहीम के फुटकर काव्य में संग्रहीत है किन्तु उनके 'मदनाष्टक''नगर शोभा''बरवै नायिका भेद' और 'श्रृंगार सोरठा' नामित रचना खण्डों में श्रृंगारपरक रचनाएँ ही हैं। 'मदनाष्टक' संस्कृत काव्य परम्परा की कड़ी के रूप में है और शीर्षक से ही इसकी विषय वस्तु व छन्द परिमाण का पता चल जाता है। 'इसके सभी छन्दों में गोपियाँ नायक कृष्ण के रूप सौन्दर्य पर रीझती हैं और उन्हें निरन्तर देखते रहने-'अहह ब्रजलता को किस तरह फेर देखों' की अतृप्त लालसा रहती है। नि:सन्देह इसमें श्रृंगार के वियोग की गहराई नहीं है, भाव की मार्मिकता भी नहीं है किन्तु संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों की पृष्ठभूमि में खड़ी बोली के प्रयोग और कहने का बेबाक अन्दाज अर्थात् भाषा का मिश्रित अनगढ़ रूप ही इसकी विशिष्टता है। कृष्ण, ब्रजधाम और गोपियों का नाम मात्र आने से हमें कृष्ण-धारा के शीर्ष कवियों के साथ रखकर इसे नहीं देखना चाहिए। यह फ़ारसी की जमीन में अपना रूप गठन कर रही खड़ी बोली के कवि रहीम की रचना है।

'श्रृंगार-सोरठा''बरवै-नायिका भेद' और 'नगर शोभा' में प्रयुक्त छन्द भेद को छोड़कर इन तीनों रचना-संग्रहों में भी नायक-नायिका, पति-पत्नी या युगल की प्रेमानुभूति की विभिन्न छवियाँ और भावानुभूति होने के कारण ये सभी श्रृंगारपरक रचनाएँ ही हैं। बस इसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने सोरठा, कहीं बरवै और कहीं अपने सर्वाधिक प्रिय छन्द दोहे का सहारा लिया है। सोरठा तो किंचित फेरबदल के साथ दोहे का ही प्रतिरूप है, और रहीम ठहरे इसके उस्ताद, इसलिए इस काव्य रूप में भी वे आलम्बन के भिन्न-भिन्न रूपों भंगिमाओं और प्रतिक्रिया में आश्रय की भिन्न-भिन्न मनोदशाओं का वर्णन कर सके हैं। श्रृंगार के रस सिद्ध कवि बिहारी की नायिकाएँ तो छन्द-छन्द में 'दीपशिखा की देह' हैं किन्तु उनके पूर्ववर्ती होने के बावजूद रहीम की काव्यानुभूतियाँ कुछ अधिक सूक्ष्म हैं। यह सोरठा देखें -

'पलटि चली मुसकाय, दुति रहीम उपजात अति।
बाती सी उसकाय, मानों दीनी दीप की।।'

नायिका का रूप प्रकाश की रेख तो है ही किन्तु उसके पलटकर मुस्कुराते हुए चल देने की क्रिया टिमटिमाते हुए दिए की बाती को उकसाकर उसकी प्रकाश रेख को तो सहसा बढ़ा ही देती है। गौर कर देखिए तो पाएँगे कि यह प्रकाश रेख आश्रय के

भीतर भी कैसे दीप्तिमान हो उठती है। एक और सोरठा इस मनोवैज्ञानिक सत्य की उद्भावना के उदाहरण के रूप में देखा जाना चाहिए कि जैसे व्यक्ति जीवन में सुख और आनन्द के हमेशा एक ही स्तर व एक ही कारण नहीं होता, वैसे ही दु:ख विशेषकर प्रेमी के वियोग से उपजी वेदना भी एक नहीं होती :-

'यह नाही यक सी, हिम रहीम होती रहे।
काहु न भई सरीर, रीति न बेदन एक सी।।'

आशय यह है कि रहीम की श्रृंगारपरक रचनाएँ काव्य शास्त्रीय परम्पराओं के प्रभाव-युग में लिखी जाने के बावजूद भावानुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर रूढ़िगत उक्तियाँ नहीं हैं, इसलिए उनमें संयोग या वियोग के भाव का परीक्षण करते हुए रस के साधारणीकरण की उन सभी औपचारिक प्रक्रियाओं में नहीं भटकना चाहिए, बल्कि उस भाव धारा की लहर विशेष में रस-स्नात होना चाहिए।

कवि की श्रृंगारिक रचनाओं में उनके 'नगर शोभा' के दोहे अनेक सन्दर्भों में विशिष्ट हैं। एक तो, इसके नाम के अनुरूप नगर की शोभा का आधार उसकी बसाहट, उसके भवनादि, स्थापना, उसकी भौगोलिक विशिष्टता अथवा कलात्मक उपकरण आदि न होकर उसमें रहने वाली युवतियाँ हैं। अर्थात् सुन्दर युवतियाँ ही मानो नगर की शोभा हैं। दूसरा, ये युवतियाँ भी विभिन्न वर्णों-वर्गों और तद्नुसार निज-निज सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह बात अलग है कि जाति की भिन्नता के बहाने उनके रूप-भाव सौन्दर्य को पृथक-पृथक दर्शाया गया हो, किन्तु कवि का मूल सरोकार उनका सौन्दर्य वर्णन कर श्रृंगार की अनुभूति कराना ही है। इन दोहों में श्लेष के माध्यम से जो चमत्कार पैदा किया गया है; वह सायास बुद्धि-व्यायाम न लगकर कवियोचित प्रत्युत्पन्नमति का प्रमाण देता है। रहीम के श्रृंगार वर्णन का सबसे उल्लेखनीय पक्ष सौन्दर्य की स्थूल रेखाओं के बीच से भावनाओं के सूक्ष्म जगत में प्रवेश कर जाना है। इस दोहे में रूपवती युवति मानो पारसमणि है जिसका स्पर्श-सान्निध्य पाने वाला कंचन बन जाने की सुयोग्यता पा लेता है। ऐसी काव्योक्ति परवर्ती कवि घनानन्द की 'सुजान' के भावगत सौन्दर्य की याद दिलाता है :-

'पारस पाहन की मनो, धरै पूतरी अंग।
क्यों न होइ कंचन पहू, जो बिलसै तिहि संग।।'

बहरहाल, रहीम की लोक प्रसिद्धि काव्य के क्षेत्र में उनकी श्रृंगारिक अभिव्यक्तियों के लिए नहीं हैं। इसके बावजूद कि वे इस क्षेत्र में भी अन्य समकालीन या परवर्ती कवियों से कमतर नहीं हैं बल्कि उनके बाद की रीतिकालीन काव्य-धारा यहाँ तक कि श्रृंगार के रस सिद्ध कवि बिहारी तक में उनके संयोग-वियोग श्रृंगार की उद्भावनाओं के कुछ प्रभाव चिन्ह मिलते हैं तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। कायेतिहास के सर्वमान्य आलोचक आचार्य शुक्ल इस तथ्य को खुले रूप में स्वीकार करते हैं :- 'इनकी (रहीम की) उक्तियाँ ऐसी लुभावनी हुईं कि बिहारी आदि परवर्ती कवि भी उनमें से बहुतों का अपहरण करने का लोभ न रोक सके।' **(रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. 1990 पृ. 120)**

किन्तु वास्तव में आम जनमानस में रहीम की ख्याति और पहुँच उन दोहों के लिए है जिनमें लोकजीवन की व्याप्ति है। उनमें व्यक्ति जीवन के परिष्कार और सामाजिक जीवन के उत्प्रेरण की काव्याराधना है। उनका यही काव्य उनके कृतित्व का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है और यही उनके कवि मन की सच्ची अभिव्यक्ति है। सच्ची अभिव्यक्ति अर्थात् भावनाओं का सहजोद्रेक, हृदय की सच्ची पुकार, अन्तर्मत की अनुभूति अथवा मर्म की बात। मानव जीवन के छोटे-बड़े पहलुओं-प्रसंगों, घटनाओं से उत्प्रेरित उनके दोहे अपने वामन रूप में जीवन की विराटता के एक-एक पक्ष को सारांश और सूत्र रूप में इस तरह सामने रख देते हैं कि पाठक को ये उक्तियाँ ब्रह्मज्ञान की भाँति एक बड़ा सत्य पा लेने का एहसास करा देती हैं। कवि की अनुभूति भावक की भावानुभूति बनकर उसके मनोरोगों को अपने साथ बहा ले जाती है, यह स्वीकारते हुए कि ओह; सच तो यही है अथवा जीवन की इस गुत्थी की कुंजी इसी सूत्र में है।'

प्रत्येक रचनाकार की सृष्टि को समझने के लिए उसके दृष्टि निर्माण की पीठिका को समझा ही जाना चाहिए किन्तु ख़ानख़ाना का व्यक्तित्व जिस परिवेश में विकसित और पल्लवित हुआ है यह उनके व्यक्ति और समाज को बहुत निकट, गहराई, बहुविध रूपों और बहुत सूक्ष्मता से देखने का साक्ष्य देता है। उनकी व्यक्ति संरचना में भारतीयता आधारभूमि की तरह है। भारतीयता अर्थात् भारतीय जीवन मूल्य और उनके प्रति अगाध निष्ठा।

काव्य के रूप और उसके उद्देश्य को लेकर कदाचित सर्वाधिक और सर्वांग विवेचन करने वाले आचार्य शुक्ल ने जो लिखा है कि 'कविता से मनुष्य भाव की रक्षा होती है।' और 'कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को लेकर मोहित होने लगते हैं। कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है।' **(रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि-3, पृ. 91)** को रहीम के काव्य से मिलाकर देखा जा सकता है कि कैसे उनके एक-एक दोहे में अध्यात्म, भक्ति, राजनीति, प्रकृति और लोकनीत को साक्षात किया गया है और ध्यातव्य है कि इन सबकी कसौटी के केन्द्र में मनुष्य को रखा गया है। इसलिए उनके काव्य की रागात्मकता किसी की सहृदय को बरबस अपनी ओर खींचती है और उसे भरोसा देती है। वे बहुत विश्वासपूर्वक कहते हैं :-

'कहा करौं बैंकुठ ले, कल्प वृक्ष की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो गल पीतम बाँह।।'

'यदि जीवन में अपने मनचीत का सान्निध्य और प्रेम मिला रहे तो बैंकुंठ भी अकारथ है।' इस उद्भावना में अलौकिक प्रेम की तुलना में सांसारिक प्रेम की प्रतिष्ठा न देखकर इस प्रेम को उस परमात्मा के प्रेम को पाने का मार्ग ही समझना चाहिए। क्योंकि भारतीय अध्यात्म का मूलमंत्र 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का है। आप चाहें तो ऐसे कथनों में सूफी रंग की छाया देख सकते हैं। ऐसी रचनात्मक उद्घोषणा करने वाले रहीम के काव्य में प्रेम के विभिन्न रूप और विभिन्न स्तर हैं। यह व्यक्तिगत जीवन में जितना श्रेयस्कर और काम्य है उतना ही सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्ततः सार्वभौम जीवन का भी आधार है। मनुष्य जीवन की समस्त कोमल भावनाएँ प्रेम के विराटत्व में पुंजीभूत हैं। उनके यहाँ प्रेम का व्यक्तिगत रूप है जो अपने घेरे में लेकर अर्न्तदाह बनकर सुलगता बुझता रहता है :-

'जो सुलगे ते बुझ गए, बुझे तो सुलगे नाँहि।
रहिमन दोहे प्रेम के, बुझबुझ के सुलगाँहि।।'

और व्यापक रूप भी है जो पारिवारिक-सामजिक व्यवस्था का अलिखित अन्तःसूत्र और उसकी नियामक आचार संहिता का प्रमुख तत्व है। यह बहुमूल्य है और इसका ताना-बाना कोमल सूत्रों से बुना गया है इसलिए इसको सँभालने का दायित्व भी गुरुतर है :-

'रहिमन धागा प्रेम का, मत तोरहु चटकाय।
टूटे से फिर ना मिले, मिले गाँठ परिजाय।।'

भारतीय परम्परा और सनातन संस्कृति में वैयक्तिक स्तर पर प्रेम की एकान्त निष्ठा को ही प्रतिष्ठा दी गई है, फिर वह प्रेम मानवीय हो अथवा ईश्वरीय। प्रेमी और प्रिय के बीच अनन्यता का भाव। यह अनन्यता भक्ति के क्षेत्र में आराध्य और आराधक के बीच, सख्य भाव में दो लोगों के बीच और दाम्पत्य या श्रृंगार के क्षेत्र में किसी भी युगल में अपेक्षित है। श्रीकृष्ण की लीला भूमि को आधार बनाकर कवियों और सामाजिकों ने जरूर यह छूट ले ली कि प्रेम की एकाग्र काया में वे परकीया प्रेम को प्रविष्ट करा सके। कौन कहे यह मानव मन की एक उलझन ही हो जो प्रेम के इस रूप से भी प्रकट करती है और बहुत कम लोगों के जीवन व्यापार में, और कुछ हद तक इस्लामी जीवन शैली के प्रभाव में इसे प्रतिष्ठा भी देना चाहती है किन्तु सनातन संस्कृति में यह न कभी स्वीकार्य थी और न हो सकती है। रहीम सनातनता के इस मूल्य से इतने आश्वस्त और इतने पक्ष धर थे कि काव्यशास्त्र में 'परकीया' के प्रवेश के बावजूद इसे उन्होंने अपनी अन्तश्चेतना में प्रवेश नहीं होने दिया और वे अनन्यता में ही एकनिष्ठ बने रहे :-

'प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय।।'

वास्तव में हिन्दुत्व की जीवन शैली में रहीम इस कदर रच बस गए थे कि उनकी अभिव्यक्ति किसी दूसरे पंथ से आने की कल्पना भी नहीं होने देती। इस तथ्य को साहित्य के विद्वानों से अधिक यदि कोई इतिहासकार दर्ज़ करता है तो यह बात बहुत मायने रखती है। मुगलकाल के विशेषज्ञ लिखे हैं :-
'वास्तव में कुछ मुसलमान कवियों ने हिन्दू संस्कृति का ऐसा सफल वर्णन किया है कि अगर उनके नाम उनके ग्रन्थों से हटा लिए जाएँ तथा उन ग्रन्थों की कृतियों में मिला दिया जाये तो पहचानना असंभव हो जाएगा। इस क्षेत्र में अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना का नाम सर्वोच्च है।' **(डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : मुगलकालीन भारत : सं. 1969, पृ. 244)**

कहा जा चुका है कि हिन्दी जनमानस में रहीम की पैठ और उनके काव्य की लोकप्रियता असंदिग्ध है इसका सब से बड़ा कारण उनकी अनुभूतियों का लोक जीवन और लोक व्यवहार

से सम्बद्ध होना है। उनकी अभिव्यक्तियाँ, जीवन व्यवहार के प्रत्येक पक्ष को उजागर करती हैं। उनमें जीवन अनुभवों की विषदता है। ये अनुभव उनके निजी अनुभव हैं और कवियोचित व्यापक संवेदना से भी प्राप्त हैं। इनमें जीवन के सुख-दुख की अनुभूतियाँ हैं, इनमें जीवन के राग-विराग, प्रेम-बैर, शांति-संघर्ष, सुमति-कुमति, समृद्धि-गरीबी, संगति-कुसंगति, बड़प्पन और लघुता आदि अनेक भौतिक परिस्थितियों के साथ मानव चेतना के संघात, उसके प्रतिफ ल और त्याज्य-अत्याज्य पर मनोवैज्ञानिक तुला का संस्पर्श करते हुए उद्भावनाएँ की गईं हैं। वे सामाजिक चेतना को जागृत और प्रबुद्ध करने के लिए व्यक्ति मन के परिष्कार और उदातीकरण पर बल देते हैं। वे व्यक्ति मन को एक मनोवेत्ता की भाँति समझते हैं और दार्शनिक की भाँति उसका निरूपण करते हैं किन्तु उनके काव्य की सबसे बड़ी ताकत उसकी संप्रेषणीयता है, और इस संप्रेषण के आधार हैं, वास्तविक लोकजीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ पौराणिक और इतिहास के प्रसंगों से नीति कथनों की पुष्टि, जनजीवन में प्रचलित मुहावरों से युक्त कथन कहने का अपनपौ भरा अन्दाज़ और भाषा की प्रसादात्मकता। जीवन के व्यवहारवाद की प्रधानता भी इनके काव्य की जनप्रियता का एक बड़ा कारण है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन दृष्टव्य है :-

'रहीम का हृदय, द्रवीभूत होने के लिए, कल्पना के उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही अपने द्रवीभूत होने के लिए पर्याप्त स्वरूप पा जाता था। इनमें भारतीय प्रेम जीवन की सच्ची झलक है।'

(रामचन्द शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. 1990, पृ. 120)

रहीम जन्म से मुसलमान, कर्म से योद्धा, धर्म से आस्तिक और हिन्दुत्व के अनुरागी तथा मर्म से मानवता के पोषक बने। उन्होंने मनुष्य धर्म की सिद्धि के लिए काव्य को माध्यम बनाया है। वे जानते थे कि व्यक्ति के आदमकद हुए बगैर किसी पंथ, किसी तंत्र (राजनीतिक प्रणाली) किसी धर्म-कर्म की कोई सार्थकता नहीं है। वे स्वयं राज दरबार की दुरभिसन्धियों के दलदल में फँसे हुए एक योद्धा थे, जो कमल की भाँति अपने कर्म, चिन्तन और व्यवहार में निष्कलंक बने रहे और अपनी काव्योक्तियों से मानव समुदाय से स्वयं को जानने और मानवधर्म को पहचानने की स्वानुभूति अपील करते रहे। वे बार-बार आत्म परीक्षण, आत्म परिष्कार और आत्मावलोकन कर अपने जीने के अभिप्राय को जानने और साधने के लिए आग्रह करते रहे :-

'कहु रहीम केतिक रही, केतिन गई विहाय।
माया, ममता मोह परि, अंत चले पछिताय।।
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहि लखै, दीनबन्धु सम होय।।
रहिमन यहि संसार में सबसे मिलिए धाइ।
ना जानै केहि रूप में, नारायण मिलि जाइ।।
जो रहीम उत्तम प्रकृत, का कर सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग।।
रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती, मानुष चून।।'

रहीम के काव्य-स्वभाव के परिचय के लिए उनके कौन कौन दोहे प्रतिनिधि रचना के रूप में यहाँ रखे जाएँ, यह तय कर पाना मुश्किल है, क्योंकि उनके हर दोहे में एक नया कथ्य है, और यदि कथ्य में किंचित निकटधर्मिता है भी तो उसकी एक नयी भंगिमा है। कम या ज्यादा लोकप्रिय दोहों को भी अलग अलग करना असंभव सा है, इसलिए कोई भी पाँच दोहे उनके काव्य की बानगी लिए यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हें पढ़कर सहज ही यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि क्या इन दोहों में आत्मोद्धार की वही पुकार नहीं है जो श्रीराम के शील-संयम में, युद्ध के तप-ताप में, विवेकानन्द के स्वधर्म-स्वाभिमान में और गाँधी के सत्यनिष्ठा-सादगी के मान में सुनाई पड़ती है। यदि हाँ, तो इसीलिए रहीम का काव्य जाति, पंथ, सम्प्रदाय से परे, भारतीय, सांस्कृतिक मूल्यों के बीजों से भारतीय काव्यभूमि पर उगी वह अन्न राशि है जिसके दाने-दाने पर मनुष्य निर्माण की ऊर्जा समाई हुई है। इतिहास और साहित्य में ऐसे भी मनीषी हैं जो रहीम के काव्य की इस उदात्तता का श्रेय अकबर के उदार सोच और 'दीन-ए-इलाही' की कार्य योजना को देते हैं, इस सम्बन्ध में ऐसे विद्वानों सहित अन्य पाठकों को भी संस्कृति के अध्येता दिनकर जी की इस राय पर ध्यान देना चाहिए :-

'अकबर ने दीने-इलाही में हिन्दुत्व को जो स्थान दिया होगा, रहीम ने अपनी कविताओं में उसे उससे बड़ा स्थान दिया है। प्रत्युत, यह समझना अधिक युक्ति युक्त है कि रहीम ऐसे मुसलमान हुए हैं, जो धर्म से मुसलमान और संस्कृति से शुद्ध भारतीय थे।'

(रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 359)

भक्ति काव्य के मर्मज्ञ आलोचक आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने 'रहीम ग्रन्थावली' का संपादन करते हुए उसकी विस्तृत भूमिका में एक ऐसी तथ्यात्मक और मार्मिक टिप्पणी की है जो कवि के समूचे व्यक्तित्व और रचाव की सापेक्षता और द्वन्द्व को इन

पंक्तियों में सारभूत रूप में तो प्रस्तुत करती ही है, हिन्दी-समाज के सामने एक बड़ा प्रश्न भी उपस्थित करती है। वे लिखते हैं :-

'मूल कुल के हिसाब से विदेशी पर हिन्दुस्तान की मिट्टी का ऐसा नमक हलाल कि उसने अपना मस्तिष्क चाहे अरबी, फ़ारसी, तुर्की को दिया हो, पर हृदय ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली और संस्कृत को ही दिया, सारा जीवन राजकाज में बीता और बात उसने की आम आदमी के जीवन की। ऐसे व्यक्तित्व के बारे में बात करते समय बड़ी पीड़ा होती है कि सच्चे अर्थ में हिन्दुस्तानी रंग के इस कवि को समुचित आदर नहीं मिला।'

(विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ.-13)

वास्तव में रहीम के काव्य में जीवन की विविधता की जितनी दिशाएँ, उसके जितने आयाम, उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियाँ और उन्हें व्यक्त करने का जो आत्मीय ढंग है, वैसी सहजता, वैसा धैर्य, वैसी गंभीरता, वैसी प्रशान्त और स्वाभिमानी चेतना बहुत कम रचनाकारों में पाई जाती है। आश्चर्य तो यह है कि जिस व्यक्ति के जीवन का अधिकांश युद्ध क्षेत्र में, सेनापति, राजनीतिक सलाहकार, दरबार के दाँव-पेंचों का चाहे-अनचाहे हिस्सा होने, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त पारिवारिक त्रासदियों को झेलने और अवस्था के उत्तरार्ध में कारावास और निर्वासन जैसी आपदाओं से गुज़रने में बीता हो, वह जीवन प्रणाली की मान्यताओं में इतना आस्थावादी, इतना नैतिक, इतना मूल्य-आग्रही, इतना प्रशान्त, इतना ऊर्जावान, इतना मानवतावादी आदि से अन्त तक कैसे रह सका। जीवन की हलाहल-बड़वाग्नि को भीतर ही भीतर समोकर मानव मन की ऊँचाई-गहराई और व्यापकता का बोध कराने वाले रहीम के हृदय-सिन्धु की विशदता और उज्ज्वलता की कल्पना की जा सकती है, जिसके काव्य-कलश में अमृतत्व छलक रहा है। वस्तु और भाषा की गरिमा और सहजता के साथ इस सन्दर्भ में रहीम-काव्य के पारखी विद्यानिवास मिश्र जी की यह दृष्टि बहुत अर्थवान और गहरा संकेत देती है, जिसमें वे कहते हैं कि तुलसी को प्राप्त यह सहजता लम्बी साधना और एक बड़े संकल्प का परिणाम है किन्तु एक कठिन और प्रयत्न की ज़िन्दगी के बीच रहीम की इस प्राप्ति का स्रोत आखिर क्या रहा होगा और इसके समाधान में वे रहीम के समकालीन कवि केशवदास की उस उक्ति को उद्धृत करते हैं, जिसमें वे उनके हृदय और विचारों के सौन्दर्य को गंगा की भाँति पवित्र कहते हैं-'अमित उदार अति पाव बिचारि चारु, जहाँ-तहाँ आदरियो गंगा जी के नीर सों।' उदारता और रागात्मकता गंगा जी के जल का सत्व है जो रहीम के अन्तस में प्रेम तत्व के रूप में स्थाई भाव बनकर प्रतिष्ठित है :-

'रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगत होत।।'

रहीम का काव्य भारतीय लोकजीवन और लोकमानस को चित्रित करने वाला काव्य है। वह भारतीय जीवन से सीधा संवाद करता है, इसलिए वह उसकी स्मृति-चेतना का अंग बन गया है। तुलसी का काव्य जिस लोक का प्रतिनिधि बनकर रचे जाने के सैकड़ों वर्षों बाद आज भी जन-जन का कंठहार बना हुआ है, ठीक वैसी ही काव्य-सिद्धि रहीम के काव्य को प्राप्त हुई है। यहाँ दोनों समकालीनों, संभवत: परस्पर मित्रों के काव्य और व्यक्तित्व की तुलना की भी कोई मंशा नहीं है, बावजूद यह कहना आवश्यक है कि वस्तु तत्व की उद्भावना और कहन की आत्मीयता, रमणीयता और लोक प्रसिद्धि में रहीम को तुलसी से बित्ता भर ही कम समझा जाना चाहिए। इससे अधिक नहीं, क्योंकि तुलसी के मानस में एक विराट कथा भूमि के चयन के कारण भक्ति, शील, नीति और कर्तव्यादि के निदर्शन के लिए जहाँ पर्याप्त गुंजाइश थी जिसका उन्होंने बेहतर निर्वाह किया, वहीं रहीम को काव्य के सबसे छोटे शिल्प 'दोहा' में कथा-प्रसंगों के साथ रखने की चुनौती थी। इस चुनौती को वे इसलिए साध सके क्योंकि वे इस छन्द की भाव सघनता, समाहार शक्ति, संक्षिप्तता, रस-प्रतीति और कथन के उक्ति वैचित्र्य आदि अपेक्षाओं से परिचित थे, वहीं इसकी बोधक और बेधक क्षमता से भी परिचित थे :-

'दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आँहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिमिट कूदि कढ़ जाँहि।।'

यह अकारण नहीं है कि रहीम के काव्य की उदात्तता, बार बार उनके आदमकद व्यक्तित्व को सामने लाती है। वे उन रचनाकारों में हैं जिनका व्यक्तित्व उनके सृजन में घुला-मिला होता है और इसलिए भी उनके और पाठक के बीच विश्वास का सेतु निर्मित होता है। रहीम के काव्य की गुरुता की पृष्ठभूमि में उनके व्यक्ति निर्माण की प्रक्रिया भी है, जिसे समझने से उनके कहे शब्द अधिक अर्थवान होकर सामने आते हैं। वास्तव में 'अब्दुर्रहीम, व्यक्तित्व और कवित्व के ख़ानख़ाना हैं जिनकी उक्तियाँ मानव-समाज के लिए हमेशा मूल्यवान बनी रहेंगी।'

'श्यामायन' सहकार मार्ग,
सतना-485001(म.प्र.)
मो.-9425167567

बलराम के भीतर का आलोचक

– बी.एल. आच्छा

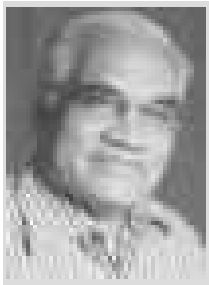

जन्म – 5 फरवरी 1950।

शिक्षा – एम.ए.।

रचनाएँ – पाँच पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान – म.प्र. साहित्य अकादमी सहित अनेक सम्मान।

यों तो हर सर्जक के भीतर एक आलोचक निगाह जमाये रहता है। बाध्य करता है भावलिपि के अनुरूप शब्दलिपि गढ़ने के लिए। मगर आलोचक और आलोचना के मानदण्ड कुछ अलग होते हैं। कई बार सर्जक के भीतर का आलोचक इतना आत्ममुग्ध रहता है कि वह अपने वैयक्तिक से अन्यथाकरण नहीं कर पाता। कई बार विचारधाराओं से इतना पुता-लिपटा होता है कि अपने 'स्व' को प्रतिबद्धता के नाम पर स्वाहा कर देता है। कई बार अपने अनुभूत से न गुजरकर देखे हुए से कल्पित होता है, तो उसमे अंतड़ियाँ और प्राण उतने रच-बस नहीं पाते। फिर जीवन मूल्यों की टकराहट भी न्याय की अपनी अपनी बैंच बना लेते हैं कि बाड़े और दल आमने-सामने।

लेकिन बलराम के भीतर जो आलोचक पैठा हुआ है, उसकी सजगता के आधार जरा अलग हैं। सृजन की गंगोत्री में ही जैनेन्द्र कुमार, ऐसे उगे हुए हैं कि कक्षा में ही विषय को छोड़कर उनकी कहानियों को पढ़ते हैं। और शिक्षक को बेबाकी से सच कह देते हैं। फिर जो साहित्यिक पत्रकारिता का संपादक है, वह इतने कच्चे-पक्के से गुजरता है कि मूल्यांकन और चयन के आधार बनने लगते हैं। पर साहित्यिक पत्रकारिता की टेबल इतना जल्दी पिण्ड नहीं छोड़ती। वह बाध्य करती है अपने समय के प्रख्यात रचनाकारों को, पूर्ववर्ती रचनाकारों को; जिन्होंने उस विधा और वैचारिक-विश्व को जिया है और कथा-बंध दिया है। बात यहीं तक समाप्त नहीं होती। साहित्यिक या सामान्य पत्रकारिता में भी अभिव्यक्ति का लोकतंत्र इतना मजबूत नहीं होता कि किसी बात को खरी-खरी सुनाकर स्वीकार या रद्द किया जा सके। और पदांकन-पदोन्नति के लिए ठकुरसुहाती के बोल भी अपना काम करते हैं। मगर सच के लिए दबंगई दिखाती या आँखें तरेरती हुई मुद्राएँ भी संघर्षों की कथा से परहेज नहीं करतीं। इतनी सारी रचनाओं, विश्व के रचनाकारों और वैचारिक दुनिया की पुस्तकों से रूबरू होते हुए भीतर का आलोचक तो पकता ही है। और यह पका हुआ आलोचक राष्ट्रीय-प्रान्तीय पुरस्कारों में चयन होने की-प्रक्रिया में अपने वाजिब मुद्दे उठाये तो सृजन की बेहतरी के तर्क भी अपने मूल्यमान गढ़ने के लिए उतना ही उत्तरदायी। और इतने जलसों, समारोहों, सृजनात्मक अनुष्ठानों में बहस-मुबाहिसे भीतर के आलोचक, तुलनात्मक विवेचक, मूल्यों से रूबरू विमर्श और शिल्प चेतना के मूल्यांकन के बगैर तो फूट ही नहीं सकते।

बलराम कथाकार हैं, आत्मकथात्मक संस्मरणकार हैं, साहित्यिक पत्रकारिता के हस्ताक्षर हैं। पर इन सबरे भीतर पैदा एक आलोचक बेबाकी से अपनी बात कहे बगैर नहीं रह पाता। हालाँकि यह आलोचक हिन्दी की शास्त्रीय आलोचना से दूर है, प्राध्यापकीय विवेचनाओं से भी उतना ही निस्संग। पर सब तरफ से इतनी सारी चीजों से गुजरकर डिडक्टिव हो जाता है- 'कोई रचनाकार अपनी किसी कृति की व्याख्या करते दिखे तो समझो कि उस रचना के सृजन में उससे कोई चूक रह गयी है। और यदि रचना-प्रक्रिया के बारे में बताए तो समझो कि उसका वक्तव्य अधूरा है, जिसे पूरेपन में व्यक्त करना लगभग असंभव है।' यह अकेली धुरी नहीं है। क्योंकि एक बेहद संपन्न पाठक हैं बलराम। 'माफ करना यार' पुस्तक भले ही संस्मरणात्मक आत्मकथा हो, पर यह आत्मकथा इतने लेखकों, विदेशी नामवर लेखकों, अनेक विधाओं के लेखकों और उनकी हरतरह की टकराहटों से इतनी अनुगूँज पैदा करती है कि अन्ततः सच्चा पाठक अपने ही स्वानुभूत को ही कसौटी बना लेता है। यहीं बलराम का आलोचनात्मक विवेक एक खुली वैचारिक पाठकीयता से सराबोर नजर आता है।

इतनी पुस्तकें तो मैंने लम्बे प्राध्यापकीय जीवन में भी नहीं पढ़ीं, जितनी कि बलराम की इस आत्मकथात्मक पुस्तक में विवेचित हैं। अब इतने-इतने लेखक और पुस्तकें, देश-विदेश की विचारधाराओं के परिदृश्य आत्मकथा में शामिल हो जाएँ, तो आत्मकथा कहाँ रह पाती है? बल्कि अपने समकाल को आत्मकथा में सँजोती हुई एक समृद्ध पाठकीय आलोचना का ऐसा अध्याय रच जाती है, जो साहित्यिक सरोकारों वाली आत्मकथा के साथ आलोचना के मानदंडों को भी समृद्ध करती है। जैनेन्द्र अज्ञेय से लेकर चित्रा मुद्गल-ओम थानवी तक, नामवर से लेकर परमानन्द श्रीवास्तव तक, शमशेर से लेकर कन्हैयालाल नंदन तक, बच्चन से लेकर संधू करमाकर की आत्मकथा तक। धर्मयुगीन पत्रकारिता से लेकर प्रभाष जोशी-राजेन्द्र माथुर तक। तसलीमा नसरीन से लेकर कन्नड़ के उपन्यासकार भैरप्पा तक। इतना ही नहीं अल्बेयर कामू-लोठार लुत्से-फ्रैंज काफ्का से लेकर रमेशचन्द्र शाह तक। और बात केवल पाठकीयता की नहीं है। उनका समय, वैचारिक निवेश, वैयक्तिक संघर्ष, विचारधाराएँ और विश्व-युद्ध, दर्शन और उनके अंतर्विरोध, गुटीयता और खेमेबाजियाँ, पुरस्कार और उपेक्षा इन सबके भीतर से गुजरते हुए शताधिक लेखकों की अनेक विविधवर्णी पुस्तकों पर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ बलराम के सुपठित आलोचक से बहुत कुछ कहलवा देती हैं। इनमें विधागत वैचारिकता भी है, विमर्शों के अंतर्विरोध भी हैं, लेखकीय गुटों की टकराहटें भी हैं, पुरस्कारों के अंतर्जाल भी हैं, पत्रकारिता के संस्थानों की आंतरिक राजनीति भी है। पर इन सारे पहाड़ी रास्तों से खलखलाते हुए वे बेबाक स्थापनाएँ कर जाते हैं।

ऐसे सुपठित के सामने जब विचारधाराओं की गुटीय प्रतिबद्धता अंतर्विरोधों के पाट रचती है, तो बलराम सीधे-सीधे कह जाते हैं-'लेकिन अनुभवों से हमने यह भी जाना कि एक सीमा के बाद क्या तो वामपंथ और क्या दक्षिण पंथ दोनों ही मनुष्य को पार्टी-रोबोट में बदल देते हैं!' पर वे उस धुरी पर आने का मशविरा दिये बगैर नहीं रहते-'विचार और विचारधाराओं की भिन्नता के बावजूद साहित्यकारों को एक-दूसरे के साथ बैठना और संवाद जरूर करते रहना चाहिए। इसका लाभ यह होता है कि प्रगतिशीलता और कलात्मकता एक-दूसरे के विरोधी होकर खड़े नहीं होते।' सच तो यह है कि विचारधाराएँ बलराम के लिए तटबंध नहीं बनाती। उनका सहदय आलोचक उस ताप को आँकता है, जो रचनाओं में मानवीय संवेदन का पक्षधर होता है। विवशताओं में भी उजास देता है। अपने सर्वाधिक पठित से उसको तौलता है।

यही नहीं इतने सुपठित से स्वयं को अभिवर्धित या परिष्कारित करता उनका आलोचक समावेशी बना रहता है। बलराम का लेखन और जीवन बहती हुई नदी-सा है, जो चट्टानों से टकराकर भी अपना रास्ता भँवर से निकाल लेती है, फिर-फिर मंथर गति से प्रवाहित हो जाती है। ये टकराहटें चाहे विचारधारा की हों, साहित्यिक पत्रकारिता के संपादन कर्म की हों, मित्र साहित्यकारों के बीच विवाद-संवाद की हों, प्रकाशन समूह या संपादन-मंडल की क्यों न हों। मगर इन सब में न तो झुकने और न ही पूर्वाग्रह पालने की मानसिकता उनके सर्जक और आलोचक को बेलाग बनाये रखती है।

एक और अक्स है, जो बलराम के आलोचक को किसी लेखक या समकाल के परिदृश्यों के जीवन्त घटनाचक्र से जोड़े रखता है। बरसों पहले जीवनीपरक आलोचना का भी अपना पक्ष था। पक्ष यह भी था कि रचनाएँ आखिर लेखक की माँस-पेशियों और मानसिक अंतर्विरोधों से ही गुजरकर आती हैं; तो अमूर्त ही सही उसका जीवनांश तो रचनाओं में समाया रहता है। बलराम भी आत्मकथाओं और संस्मरणों में इसे लक्षित करते हुए कहते हैं-'लेखकों की डायरियाँ एक तरफ जहाँ हमें दूसरे लेखकों के जीवन और लेखन को समझने में मददगार साबित होती हैं, वहीं खुद डायरी-लेखक के जीवन और साहित्य को खोलने की कुंजी भी वहाँ मौजूद रहती है।' यह अलग बात है कि आलोचना का एक मान यह भी है-'कथा का विश्वास करो कथाकार का नहीं।' पर वस्तुपरक आलोचना की अपनी सरहदों के बावजूद प्रतीकवादी मलार्मे का यह कथन चुंबकीय तो बन ही जाता है-'मैं उस केन्द्र में दिव्य मकड़े (सेक्रेड-स्पाइडर) की तरह वास करता हूँ, अपनी ही चेतना द्वारा बुने हुए तारों पर टँगा हुआ, सौन्दर्य के अन्तराल में झलकते हुए रहस्यमय विन्यासों की झलक पाता हुआ।' यही नहीं अस्तित्ववादी काफ्का के भीतर का कुहासा यह कहने के लिए बाध्य कर देता है-'थियोसॉफी मेरे समूचे वजूद को अपनी तरफ खींच रही है। मगर सबसे ज्यादा डर भी उसी से लगता है। डर यही कि यह मुझे नये संभ्रम मे न पटक दे। उससे ज्यादा बुरा मेरे साथ और क्या हो सकता है, क्योंकि मेरी जो दुर्दशा है, वह भी पूरी तरह कन्फ्यूजन (संभ्रम) की ही है।' बलराम का आलोचक इन

जीवन संघर्षों की, विचारधाराओं, साहित्यकारों के आपसी पेंचों की अनदेखी भी नहीं करते, फिर भी कृति के आन्तरिक पक्ष के वैचारिक संवेदन को केन्द्रीय बना देते हैं।

मूल्यांकन के नजरियों में भी आलोचकों के पक्ष-विपक्ष को पहचानते हैं। मसलन सामाजिकता, प्रगतिशीलता और कन्टेन्ट के प्रति दुराग्रह के स्तर पर तक कठोर रहने वाले ज्ञानरंजन और धुर कलावादी कृष्ण बलदेव वैद को लेकर। पर बेबाकी से बलराम कहेंगे-'नामवर सिंह भी 'पहल' का मूल्यांकन अगर विचारधारा के प्रचार-प्रसार की बजाए विशुद्ध साहित्यिक नजरिए से करेंगे तो निष्कर्ष 'पहल' और ज्ञानरंजन के विरुद्ध ही जाएँगे।'

यही बात शमशेर के बारे में अज्ञेय के कथन को लेकर- 'शमशेर क्रांति के कवि नहीं, प्रेम और सौंदर्य के कवि रहे। वे खुद को कबीर और जायसी की परम्परा में पाते थे।' नारी विमर्शों में वे राजेन्द्र यादव-मन्नू भंडारी प्रसंगों में नारी अस्मिता की झूठी पक्षधरता को मन्नू भंडारी के संवाद से केन्द्रीय बना देते हैं-'भविष्य में राजेन्द्र के साथ मेरी फोटो मत छापना! आखिर हम दोनों अलग-अलग लेखकीय और सामाजिक हैसियत रखते हैं कि नहीं?' विचारधाराओं, व्यक्तित्वों, शिखरों और संपादकों से बेपरवाह बलराम नामवर के लिए उपर्युक्त भले ही लिख दें पर उनकी पुस्तक 'गद्यपर्व' की प्रशंसा किये बिना नहीं रहते।

ये सारे अक्स बलराम को समूचे परिवेश से निरपेक्ष नहीं बनाते बल्कि इन सबके बीच जीते हुए तटस्थ बनाए रखते हैं। सृजन हो या आलोचना, वे इस मूल मंत्र पर गढ़े से लगते हैं-'छपने की चिंता किये बगैर लिखने की आदत को कमलेश्वर ने पंख दिये तो भारती ने डैनों को मजबूती। शानी ने साहित्यिक दुनिया में बेखौफ होकर जीने का मंत्र दिया, तो नंदन ने कृष्ण जैसा लचीलापन और विष्णु खरे ने जरूरी कठोरता दे दी।' इनमें भारती और विष्णु खरे से तो इनके पंगे भी रहे, पर इनकी ग्राह्यता भी अपनी जगह है। लेखकीय रिश्तों में सामूहिक या निजी प्रसंगों में वे अजितकुमार के संबंध में लिखते हैं- 'प्रगतिशील विचारधारा की ओर अजित कुमार के रुझान को वे (अज्ञेय) भली-भाँति जानते थे, साथ ही यह भी कि उनकी आंतरिक प्रतिबद्धता साहित्यिक उन्मुक्तता के प्रति थी। दलगत राजनीति के प्रति नहीं। 'और यहीं तक आते-आते बलराम निराला के जीवन-राग तक आते हैं'-प्रतिक्षण जीते हुए सहसा सदा के लिए सो जाना या हरदम निशेष होते हुए अचानक जी उठना।

कथा साहित्य के माध्यम से बलराम ने लोक जीवन के संघर्षों को जिस तरह से विश्लेषित किया है, वह लोक और इतिहास के मिलन के बहाने समाजशास्त्रीय पहलुओं को सँजोता है। 'नीला चाँद' और कामतानाथ के 'काल कथा' के बहाने जातीय जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आजादी के बाद के परिदृश्यों की गहरी पड़ताल के संकेत दिये हैं। लेकिन हिन्दी कहानी की व्यावहारिक समीक्षा 'समकालीन हिन्दी कहानी' में आकार ले पाई। इन कहानियों में गाँव-जवार का जीवन भी है और लोक जीवन की ग्रामीण भाषा में दृश्य चित्रांकन भी। इसमें कई दशकों के कथाकार हिन्दी कहानी की यात्रा को जितना समृद्ध बनाते हुए संकलित हुए हैं, उनकी समीक्षा एक सहृदय भाव के साथ हुई है। परन्तु समाजशास्त्रीय पक्षों के रागात्मक, अंतर्विरोधों और परिदृश्यों में यथार्थ को बुनते हुए।

एक कथाकार द्वारा अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी, समकालीन पीढ़ी और मरी नवागत पीढ़ी का सहदय किन्तु तटस्थ विश्लेषण कथा-समीक्षा को व्यावहारिक मान देता है। शास्त्रीय आलोचना की लीक से हटकर जिस तरह अंतर्वस्तु की बुनावट और भाषा पर वे बात करते हैं, वह उनकी धारणाओं की अपनी सहजता है। साहित्यिक-विद्वेषों की छाया से सर्वथा अलग। विचारधाराओं की भिन्नता के बावजूद अन्तर्वस्तु की पड़ताल। अलबत्ता लेखकीय मूल्यांकन के उनके आधार हैं-एक ही साँस में पढ़वा लेने का आकर्षण, पाठक की संवेदना को गहरे छूकर सहलाने की क्षमता, आत्म से अनात्म की दौड़ और कथाकार का बहुज्ञ होना। निश्चय ही सैद्धांतिक या प्रतिबद्धता के साँचों से हटकर बलराम की समीक्षा दृष्टि रचना-केन्द्रित होकर समाजशास्त्रीय परिदृश्यों में लोक, जीवन को लक्षित करती है। सारिका, नवभारत, रविवार, लोकायत जैसी पत्रिकाओं के संपादन सहकार से बलराम ने अपने कथा सृजन के साथ अपने आलोचक को भी भीतर में जीवंत रखा है।

फ्लैट नं-701 टॉवर-27
नॉर्थ टाउन अपार्टमेंट
स्टीफेंशन रोड (बिन्नी मिल्स) पेरंबूर
चेन्नई -600012 (तमिलनाडु)
मो-9425083335

हिंदी में कथेतर गद्य के विकास की संभावनाएँ

- शैलेन्द्र चौहान

जन्म - 8 फरवरी 1954।
जन्मस्थान - जालौन (उ.प्र.)
शिक्षा - बी. ई.।
रचनाएँ - सात पुस्तकें प्रकाशित।

हिंदी साहित्य में सर्वाधिक लिखी जाने वाली विधा कविता है। फिर कहानी का नंबर आता है जिसमें उपन्यास भी शामिल हैं। व्यंग्य भी लिखे जाते हैं, नाटक भी और आत्मकथ्य भी। निबंध, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, रेखाचित्र, डायरी आदि कम देखने में आते हैं। इन कथेतर विधाओं पर बात भी अत्यल्प होती है। जबकि ये रोचक और ज्ञानवर्धक विधाएँ हैं। इनका संज्ञान लिया जाना चाहिए। इनकी चर्चा और मूल्यांकन होना चाहिए। आज के समय में इनका प्रभाव क्षेत्र विस्तृत होने की पर्याप्त संभावनाएँ हैं। आज का पाठक साहित्य की प्रचलित विधाओं से इतर कुछ पढ़ना चाहता है। इसलिए हमारा दायित्व है कि इनकी जानकारी हिंदी साहित्य के पाठकों तक पहुँचाई जाए।

संस्मरण :- स्मृति के आधार पर किसी विषय पर अथवा किसी व्यक्ति पर लिखित आलेख संस्मरण कहलाता है। यात्रा साहित्य भी इसके अन्तर्गत आता है। संस्मरण को साहित्यिक निबन्ध की एक प्रवृत्ति भी माना जा सकता है। ऐसी रचनाओं को 'संस्मरणात्मक निबंध' कहा जा सकता है। व्यापक रूप से संस्मरण आत्मचरित के अन्तर्गत लिया जा सकता है। किन्तु संस्मरण और आत्मचरित के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। आत्मचरित के लेखक का मुख्य उद्देश्य अपनी जीवनकथा का वर्णन करना होता है। इसमें कथा का प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है। संस्मरण लेखक का दृष्टिकोण भिन्न रहता है। संस्मरण में लेखक जो कुछ स्वयं देखता है और स्वयं अनुभव करता है उसी का चित्रण करता है। लेखक की स्वयं की अनुभूतियाँ तथा संवेदनायें संस्मरण में अन्तर्निहित रहती हैं। इस दृष्टि से संस्मरण का लेखक निबन्धकार के अधिक निकट है। वह अपने चारों ओर के जीवन का वर्णन करता है। इतिहासकार के समान वह केवल यथातथ्य विवरण प्रस्तुत नहीं करता है। पाश्चात्य साहित्य में साहित्यकारों के अतिरिक्त अनेक राजनेताओं तथा सेनानायकों ने भी अपने संस्मरण लिखे हैं, जिनका साहित्यिक महत्त्व स्वीकारा गया है।

संस्मरणों को साहित्यिक रूप में लिखे जाने का प्रचलन आधुनिक काल में पाश्चात्य प्रभाव के कारण हुआ है। किन्तु हिन्दी साहित्य में संस्मरणात्मक आलेखों की गद्य विधा का पर्याप्त विकास हुआ है। संस्मरण लेखन के क्षेत्र में हमें अत्यन्त प्रौढ़ तथा श्रेष्ठ रचनाएँ हिन्दी साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

हिन्दी के प्रारंभिक संस्मरण लेखकों में पद्म सिंह शर्मा हैं। इनके अतिरिक्त बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा तथा रामवृक्ष बेनीपुरी आदि हैं। चतुर्वेदी ने 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' शीर्षक कृतियों में अपने विविध संस्मरण आकर्षक शैली में लिखे हैं। हिन्दी के अनेक अन्य लेखकों तथा लेखिकाओं ने भी बहुत अच्छे संस्मरण लिखे हैं। उनमें से कुछ साहित्यकारों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। श्रीमती महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'अतीत के चलचित्र' संस्मरण साहित्य की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। रामबृक्ष बेनीपुरी की कृति 'माटी की मूरतें' में जीवन में अनायास मिलने वाले सामान्य व्यक्तियों का सजीव एवं संवेदनात्मक कोमल चित्रण किया गया है।

इनके अतिरिक्त देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीतों का संग्रह करने हेतु देश के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रायें की थीं, इन स्थानों के संस्मरणों को भावात्मक शैली में उन्होंने लिखा है। 'क्या गोरी क्या साँवली' तथा 'रेखाएँ बोल उठीं' सत्यार्थी के संस्मरणों के अपने ढंग के संग्रह हैं। भदन्त-आनन्द कोसल्यायन ने अपने यात्र जीवन की विविध घटनाओं तथा परिस्थितियों के संदर्भ में जो अनेक पात्र मिले उनके सम्बन्ध में अपने संस्मरणात्मक आलेखों को दो संकलनों 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' में संगृहीत किया है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने 'भूले

हुए चेहरे' तथा 'दीपजले शंख बजे' में अपने कतिपय अच्छे और आकर्षक संस्मरण संकलित किये। संस्मरण को साहित्यिक निबन्ध की एक प्रवृत्ति भी माना जा सकता है। ऐसी रचनाओं को संस्मरणात्मक निबंध कहा जा सकता है। गुलाबराय की कृति 'मेरी असफलताएँ' को संस्मरणात्मक निबन्ध की कोटि में रखा जा सकता है। हिन्दी के अन्य अनेक लेखकों ने भी अच्छे संस्मरण लिखे हैं जिनमें प्रमुख है राजा राधिकारमण सिंह की 'सावनी समां', और 'सूरदास', रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'लोकदेव नेहरू ' व संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ', डॉ. रामकुमार वर्मा की 'संस्मरणों के सुमन' आदि।

हिंदी निबंध :- आधुनिक हिंदी गद्य-विधाओं में निबंध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका उद्भव भी भारतेन्दु युग से ही स्वीकार किया जाता है। कतिपय समीक्षक सदासुख लाल अथवा राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद को हिंदी का पहला निबंधकार मानते हैं, परन्तु एक सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित निबंध-परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समसामयिक निबंधकारों से ही होता है।

हिंदी निबंध के विकास को चार भागों में बाँटा गया है-

1. भारतेन्दु युग
2. द्विवेदी युग
3. शुक्ल युग
4. शुक्लोत्तर युग

1. भारतेन्दु युग (1868 ई. से 1900 ई.)

गद्य की अन्य विधाओं के साथ ही भारतेन्दु युग से हिंदी निबंध का सूत्रपात एवं विकास होता है। इस युग के निबंधकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, श्री निवासदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिंदी गद्य के जन्मदाता हैं। वे इस युग के प्रतिभा सम्पन्न निबंधकार हैं। उन्होंने समाज, राजनीति, धर्म, इतिहास, साहित्य आदि विविध विषयों पर निबंध-रचना की है। इनके यात्रा संबंधी निबंध भी विशेष महत्त्व रखते हैं। जिन्दादिली, आत्मीयता एवं व्यंग्यात्मकता भारतेन्दु के निबंध-साहित्य की विशेषताएँ हैं।

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार कहे जा सकते हैं। भट्ट जी हिंदी प्रदीप पत्रिका के सम्पादक थे। इनके निबंध भट्ट निबंधमाला, भट्ट निबंधावली तथा साहित्य सुमन संग्रहों में संकलित हैं। विचारात्मक एवं भावात्मक दोनों प्रकार के निबंधों की रचना में भट्ट जी सफल रहे हैं। प्रतापनारायण मिश्र इस युग के स्वच्छन्द एवं मस्तजीवी निबंधकार हैं। इनके निबंध ब्राह्मण पत्रिका में प्रकाशित होते थे। प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली में इनके निबंध संग्रहीत हैं। मनोरंजन तथा व्यंग्य इनके निबंधों की विशेषताएँ हैं। समग्र रूप से भारतेन्दु युग के निबंधों में हास्य-व्यंग्य, देश- प्रेम, समाज- सुधार और मनोरंजन जैसी विशेषताएँ प्रधान रूप से पाई जाती हैं।

द्विवेदी युग (1901 ई. से 1920 ई.) द्विवेदी युग के प्रवर्तक महावीर प्रसाद द्विवेदी आचार्य, समीक्षक और निबंधकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। आचार्य द्विवेदी ने सरस्वती के सम्पादक रहते हुए विविध विषयों पर निबंधों की रचना की। उन्होंने संस्कृति, साहित्य, समाज, धर्म, शिक्षा, इतिहास आदि विषयों पर विचारात्मक एवं आलोचनात्मक निबंधों की रचना की। उनके निबंधों में विचारों एवं तथ्यों को प्रधानता है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्म सिंह शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दरदास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के प्रसिद्ध निबंधकार हैं। इस युग के निबंधों से निबंध का विचार क्षेत्र व्यापक हुआ है। विचार-प्रधान निबंधों की रचना में इस युग के लेखक को सफलता मिली है, परन्तु भारतेन्दु युगीन आत्मीयता जिन्दादिली तथा सजीवता का इस युग के निबंध में अभाव है।

शुक्ल युग (1921 ई. से 1940 ई.) शुक्ल युग के निबंधकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शीर्षस्थ हैं। आचार्य शुक्ल ने मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबंधों की रचना की है, जो चिन्तामणि (दो भाग) में संग्रहीत हैं। शुक्ल जी के निबंध विचारात्मक निबंधों का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इनमें बुद्धि और भाव का सन्तुलित समन्वय मिलता है। उत्साह, करुणा, भय आदि शुक्ल जी के मनोभाव संबंधी प्रसिद्ध निबंध हैं। कविता क्या है? आदि इनके साहित्यिक एवं समीक्षात्मक निबंध हैं। शुक्ल जी की भाषा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति में पूर्णतया सक्षम है।

शुक्ल युग के निबंधकारों में बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, महादेवी वर्मा, राहुल सांकृत्यायन आदि उल्लेखनीय हैं। इन निबंधकारों की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। बाबू गुलाबराय ने आत्म-परक निबंधों की रचना

की है। महादेवी के निबंध संस्मरणात्मक हैं। राहुल के निबंधों में विषय-वैविध्य है। सियारामशरण गुप्त के निबंध वैयक्तिक हैं। इस युग में श्रीराम शर्मा ने आखेट विषयक निबंध लिखे हैं। डॉ. रघुवीर सिंह के भावात्मक निबंध भी प्रसिद्ध हैं। शुक्ल युग के इन निबंधकारों में विचारों की गम्भीरता के साथ-साथ भाषा-शैली की प्रौढ़ता भी मिलती है।

शुक्लोत्तर हिंदी निबंध (1940 ई. से अब तक) शुक्लोत्तर युग के निबंधकारों में हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने ललित निबंधों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्हें सांस्कृतिक चेतना का निबंधकार माना जा सकता है। प्राचीन और नवीन का सामंजस्य उनकी उल्लेखनीय विशेषता है। अशोक के फूल, कुटज, कल्पलता, आलोक पर्व आदि संग्रहों में द्विवेदी जी के निबंध संग्रहीत हैं। उनकी भाषा प्रौढ़ है और शैली में व्यंग्य-विनोद। इस युग के अन्य निबंधकारों में वासुदेवशरण अग्रवाल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, भगतशरण उपाध्याय, जैनेन्द्र, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, डॉ. सत्येन्द्र आदि के नाम भी पर्याप्त चर्चित है। इसी क्रम में ललित निबंध के मार्ग को जिन्होंने प्रशस्त किया है उन निबंधकारों में डॉ. विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, हरिशंकर परसाई, कुबेरनाथ राय, विवेकी राय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने निबंध के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। इन्होंने आचार्य द्विवेदी की सांस्कृतिक-साहित्यिक ललित निबंध-परम्परा को विकसित किया है। छितवन की छाँह, कदम की फूली डाल, तुम चन्दन हम पानी आदि मिश्र जी के निबंध-संग्रह हैं। इनके निबंधों में अनुभूति और चिन्तन का मेल है और भाषा में लालित्य और प्रवाह है। हरिशंकर परसाई हास्य व्यंग्य-प्रधान निबंधों के लिए प्रसिद्ध हैं।

यात्रा वृत्तान्त :- हिन्दी साहित्य में यात्रा वत्तान्त एक आधुनिक गद्य विधा के रूप में स्वीकृत है। हिन्दी में यात्रा-वृत्तान्त लिखने की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु से माना जाता है। इनके यात्रावृत्त विषयक रचनाएँ कविवचनसुधा में प्रकाशित होती थीं। राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय और नागार्जुन को आधुनिक हिंदी साहित्य का 'घुमक्कड़ बृहतत्रयी' कहा जाता है।

भारतेन्दु ने विभिन्न स्थलों की यात्रा की और अपने अनुभवों को साझा किया। यात्रा वृत्तांत के रूप में उनके कुछ संस्मरण हैं- सरयू पार की यात्रा, लखनऊ की यात्रा, हरिद्वार की यात्रा। भारतेंदु युग में ही कुछ लेखकों के द्वारा विदेश यात्रा के वत्तांत भी लिखे गए। इसी प्रकार द्विवेदी युग में भी विभिन्न यात्रा वत्तान्त लिखे गए श्रीधर पाठक की देहरादून, शिमला यात्रा। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'मेरी कैलाश यात्रा', अमेरिका भ्रमण आदि। सबसे महत्त्वपूर्ण यात्रावृत्तान्त लेखक राहुल सांकृत्यायन माने जाते हैं। उन्होंने विभिन्न देशों की यात्रा की और यात्रा में आने वाली कहानियों को बताने के साथ-साथ उस स्थान विशेष कि प्राकृतिक संपदा, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं को भी बारी-बारी से प्रस्तुत किया जैसे-किन्नर देश में, दार्जिलिंग परिचय, यात्रा के पन्ने आदि।

राहुल सांकृत्यायन का नाम जब भी सामने आता है तो स्मृति में सबसे पहले आती है घुमक्कड़ी। उनकी एक पुस्तक का नाम भी है-घुमक्कड़ शास्त्र, इसके अलावा भी उन्होंने कई पुस्तकें यात्रा और भ्रमण पर लिखी हैं। महापंडित कहे जाने वाले राहुल सांकृत्यायन वास्तव में यायावर थे, लेकिन वैसे यायावर नहीं जो सारी सुविधाओं के साथ घूमने जाते हैं। वे लिखते हैं कि 'बढ़िया से बढ़िया होटलों में ठहरने, बढ़िया से बढ़िया विमानों पर सैर करने वालों को घुमक्कड़ कहना इस महान शब्द के प्रति भारी अन्याय करना है।' राहुल सांकृत्यायन ने कोलकाता, काशी, दार्जिलिंग, तिब्बत, नेपाल, चीन, श्रीलंका, सोवियत संघ समेत कई देशों का भ्रमण किया। वे एक साधारण घुमक्कड़ नहीं थे जो किसी देश में जाकर वहाँ के भूगोल मात्र से प्रभावित हो लें। वह खच्चर पर किताबें लादकर तिब्बत से भारत ले आए थे। वे जहाँ जाते, वहाँ की संस्कृति को भी आत्मसात् करते। 30 भाषाएँ जानते थे और 140 किताबों के लेखक थे। अद्भुत तर्कशास्त्री थे, समाजशास्त्र, दर्शन, इतिहास, अध्यात्म जैसे विषयों के ज्ञाता थे। संभवतः यह सभी उनके घुमक्कड़ स्वभाव के कारण ही उन्हें मिला। अपने आप में घुमक्कड़ होना या मात्र साहित्यकार होना एक व्यक्ति को अन्य से अलग करता है पर राहुल तो दोनों थे। अपने घूमने के स्वभाव के कारण वह अपनी जड़ों से कभी नहीं कटे। समाज के विभिन्न वर्गों के लिए अपनी आवाज़ बुलंद करते रहे। उन्होंने कहा कि, 'घुमक्कड़ होने का अर्थ यह नहीं कि उसका अपनी मातृभूमि से प्रेम ही न हो।' राहुल भी जीवन के आख़िरी पड़ाव में अपने गाँव लौट आए थे। एक साहित्यकार की दृष्टि से यायावरी के क्या अनुभव हो सकते हैं, यह जानने के लिए राहुल सांकृत्यायन को अवश्य पढ़ना चाहिए।

राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं–'व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ों पर निर्भर करता है, इसलिए मैं कहूँगा कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़-व्रत ग्रहण करना चाहिए, इसके विरुद्ध दिए जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ मानना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते हैं, तो समझाना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण हैं। यदि हित-बांधव बाधा उपस्थित करते हैं, तो समझाना चाहिए कि वे दिवांध हैं। धर्म-धर्माचार्य कुछ उलटा-सीधा तर्क देते हैं, तो समझ लेना चाहिए कि इन्हीं ढोंगों और ढोंगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने नहीं दिया। यदि राज्य और राजसी-नेता कानूनी रुकावटें डालते हैं, तो हजारों बार की तजुर्बा की हुई बात है, कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकनेवाला दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ।

बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य-सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंककर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक से अधिक बार किया है। पहली तिब्बत यात्रा में अंग्रेजों, नेपाल-राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों की आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं, कि यदि कोई तरुण-तरुणी घुमक्कड़ धर्म की दीक्षा लेता है-यह मैं अवश्य कहूँगा, कि यह दीक्षा वही ले सकता है, जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है-तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की फिक्र करनी चाहिए और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। दुनिया में मनुष्य-जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।'

अपने घूमने के स्वभाव के कारण भी वह अपनी जड़ों से कभी नहीं कटे। समाज के विभिन्न वर्गों के लिए अपनी आवाज़ बुलंद करते रहे। उन्होंने कहा कि, 'घुमक्कड़ होने का अर्थ ही नहीं कि उसका अपनी मातृभूमि से प्रेम ही न हो।' राहुल भी जीवन के आख़िरी पड़ाव में अपने गाँव लौट आए थे। एक साहित्यकार की दृष्टि से यायावरी के क्या अनुभव हो सकते हैं, यह जानने के लिए राहुल सांकृत्यायन को अवश्य पढ़ना चाहिए। बाद में चलकर अज्ञेय ने अपनी यात्रा वृत्तांत के द्वारा विदेशी अनुभवों को भी एक भी एक कहानीकार की रोचकता और यात्री के रोमांचक के साथ प्रस्तुत किया है। 'एक बूँद सहसा उछली' में यूरोप और अमेरिका की यात्राओं को प्रस्तुत किया है। मोहन राकेश ने अपनी यात्रा वृत्तान्त 'आखिरी चट्टान' में दक्षिण भारत की यात्राओं का वर्णन किया है। निर्मल वर्मा ने 'चीड़ों पर चांदनी' नामक यात्रा वृत्तांत में अपनी यूरोप यात्रा का वर्णन किया है। इस यात्रा वृत्तांत में वे वहाँ के इतिहास, दर्शन और संस्कृति से सीधा संवाद करते हैं। उनके यात्रा वर्णन में संवेदनशीलता के साथ साथ बौद्धिक गहराई का भी अनुभव होता है।

डायरी लेखन :- डायरी में निजी अनुभव, प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं का लेखा-जोखा, तथ्य-संग्रह, संपर्क में आए व्यक्तियों, नए अनुभवों, नए स्थानों, नयी घटनाओं आदि का संक्षिप्त विवरण होता है। इसलिए इसे दैनंदिनी भी कहते हैं। इसे लिखने के पीछे लेखक की मंशा जीवन में घटित घटनाओं को लंबे समय तक याद रखना होता है। डायरी लेखन व्यक्ति के द्वारा लिखे गये व्यक्तिगत अनुभवों, सोच और भावनाओं को लिखित रूप में अंकित करके बनाया गया एक संग्रह है। विश्व में हुए महान व्यक्ति डायरी लेखन करते थे और उनके अनुभवों से उनके निधन के बाद भी कई लोगों को प्रेरणा मिलती है। डायरी गत साहित्य की एक प्रमुख विधा है इसमें लेखक आत्म साक्षात्कार करता है। वह अपने आपसे सम्प्रेषण की स्थिति में होता है। मानव के समस्त भावों मानसिक उद्वेगों, अनुभूति विचारों को अभिव्यक्त करने में साहित्य का सर्वोच्च स्थान है। समीक्षकों ने डायरी को साहित्य की कोटि में इसलिए रखा है क्योंकि वह किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व का उद्घाटन करती है या मानव समाज के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म और जीवंत चित्र उपस्थित करती हैं। डायरी लेखक अपनी रुचि आवश्यकतानुसार राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक साहित्यिक अधिक विभिन्न पक्षों के साथ निजी अनुभूतियों का चित्रण कर सकता है। जाहिर है कथेतर गद्य का दायरा विस्तृत है। इसपर बात होनी चाहिए।

34/242, सेक्टर-3, प्रतापनगर,
जयपुर-302033 (राज.)
मो. 7838897877

ओड़िया उपन्यास पक्षीवास : एक अध्ययन

– प्रभा पंत

जन्म – 7 जुलाई 1962।

शिक्षा – एम.ए,. पीएच.डी।

रचनाएँ – सत्रह पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान – राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित।

'पक्षी–वास' उपन्यास की रचनाकार, डॉ. सरोजिनी साहू का नाम ओड़िशा के प्रतिष्ठित कथाकारों में प्रमुखता से लिया जाता है। इनके उपन्यासों का हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी, बंगला तथा मलयालम में अनुवाद हुआ है। 'पक्षी–वास' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद, प्रख्यात अनुवादक दिनेश कुमार माली द्वारा किया गया है, जो हिन्दी और ओड़िया के मध्य सुदृढ़ रचनात्मक सेतु बनाने की दृष्टि से अत्यंत सराहनीय है। प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य हिंदी भाषी क्षेत्र के पाठकों को हिंदीतर क्षेत्र ओड़िशा के कथासाहित्य के माध्यम से वहाँ के आदिवासी जीवन, सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश एवं परिस्थितियों से परिचित कराना है; ताकि वे अपने देश के जनसामान्य की व्यथा–पीड़ा, उनके संघर्ष, समस्यादि से संवेदनात्मक तादात्म्य स्थापित कर सकें।

सोलह खण्डों में विभक्त 'पक्षीवास' उपन्यास का अध्ययन करते हुए, एक महाकाव्य के रसास्वादन–सी अनुभूति होती है। यह एक ऐसे दलित परिवार के व्यक्ति की व्यथा–कथा है, जिसकी आजीविका का साधन जंगल में रहने वाले सतनामी सम्प्रदाय के आदिवासियों की भाँति समाज की दृष्टि में निकृष्ट समझने जाने वाले अपने पैतृक व्यवसाय (मृत जानवरों की अस्थि, चमड़ादि) द्वारा अपने परिवारजनों का भरण–पोषण करना था। यद्यपि उपन्यास का मुख्य पात्र अंतरा सोनपुर स्थित, गुरु हरिदास के आश्रम में रहकर, उनसे सुनी हुयी भागवतकथा से प्राप्त अध्यात्म–दर्शन को आत्मसात करके, जीवन में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों में समदर्शी होकर डटे रहने का प्रयास करता है; किन्तु विषम परिस्थितियाँ उसे हताहत कर देती हैं कि उसके सारे सपने छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। हताशा में डूबा, वह अपने साथियों को कहानी (भागवत में अवधूत द्वारा यदूराजा को सुनाई गयी कहानी) सुनाकर समझाता हुआ, स्वयं को भी समझाता है, 'यह संसार भी ऐसे ही जाल की तरह है। तू सुख के पीछे जितना भागेगा, उतना ही इस जाल में फँसता चला जाएगा। बचकर निकलने का कोई भी रास्ता नहीं मिलेगा।'

उपन्यास का प्रारम्भ जहाँ एक ओर पाठक को ओड़िशा के प्राकृतिक सौंदर्य–समृद्धता के सजीव चित्रण से मंत्रमुग्ध कर देता है, वहीं दूसरी ओर उनके मन को वनवासियों के संघर्षयुक्त जीवन की व्यथा–पीड़ा को जानने की जिज्ञासाओं से भी भर देता है। वसन्त के आते ही 'कोयल की कूक से मानो आम के पेड़ों को नवयौवन मिल जाता था, तथा श्वेत–धवल चाँदनी की भाँति आम के पेड़ मंजरी से ढक जाते थे। जब मंजरी सूखती, छोटे फल आते, उसी समय महुआ के फूल अपनी पंखुड़ियों को टिप–टिप करके खोलते। महुआ के फूलों से आकर्षित होकर गाँव की तरफ हाथियों के झुंड आ जाते थे। तब सब कुछ समाप्त हुआ नज़र आता था। छत, छप्पर, दरवाजे आदि हाथियों के लिए कुछ भी नहीं थे। वे किसी छोटे बच्चे को अपने पाँवों से रौंदकर आगे निकल जाते, किसी को अपनी सूँड से उठाकर धरती पर पटक देते थे। इतना होने के बावजूद 'महुली दारू' बनाई जाती थी। महुआ के फूलों की महक वातावरण में फैलती थी, तथा मनुष्यों और हाथियों को मतवाला बनाती थी।'

उपन्यास का मुख्यपात्र अंतरा और उसकी पत्नी सरसी, प्रत्येक माता–पिता की तरह अपने बच्चों के सुखद जीवन का स्वप्न देखते हैं। अंतरा अपने पुत्रों को पढ़ा–लिखाकर कलेक्टर, डॉक्टर और वकील बनाना चाहता है; जबकि माँ की अभिलाषा उन्हें, उनके पैतृक व्यवसाय से मुक्त होते हुए देखना है। वह कहती है कि मेरा बेटा 'भले ही कलेक्टर न हो, परन्तु गाँव–गाँव घूमकर लाशों की हड्डियाँ इकट्ठाकर पेट न पाले।' किन्तु, अशिक्षा, अज्ञानता, निर्धनता तथा स्वार्थसिद्धि में लिप्त भ्रष्टाचारी परिवेश उन्हें इतना विपन्न बना देता है कि माता–पिता अपने बच्चों को भरपेट भोजन देने में भी स्वयं को असमर्थ पाते हैं। ऐसे में

विवश होकर उन्हें वह भी करना पड़ता है, जो वह नहीं करना चाहते। उपन्यास की प्रमुख पात्र सरसी घर पर खाने-पीने का सामान न होने पर अपने भूखे बच्चों का ध्यान भूख से हटाने के लिए उन्हें कहानी सुनाया करती थी, जिसे सुनते-सुनते बच्चों को नींद आ जाती थी।

एक ही माता-पिता की संतान होते हुए भी प्रत्येक बच्चे का स्वभाव, गुण और प्रतिभा दूसरे से भिन्न होता है; पक्षीवास उपन्यास इसका उदाहरण है। अपनी माँ सरसी से जंगल तथा शबर की कहानी सुन-सुनकर पाँच-छः साल के संन्यासी के मन में उनके चित्र उभरने लगते थे। सरसी को अपने घर की दीवारों पर तोता, मैना, गाय, भैंस, फूल-पत्ती जैसे चित्र बनाते देखकर, बालक संन्यासी भी वैसे ही चित्र कभी नदी किनारे रेत पर अँगुली से बनाता है; कभी पहाड़ के ऊपर बड़े पत्थर पर हिरन को दबोचे हुए बाघ, तथा बाघ को मारने के लिए तीर चलाते शबर का चित्र चॉक से उकेरता है, और कभी मेम साहब के आग्रह पर चॉकलेट पाने की लालसा में उन्हें कागज़ पर बनाकर भी दिखाता है। फादर इमानुअल साहब की पत्नी संन्यासी के इस चित्रकला कौशल को देखकर, इतनी प्रभावित होती है कि समाज में तिरस्कृत, निर्धन परिवार के उस बच्चे को सम्मान जनक भविष्य देने का निश्चय करके, एक दिन उसे अपने साथ ले जाने के भाव से अंतरा और सरसी के घर पहुँच जाती है, और उसके बेटे को अपने लिए माँगती है।

किन्तु, संन्यासी की माँ तैयार नहीं होती। बेटे को कलेक्टर के रूप में देखने वाला पिता, अंतरा रातभर घर के बाहर बैठा सोच में डूबा रहता है। अंततः बच्चे के उज्जवल भविष्य की कल्पना में निमग्न, वह सुबह अपनी पत्नी को समझाता हुआ कहता है- 'जाने दे उसे, यहाँ एक वक्त का खाना मिलता है, तो एक वक्त फाँका पड़ता है। मिशन में रहेगा तो दाल-भात खाकर जीवन जी लेगा। हाथी जंगल में पले-बढ़े तो भी राजा का ही होता है।'

पति के समझाने पर सरसी बच्चे को इस शर्त पर भेजने को तैयार तो हो जाती है कि उसके बेटे को ईसाई नहीं बनना चाहिये, किन्तु एक माँ का मन अपने बच्चे को स्वयं से दूर भेजने को तैयार नहीं होता। धर्म-सम्प्रदाय के भेदभाव से अनभिज्ञ, निर्मल और सरल हृदय संन्यासी का बालमन माँ को व्याकुल देखकर सोचता है-'मेम साब तो मुझे मारती-पीटती भी नहीं, पास बैठाकर केवल चित्र बनवातीं थीं, और चॉकलेट देती थीं। फिर मुझे छोड़ने की बात पर माँ इतनी परेशान क्यों।'

एक दिन जब वास्तव में वह 'मेम साब' अपनी बड़ी गाड़ी में बैठकर संन्यासी को अपने साथ ले जाने के लिये उसके घर पर पहुँच जाती हैं, तो वह बालक माँ से लिपटकर रोने लगता है। ऐसे में एक विवश पिता अपने बालक को समझाता हुआ कहता है-'जा, मेरे बेटे, उनके साथ जाने से एक दिन तू कलेक्टर बनेगा, गाड़ियों में घूमेगा, अच्छा खाने-पीने को मिलेगा। अच्छा पहनने को मिलेगा। कितनी सारी नयी-नयी जगहों पर घूमेगा।'

यथोचित परिवेश पाकर संन्यासी की चित्रकला निखरती चली जाती है, और एक दिन वह संन्यासी से क्रिस्टोफर बनकर चित्रकला का अध्यापक बन जाता है, और मिशन स्कूल के बच्चों को चित्रकारी सिखाने लगता है। उसकी प्रेयसी चैती, जिसे विवाह से पूर्व चर्च में ईसाई बनाकर 'ईसावेला' नाम दिया गया, वह अपने पति, क्रिस्टोफर के साथ दीवारों पर चित्र उकेरने में सहयोगिनी बनी रहती थी। परस्पर अगाध प्रेम करने वाले मिशन में बंधनों में जकड़े संन्यासी और चैती को तब विछोह का दंश भी झेलना पड़ता है, जब एक दिन क्रिस्टोफर को मिशन के कार्य से तीन माह के लिए जापान भेज दिया जाता है; किन्तु उसके बाद वह कहाँ लापता हुआ, यह बात संन्यासी के माता-पिता, और उसकी पत्नी कभी नहीं जान पाते।

व्यक्ति के मन पर बाल्यकालीन स्मृतियों की गहरी छाप आजीवन किस प्रकार बनी रहती है, इसकी अनुभूति चैती और संन्यासी के वार्तालाप में होती है, 'जंगल में बाँसुरी बजा-बजाकर मैंने तुमको पाया है। उस दिन मुझे क्या मालूम था लाल फ्रॉक पहनी हुई, रहस्यमयी देवी की भाँति इतनी जल्दी मेरे हाथ आ जाओगी, और बँध जाओगी मेरी बाँसुरी के सुरों में। याद है वह दिन? मैं तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पत्थर काटने वाले कारीगरों के बीच जा पहुँचा था। वहीं से खोज निकाला था, तुम्हें।'

यह कथन जहाँ एक किशोर के उमंगित मनोभावों को प्रकट करता है; वहीं दूसरा कथन जिसमें वह अपने बाल्यकाल की स्मृति को साझा करता हुआ कहता है, 'जिस दिन इमानुअल साहब की बीबी मेरी माँ से यह बोली, 'दे दे इस बच्चे को, मैं आदमी बना दूँगी।' मैं यह सोच रहा था, क्या मैं आदमी बनकर पैदा नहीं हुआ, जो मेम साहब मुझे आदमी बनाएँगी। मेरे हाथ-पैर सब कुछ तो आदमी जैसे ही हैं।'

प्रस्तुत कथन पाँच-छ: वर्षीय बालक की जिज्ञासा, उसकी बौद्धिक क्षमता का स्तर, तथा बालमनोविज्ञान को स्पष्टत: उजागर करता है। समाज में उपेक्षित तथा मानसिक व शारीरिक तौर से उत्पीड़ित लोग यथासंभव उस समाज से दूर रहने का प्रयास करते हैं, जहाँ उन्हें सम्मान नहीं मिलता। इस उपन्यास का केन्द्रबिन्दु सतनामी समुदाय भी अनेक पीढ़ियों से श्मशान घाट के पास की बस्ती में रहता था, जो गाँव के अन्य समुदायों से कुछ दूरी पर स्थित थी। विडम्बना यह है कि अहंकार एवं अल्पज्ञता के कारण अनेक वर्गों में विभक्त सवर्ण समाज की भाँति, दलित समाज भी परस्पर भेदभाव जैसी सोच के कारण उच्च-निम्न वर्गों में विभाजित है। यह सोच तब स्पष्टत: उजागर हो जाती है, जब अंतरा का बेटा संन्यासी अपनी प्रेयसी चैती को भगाकर ले जाता है, तो उसके परिवार को बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है; जबकि दूसरी बस्ती का बेजूई शबर, (चैती का पिता) अपनी आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता के कारण, अपनी जाति-बिरादरी में बना रहता है।'एक दिन शाम के समय अंतरा अपने परिवारवालों के साथ गाँव लौटा। अंतरा के लिए दु:ख जताने वाले लोग अड़ बैठे और उसे अपनी जाति से बाहर निकालने की बात करने लगे। बेईजू शबर तो भात-दाल, कद्दू की सब्जी खिलाकर अपनी जाति में शामिल हो चुका था, और इसके लिए उसने जाति भाईयों, पास-पड़ोस, गाँव के ओझा तथा बुजुर्ग लोगों को दारू भी पिलायी थी। लेकिन अंतरा के घर में चार प्राणी थे, उसको पालेगा या गाँव को भाजी-भात खिलायेगा।'

समाज का एक वर्ग वह भी है, जो स्वयं को सभ्य, सुसंस्कृत और उच्चवर्गीय होने का दावा करते हुए, औरों को हेय तथा घृणास्पद दृष्टि से देखता है; किन्तु निम्नवर्ग की महिलाओं से शारीरिक संबंध बनाने में; उनका बलात्कार करने में, अथवा उनकी विवशता का लाभ उठाकर उनकी देह का मोलभाव करने में लेशमात्र भी नहीं सकुचाता। प्रस्तुत उपन्यास, 'पक्षीवास' में डॉ. सरोजनी साहू ने समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था के आधार पर में फैली कुरीतियों, ऊँच-नीच का भेदभाव तथा छुआ-छूतादि पर कठोर प्रहार किया है। जो तालाब सतनामी लोगों के लिए नहीं था, 'सुना' जान-बूझकर उस तालाब में नहाती है। इस तरह वह उच्चवर्ग वालों के प्रति अपने भीतर दबे आक्रोश को खुलेआम विद्रोह करके प्रकट करती है। घनश्याम सतनामी की पत्नी, 'सुना' को आते देख लिया था, बटो नायक ने। जब 'सुना' पत्थर की सीढ़ियों से होकर आ रही थी, चुपचाप बिना आवाज़ के दबे पाँव आना चाहिये था, उसे। लेकिन, झगड़ा करने लग गयी वह झगड़ालू औरत, बटो नायक के साथ। बोलने लगी, 'छुप-छुपकर तालाब के नीचे प्यार फरमाते हो, तो अछूत नहीं होते? और, इतने बड़े तालाब में मैं एक बार क्या नहा ली, तो तुम अछूत हो गये।'

प्रस्तुत उपन्यास में भ्रष्टाचार का भी यथार्थ चित्रण मिलता है। 'फोरेस्ट गार्ड' को शोषक वर्ग के प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है। वह स्वयं को सरकार का आदमी बताकर लकड़ी के बदले ग्रामीणों से जुर्माना वसूलने के बहाने घूस में कभी रुपये तो कभी अन्य उपयोगी वस्तुएँ लेता है। 'फोरेस्ट गार्ड' उन्हें धमकाते हुए कहता है, 'हम सरकार के आदमी है, अगर जंगल से लकड़ी चोरी करोगे तो सरकार जेल में डाल देगी, तब जेल में चक्की पीसोगे और कोड़े खाओगे।'

इन निर्धन, अशिक्षित तथा एक आजीविका के लिए संघर्ष करने वालों से घूस लेने वाला फोरेस्ट गार्ड कभी-कभी उन्हें जंगली जानवरों के शिकार, शहद आदि के बदले नमक, छप्पर डालने के लिए दो-चार बल्लियाँ, और कुछ रुपया देकर, उन्हें रोजगार दिलाने का विश्वास देकर उनका शुभचिंतक होने का दिखावा भी करता है।

अंतरा अपने मँझले बेटे को डॉक्टर कहकर पुकारता था, और सबसे अधिक स्नेह भी उसी से करता था। इसका कारण यह था कि जब अंतरा घर छोड़कर आश्रमवासी हो गया था, तब यह कुली मजदूरी करके खाने-पीने की व्यवस्था करने में अपनी माँ का सहारा बना था। किन्तु, बाद में फोरेस्ट गार्ड के प्रलोभन जाल में फँसकर लकड़ी-तस्कर बिलासिंह के ट्रक ड्राइवर का हैल्पर बन गया। हैल्परी से उसे जितना रुपया मिलता था, उसमें से आधा वह अपनी माँ सरसी को देता था। वह सप्ताह में एक दिन घर आता था, और 'पगार के दिन दोनों भाइयों-बहन के लिए कुरता-पैंट, माँ के लिए स्टील का लोटा-गिलास व बाप के लिए गमछा, नहीं तो बीड़ी-बंडल लेकर आता था।'

'डॉक्टर' जो बलिष्ठ, परिश्रमी और हँसमुख होने के साथ ही घर-परिवार का सहारा भी था, उसे 'फोरेस्ट गार्ड' ने अपने लाभ के लिए ट्रक ड्राइवर के हैल्पर की नौकरी दिलाकर बँधुआ मजदूर बनवा दिया, और फिर नशे की लत भी लगा दी। ट्रक मालिक बिलासिंह द्वारा चोरी का इल्ज़ाम लगाकर नौकरी से

निकालने के बाद, जब वह अपने घरवालों के प्रश्नों के उत्तर देकर भी उनकी दृष्टि में स्वयं को निर्दोष सिद्ध नहीं कर सका, तो हताश होकर अपना गाँव छोड़कर न जाने कहाँ चला गया।

अधिकांश माता-पिता अपने अयोग्य बच्चों को भी सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते देखकर फूले नहीं समाते। वह अपने पालितों से यह पूछना आवश्यक नहीं समझते कि उन्हें इतना अधिक धन उनकी किस योग्यता, किस प्रतिभा अथवा किस कार्य के लिए दिया जा रहा है। उस समय वह बच्चों पर न तो लेशमात्र संदेह करते हैं, और न उनके मन में यह विचार ही आता है कि कहीं कोई उनके बच्चों की सरलता और अज्ञानता का उपयोग अपने लाभ के लिए तो नहीं कर रहा। इसका दुष्परिणाम तब सामने आता है, जब उस दलदल में फँसकर उनकी संतान के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में सरसी के लाडले बेटे डॉक्टर को जब उसका मालिक चोर कहकर नौकरी से निकाल देता है, और वह हताश होकर अपना गाँव, घर-परिवार छोड़कर चला जाता है, तब अंतरा सोचता है-'कुछ दिन पहले हाथ की घड़ी व एक जोड़ी जूता खरीदकर लाया था, डॉक्टर। कैसेट लगाकर गाना सुनने वाला टेप रिकार्डर भी था उसके पास। तो क्या सच में उसके बेटे ने चोरी की थी। क्या बिलासिंह की बात सच है। सभी बच्चे उसकी माँ पर गए हैं। छल-कपट वे बिल्कुल ही नहीं जानते, भले ही भूखे मर जाएँगे, पर चोरी-चकारी कभी नहीं करेंगे। साले, धोखेबाज ड्राइवर ने उसके बेटे को फँसा दिया।'

एक दिन महुली के नशे में अंतरा के दिल में दबा आक्रोश फूट पड़ता है-'ऐसा लगता है कि गंजाम का गतेही साहू और यह फॉरेस्ट गार्ड, दोनों मिले हुए हैं। पूरे गाँव भर के जवान लड़कों को हाँक-हाँककर भगा ले गए हैं।' प्राकृतिक संपदा के अनियंत्रित दोहन का कुप्रभाव वर्षा पर पड़ने से खेत व जंगल सूखते जा रहे थे। ऐसे में गिद्धदृष्टि जमाकर बैठे अवसरवादी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये, भूख-प्यास से व्याकुल परिवारों के युवक-युवतियों को नौकरी का लालच देकर दिवास्वप्न दिखाते, और उनकी विवशता का लाभ उठाकर अपने साथ ले जाते थे। सारा गाँव नक्सल के घेरे में घिरा हुआ था। सरकार द्वारा सहायता रूप में भेजे गए चावल, खाद्य सामग्री गाँव का सितानी सेठ नक्सलवादियों को बेच देता है-'सरकार शिक्षक भेजती थी; चावल भेजती थी; दवाई भेजती थी; मगर उदंती के इस पार कुछ भी नहीं पहुँच पाता था, पर उदंती के इस पार से उस पार चले जाते थे शीशम, गंभरी तथा साल के पेड़ों की लकड़ियाँ। जंगल से गायब हो रहे थे शेर, भालू, हाथी, और बढ़ रही थी नक्सलियों की फौज। जंगल लुप्त हो रहे थे, और लुप्त हो रहे थे आस-पास के लोग।'

एक निर्धन परिवार का व्यक्ति नक्सलवाद में कैसे शामिल हो जाता है, उसके पीछे क्या कारण रहा और उसके परिवेश से उस व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा। इन सभी कारणों को डॉ. साहू ने चित्रित किया है। नक्सलियों का खौफ इस कदर गाँव में फैल गया था कि गाँव के बूढ़े, बुजुर्ग, बच्चे व स्त्रियाँ कोई भी अपने घर से बाहर नहीं निकल रहा था; किन्तु कोई नहीं जानता था कि 'नक्सल' का अर्थ क्या है। उनके विषय में अनेक अफ़वाहें फैली हुयी थीं-'कोई कह रहा था, नक्सल ग़रीबों का पक्ष लेते हैं; भात खाने को देते हैं; सुख देते हैं; ज़मीन देते हैं; जंगल देते हैं।'

और, कोई कहता-'पूछो साले नक्सलियों को उनका मालिक कौन है? धनी महाराज से लूटा हुआ माल कहाँ जाता है? अगर वे लोग भगवान हैं तो तुम लोग भूख से क्यों तड़प रहे हो? पूछो उन लड़कियों से, नक्सल में शामिल होकर कितनी सती बची हुयी हैं? क्या जंगल के अंदर चूस-चूसकर नहीं खा रहे उन्हें मर्द?'

नक़्सलवाद का कारण था, उस क्षेत्र में दिनों-दिन बढ़ती तस्करी से जंगलों का उजड़ना, मदिरापान और भ्रष्टाचार, के कारण भुखमरी में वृद्धि। सरकार द्वारा बनायी गयी योजनाओं का लाभ उन तक नहीं पहुँच पाता था, जिनके लिए वह होती थीं। 'सरकारी गाड़ियाँ, सरकारी आदमी सब अपनी सुविधानुसार घूमते रहते थे गाँव में, और भूख के मारे बाहर बैठे निर्बल बूढ़ा-बूढ़ियों से जन-गणना का हिसाब लेते थे। गाँव का रास्ता चोरी हो जाता है। चोरी हो जाते हैं, गाँव के स्कूल; गाँव के कुएँ; और बीपीएल चावल। चोरी हो जाते हैं युवक, गाँव की युवतियाँ, और गायब होते-होते समाप्त हो जाते हैं। बच्चों को नहीं बेचने की सलाह देते हैं। मलेरिया के टीका-सुई बाँटते हैं, गर्भ-निरोध का पाठ पढ़ाते हैं, और आखिर में पोषक खाना खाने का उपदेश देते हैं।'

अंतरा का छोटा बेटा वकील अत्यंत हठी, चिड़चिड़ा और क्रोधी स्वभाव का था। पिता से उसका छत्तीस का आँकड़ा था, दोनों झगड़ते रहते थे। आवारा लड़कों से उसकी मित्रता तथा लड़ने-झगड़ने के कारण अंतरा अनेक बार उसे घर से निकाल देता था, किन्तु कुछ दिनों में वह लौटकर घर आ जाता था। अपने माता-

पिता तथा गाँव वालों के शोषण उत्पीड़न से खिन्न वकील का अपने पिता से एक दिन ऐसा झगड़ा हुआ कि गाँव के अन्य युवक और युवतियों के साथ वह भी सितानी सेठ तथा फॉरेस्ट गार्ड जैसे लोगों को दण्डित करने के लिए नक्सल फौज में भर्ती हो गया। घर छोड़कर जाने से पहले एक दिन क्रोध में उसने अपने पिता को नक्सली बनने का संकेत देते हुए कहा था, 'गाँव से नूरीशा, आलेख प्रधान, चूड़ामणि नायक सब निकल जाने से देखोगे कि गाँव का हुलिया कैसे बदल जाएगा।'

उसके जाने से गाँव की स्थिति तो नहीं बदली, पुलिस के हाथों वह मुठभेड़ में अवश्य मारा गया। उसे सबसे अधिक स्नेह करने वाली बहन, परबा फॉरेस्ट गार्ड की वासना का शिकार बनकर बाज़ार में बिकने लगी। वर्षा ऋतु में छः दिनों से भोजन की व्यवस्था न होने के कारण कई दिनों से भूखी बहन परबा को जब यह ज्ञात होता है कि नक्सली जंगल में डेरा डाले हुए हैं, तो वह अपने छोटे भाई से मदद मिलने की आशा में जंगल की ओर चल देती है। बुखार में बेसुध माँ, लँगड़े पिता तथा अपने पेट की आग बुझाने के लिये बारिश के थपेड़े झेलती, परबा भरपेट भोजन की तलाश, और भाई से मिलने की आस में भटकती मन-ही-मन सोच रही थी, 'इस बार अगर छोटा भाई मिला, तो जरूर कहूँगी कि पहले दारू पीना बंद करवाओ, लोगों को दिन के उजाले और रात के अँधेरे के बीच फर्क को समझाओ। उसके बाद नूरीशा, अलेख प्रधान जैसों के साथ लड़ाई करना।'

परबा को भाई तो नहीं मिला, मगर उसके भाई डॉक्टर को बँधुआ मजदूर बनाकर, अनजान देश भेजने वाला फॉरेस्ट गार्ड अपने क्वाटर में बैठा बीड़ी सुट्टा लगाते हुए दिखाई दिया। उसे देखते ही परबा भयभीत होकर जड़वत् खड़ी हो गई। 'घर के अंदर लकड़ी के चूल्हे पर टग-बग, टग-बग, करके भात उबल रहा था। खुशबू से पेट और मन तृप्त हो रहा था परबा का। भूख से मुँह में पानी निकल आ रहा था। फॉरेस्ट गार्ड उसे हाथ से पकड़कर ले गया और बैठा दिया रस्सी की खटिया पर। परबा ने हाथ छुड़ा लिया। रुक, भात बन गया है, खाकर जाना। मुर्गी पकाया हूँ। मुर्गी के झोल के साथ दो मुट्ठी भात खाकर जाना।'

परबा घर जाने के लिए रोती-बिलखती रही, किन्तु उस अधेड़ उम्र के आदमी की जकड़न से स्वयं को मुक्त नहीं हो सकी। उसका सर्वस्व लूटकर जब उसने चाहा, तब परबा के हाथों में सड़े-गले चावलों का झोला पकड़ाया, और ईंट के भट्टे में काम दिलाने का दिलासा देकर उसे घर भेज दिया-'तू अगर कहेगी तो तुझे किसी धन्धा-पानी में लगा दूँगा। रायपुर के ईंट-भट्टा में कितनी लड़कियाँ काम करती है। दिनभर की हाजरी पचहत्तर रुपये है। रहने के लिए खोली देंगे। चाय, चावल का जुगाड़ भी मिलेगा। तुम्हारे गाँव की बिलासीनी, जयंती, तोफा वगैरह नहीं गए हैं क्या।' फॉरेस्ट गार्ड परबा से पहले भी गाँव के लड़कियों को काम दिलाने के बहाने कभी नक्सली सेना की और कभी देहव्यापार की राह में चलने को विवश कर चुका था।

सरसी और अंतरा श्रमशील होते हुए भी निर्धनता, भुखमरी, अशिक्षा आदि के कारण चार बच्चों के माता-पिता होते हुए भी निःसंतान हो गए। उपन्यास के अंतिम दृश्य में अपनी संतान के लिए माता-पिता के व्यथित हृदय की तड़प, छटपाहट और हताशा को देखकर, विवशता भी चीत्कार कर उठती है। जब सरसी पुलिस की गोली से छलनी अपने बेटे वकील की धूल में लिपटी देह देखती है, और पुलिस उस लाश के साथ उसके पति अंतरा को भी अपनी गाड़ी में बैठाकर ले जाती हैं, 'गाँव की चौपाल में बैठी थी सरसी, एकदम गुमसुम। आँखों में आँसू नहीं। गाँव की चौपाल में सन्नाटा छा गया था। लोग अपने-अपने घर चले गए थे। अंदर से सभी ने दरवाज़े बंद कर लिये थे।'

पक्षीवास उपन्यास को पढ़ते हुए ओड़िशा के पश्चिमी क्षेत्र से छत्तीसगढ़ के बस्तर तक विस्तार्ण वनप्रांत का प्राकृतिक-सौंदर्य, वनसंपदा, आदिवासियों की लोकसंस्कृति, उनके जीवन संघर्ष-समस्याएँ, उनकी व्यथादि को निकट से देखने तथा जानने जैसी अनुभूति होती है। इसके लिए अनायास ही अनुवादक श्री दिनेश कुमार माली के प्रति हृदय में कृतज्ञता का भाव जाग्रत हो उठता है। यदि यह उपन्यास हिंदी में न होता तो मन में इस विचार का उत्पन्न होना, 'पक्षीवास' उपन्यास की श्रेष्ठता को रेखांकित करना मात्र नहीं, बल्कि अनुवादकों के प्रति श्रद्धावनत होना; कथासाहित्य के महत्त्व को रेखांकित करना, तथा अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रांत/देश की भाषाओं को सीखने के लिये प्रेरित होना भी है।

प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
एम. बी. रा. स्ना. महाविद्यालय,
हल्द्वानी-263139 (उत्तराखंड)
मो.- 9411196868

डॉ. जयप्रकाश कर्दम एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का काव्य

– दीप्ति आठिया

जन्म – 30 नवंबर 1995।
जन्मस्थान – सागर (म.प्र.)।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

हिंदी दलित साहित्य के समकालीन कवियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि एवं डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी दलित साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून 1950 को उत्तरप्रदेश की मुजफ्फरनगर तहसील के बरला नामक ग्राम में हुआ। दलित जीवन की यातनाओं को उन्होंने बाल्यपन से ही भोगा और उसी का परिणाम हुआ कि उनकी रुचि दलित साहित्य की ओर हुई। उन्होंने गद्य-पद्य दोनों ही विधाओं पर कार्य किया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के चार कविता संग्रह प्रकाशित हुए- सदियों का संताप, बस्स! बहुत हो चुका, अब और नहीं, शब्द झूठ नहीं बोलते। इन चारों कविता संग्रह का मूल उद्देश्य दलितों की पीड़ा से सभी को अवगत कराना और दलित समुदाय को अपने अधिकारों के लिए सजग करना है। वर्ष 2013 को 17 नवंबर के दिन कैंसर की बीमारी से एक योद्धा की भाँति लड़ते हुए दलित साहित्य के प्रसिद्ध लेखक श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का निधन हो गया।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम हिंदी दलित साहित्य के प्रख्यात लेखक एवं वरिष्ठ साहित्यकार हैं। इनका जन्म इंदरगढ़ी गाजियाबाद में 05 जुलाई 1958 को एक दलित परिवार में हुआ। वर्तमान में वे केन्द्रीय हिंदी प्रशिक्षण संस्थान, राजभाषा विभाग, भारत सरकार नई दिल्ली के निर्देशक पद से सेवानिवृत होकर साहित्य को समृद्ध करने में प्रयासरत हैं। उन्होंने हिंदी दलित साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया जिसके फलस्वरूप दलितों में चेतना का संचार हुआ। उन्होंने उपन्यास, कहानी, कविता, खंडकाव्य, यात्रा वृत्तांत अनुवाद के साथ-साथ, साहित्य वार्षिकी पत्रिका का संपादन भी किया।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम के 'गूँगा नहीं था मैं', 'तिनका-तिनका आग', 'बस्तियों से बाहर', 'दुनिया के बाजार में', 'लाशों के शहर में', 'जाति, भारतीय समाज की एक सच्चाई है जो सवर्णों के सम्मान और श्रेष्ठता को दंभ से भर देती है और दलितों को अपमान और हीनता बोध से भरती है। व्यक्ति जहाँ भी जाता है, जाति उसके साथ जाती है और दलित को निरंतर दंश देती है। बाबा साहब अंबेडकर ने गाँवों को शोषण का कारखाना कहा था, जो एक सत्य है। गाँवों में दलितों के घर अलग हैं, कुएँ-हैंडपंप अलग हैं, उनके साथ अस्पृश्यता बरती जाती है।' **(दलित कविता : समकालीन परिदृश्य, जयप्रकाश कर्दम, पृ.-120)**

जातिगत घातक संक्रामक बीमारी भारत देश में बहुत बड़े पैमाने में फैल चुकी है। अन्य शारीरिक बीमारियों का इलाज तो विज्ञान ने खोज लिया है परन्तु जाति-पाँति, छुआछूत जैसी मानसिक बीमारियों का इलाज न ही विज्ञान ने खोजा और न ही प्रकृति ने उपचार किया। आज हम आजादी का अमृत महोत्सव मना रहे है। परन्तु क्या हमने छुआछूत मानने वाली दासता से आजादी पा ली है? उत्तर होगा-'नहीं'। जाति में जन्म लेने से ही इंसान की नियति, कर्म और पेशे पर अनुबंध कर लिया जाता है कि कैसे उच्च वर्ण में जन्म लेने वाला केवल शिक्षा और पूजा-पाठ, कर्मकांड का ज्ञाता, और नौकरी में उच्च पदों का अधिकारी होगा। इसके विपरीत यदि व्यक्ति का जन्म निम्न जाति में हुआ है तो वह केवल अपने से ऊपर वाली जातियों का सेवक ही रहेगा, न उसे शिक्षा का अधिकार दिया जाता था, न ही कोई व्यवसाय ही करने दिया जाता था।

भारत देश में जाति प्रथा कब, कैसे और क्यों आरम्भ हुई? इस विषय में सभी महानुभावों के अलग-अलग मत हैं। कोई इसे जन्मजात मानता है, कोई मनुस्मृति की वर्णव्यवस्था को इसका मूल कारण मानता है। 'जाति-प्रथा हमारे देश में कब और किस प्रकार आरम्भ हुई इस विषय पर समाजशास्त्रियों के विचारों में विभिन्नता पायी जाती है, पर यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि

हमारे देश में जाति प्रथा इतनी विस्तृत है कि सारा देश असंख्य जातियों में बँटा हुआ है और यह बँटवारा केवल नाममात्र के लिए नहीं है। प्रत्येक जाति की अनेक उपजातियाँ हैं और सबके अपने रस्म-रिवाज अलग-अलग हैं। विवाह आदि इन उपजातियों में आपस में ही होते हैं और एक उपजाति दूसरी उपजाति से रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं करती।' **(जाति एक विमर्श, अनुवाद एवं संपा. डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.-17)**

ईसा के लगभग 180 वर्ष पूर्व में मनुस्मृति की रचना हुई थी, इस ग्रन्थ को जातिवाद का मूल माना जाता है। किस वर्ण के व्यक्ति का क्या काम है? यह निश्चय मनुस्मृति ने किया। मनुस्मृति दलितों के साथ हो रहे अमानुषी व्यवहार का जिम्मेदार ग्रन्थ है। अंबेडकर ने इस ग्रन्थ को सार्वजनिक रूप से जला डाला था, क्योंकि इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र के अलग-अलग धार्मिक, नियम, कानून और परम्पराएँ थीं। शुद्र के क्या नियम थे वह हम सभी जानते हैं।

हिन्दुओं में जो जाति-पाँति का सामाजिक महत्व है वह अहिंदुओं में नहीं है। सिक्खों में हो या मुस्लिमों में, जातियाँ-उपजातियाँ सभी में पाई जाती हैं, परन्तु वे जाति तोड़ने वालों को जाति से बहिष्कृत नहीं करते हैं। 'हमारे देश में विभिन्न जातियों में एक-दूसरे में इतना भेद है कि एक जाति को सर्वोच्च माना जाता है, उसके दर्शन से मुक्ति प्राप्त होती है और संसार के बंधन टूट जाते हैं। दूसरी ओर ऐसी भी जातियाँ हैं जिसके साथ उठना-बैठना व खान-पान भी अधर्म समझा जाता है। संसार के अन्य धर्मों में अन्य देशों में जातियाँ उपजातियाँ हो सकती हैं, परन्तु वहाँ के मनुष्य केवल जन्म अथवा व्यवसाय के आधार पर एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा नहीं समझते, एक-दूसरे से घृणा नहीं करते। इस प्रकार की जाति-प्रथा केवल भारत में ही है।' **(जाति एक विमर्श, लेख भारत में जाति प्रथा, लेखक आर.आर. अरविन्द, अनुवाद एवं संपादक-डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.- 18)**

भारत के हिंदुओं के विषय में लेखक जयप्रकाश कर्दम का मानना है कि 'सब लोग अस्पृश्यता में विश्वास नहीं रखते हैं। किन्तु भारत में अधिसंख्य लोग हिंदू हैं और अस्पृश्यता हिंदू धर्म का एक सिद्धांत जैसा है। भारत में विद्यमान अन्य धर्मों ने भी इस बुराई को हिंदू धर्म से लिया है। ईसाई धर्म को लें, उसमें अस्पृश्यता नहीं है, किन्तु भारतीय ईसाइयों में दलित के प्रति समानता का भाव नहीं है। ईसाई धर्म में भी वे दलित हैं। इस्लाम धर्म की भी यही स्थिति है।' **(मेरे संवाद साक्षात्कार, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.-17)**

जब तक अछूत कहलाने वाले दलित वर्ग के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे कार्यों में संलग्न रहेंगे तब तक जाति को तोड़ा नहीं जा सकता, सामान्य सी बात है यदि व्यक्ति साफ-सुथरा रहता है, स्वच्छ कपड़े पहनता है, सज्जनता से बात करता है तो कोई भी महानुभाव उसकी जाति को नहीं पहचान सकता, परन्तु यदि वह अपने वंशजों के काम को अपनाता है तो जाहिर सी बात है कि साफ-सफाई करने वालों से सभी को घृणा उत्पन्न होती है कि पता नहीं, वह नाली साफ करके साबुन से हाथ धोता है या नहीं। मल-मूत्र, मैला उठाने के बाद स्नान करता है या नहीं।

दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि हों या डॉ. जयप्रकाश कर्दम शाला की दहलीज को मिटाना उनके वश के बात नहीं थी क्योंकि उनके ऊपर समय की माँग थी कि वे जाति के अनुसार वर्णाश्रम का पूर्ण निष्ठा से पालन करें, परन्तु उस समय तो संविधान में कोई भी धारा ऐसा नहीं कहती थी परन्तु सवर्णों की माँग थी कि बालक हो या बुजुर्ग वह केवल दलित है और दलित होने का अर्थ है कि जितने भी नियम उच्च वर्ण ने बनाए हैं उनका पालन किया जाए। वाल्मीकि जी ने बचपन से ही इन भेदभावों की पृष्ठभूमि को देखा था, और यही कारण रहा कि वे दलित साहित्य के क्षेत्र में अपना सर्वाधिक और मूल्यवान समय दे पाए। वाल्मीकि की हिम्मत उनकी कविताएँ हैं, वे बिना किसी लाग-लपेटे के अपनी बात स्पष्ट रूप से कविता में व्यक्त करते हैं। उन्होंने कविता लिखते समय शायद ही कोई समझौता किया हो। उन्होंने लिखा है -

'जहरीले पंजों समेत / फिर हम सब
एक जगह खड़े होकर / हथेलियों पर उतार सकेंगें
एक-एक सूर्य / जो हमारी रक्त शिराओं में
हजारों परमाणु क्षमताओं की ऊर्जा / समाहित करके
धरती को अभिशाप से मुक्त करायेगा।'

(सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.- 45)

हिंदी दलित कविता के विषय में कँवल भारती कहते हैं- 'दलित कविता उस तरह की कविता नहीं है जो पेड़-पौधों, फूलों और नदियों, झरनों और पर्वतमालाओं की चित्रकारी में लिखी जाती है। यह किसी का शोकगीत और प्रशस्तिगान भी

नहीं है। दरअसल यह वह कविता है, जिसे शोषित-पीड़ित, दलित अपने दर्द की अभिव्यक्ति करने के लिए लिखता है। यह वह कविता है, जिसमें दलित कवि अपने जीवन के संघर्ष को उतारता है। यह दमन, अत्याचार, अपमान और शोषण के खिलाफ युद्धगान है। यह स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व-भाव की स्थापना और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा करती है, इसीलिए इसमें समतामूलक और समाजवादी समाज की परिकल्पना है। संक्षेप में, दलित कविता जाति और वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने वाली दलितों द्वारा लिखी गयी क्रांतिकारी कविता है।' **(दलित कविता का संघर्ष, कँवल भारती, पृ.-13)**

गाँधी जी ने अछूतोद्धार के नाम पर वर्णाश्रम के महत्व पर अधिक बल दिया है। उनका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने पैतृक कार्य को छोड़कर अन्य कोई पेशा नहीं अपनाना चाहिए। इस तरह तो यदि कोई व्यक्ति के दादा-परदादा लोग मैला ढोने का कार्य करते थे तो उसे भी वही कार्य करना चाहिये? गाँधी जी के इस नियम से तो सामान्य सी बात है कि अछूतोद्धार तो होगा ही नहीं, बल्कि दलितों के अन्दर मानसिक रूप से इंसानियत के प्रति घृणा जरूर उत्पन्न हो जाएगी।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित साहित्य के प्रादुर्भाव का श्रेय डॉ. बाबा साहब अंबेडकर को दिया है-'हजारों साल के सामाजिक उत्पीड़न, शोषण, प्रताड़ना ने दलित जीवन को मानवीय मौलिक अधिकारों से वंचित रखा। उन पर तरह-तरह से प्रतिबंध लगाए गए। शिक्षा से उन्हें दूर रखा गया। इन स्थितियों में जीने वाले लोग खामोशी से इस अमानवीय व्यवहार को सहते रहे। लेकिन डॉ. भीमराव अंबेडकर के प्रादुर्भाव ने दलितों में जो चिंगारी फूँकी उसी का प्रतिफल है दलित साहित्य।' **(सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.-5 भूमिका से उद्धृत)**

जाति, वर्ण, छुआछूत आदि केवल भारत में ही व्याप्त नहीं हैं। डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी ने अपनी कविता 'छोटा भारत' में व्यक्त किया है। वे मॉरिशस के विषय में लिखते हैं-

'भारत से दूर एक छोटा भारत / भारत की तरह धर्मों, जातियों
अस्मिताओं में बँटा हुआ / उससे भी ज्यादा भाषाओं में
भीतर से विखंडित, बाहर से अखंड / भारतीय समाज के सारे पाखण्ड'

(बस्तियों से बाहर कविता संग्रह, 'छोटा भारत', जयप्रकाश कर्दम, पृ.-37)

डॉ. जयप्रकाश कर्दम दलित वर्ग को शिक्षित होने की प्रेरणा देते हैं। उनका ध्येय है कि भले ही आप किसी भी व्यवसाय को अपनाओ, कोई अधिकारी-अफसर बन जाओ, परन्तु जरूरी है कि आप के अन्दर इंसानियत का होना, आदमी होना ही आदमी नहीं है, इंसानियत के गुण भी होना आवश्यक हैं।

'हर आँख में हो / कोई न कोई सपना
सपनों को साकार करना / ध्येय बने तुम्हारी जिंदगी का
सपने चुनने और बुनने का / जैसा तुम चाहो
तुम चाहे जो करो, चाहे जो बनो / आदमी जरूर बनना
आदमी को आदमी समझना।'

(बस्तियों से बाहर कविता संग्रह, 'आदमी' जयप्रकाश कर्दम, पृ.-39)

भारत को स्वतंत्र हुए 75 वर्ष हो चुके हैं किन्तु जाति-पाँति, ऊँच-नीच और छुआछूत आज भी विद्यमान है। इसका मूल कारण है शिक्षा प्राप्त न हो पाने के कारण फैली अज्ञानता, दूसरा मुख्य कारण है पैतृक रूप से चली आ रही रूढ़िवादिता, तीसरा और मुख्य कारण है धन का अभाव। कहते हैं धन ही धन को अपनी ओर खींचता है और गरीबी खींचती है और गरीबी को। जिससे धनवान और अधिक धनवान होता जाता है और धनहीन और अधिक हीनता की चपेट में आ जाता है। हीनता धन की हो तो उसे मजदूरी करके कैसे भी पूरी तरह न सही पर काफी हद तक समाप्त किया जा सकता है। परन्तु जो बहिष्कार, शोषण और अन्याय दलितों पर किया गया है, जिस हीन भावना से उन्हें देखा गया है, उसकी कैसे पूर्ती हो सकती है। दलितों के लिए आज भी आजादी बेमानी सी है क्योंकि अंग्रेजी शासन से तो हमने मुक्ति पा ली है परन्तु सोचने की बात यह है क्या हम अभी तक दलितों को वो दर्जा दे पाए हैं जिसके वो अधिकारी हैं। जयप्रकाश कर्दम जी लिखते हैं-

'नहीं निकल सकता तो आज भी / पहनकर नए कपड़े
कितने ही गाँवों में / नहीं निकल सकती जिसकी घोड़ी पर बारात/
जूझता है जो पेट की क्षुधा से / रात-दिन कमाकर भी/ विवश है
काटने को कभी-कभी / फाके की रात / नहीं बैठ सकता जो आज भी
/ सवर्णों के सामने खाट पर/ नहीं कर सकता मुँह उठाकर बात / साठ
साल का बूढ़ा भी/ दुध-मुँहे बच्चों तक को / मिमियाकर कहता है
'बाप'।'

('गूँगा नहीं था मैं' कविता संग्रह, 'बेमानी है आजादी' जयप्रकाश कर्दम, पृ.- 29)

संविधान में मौलिक अधिकारों में समानता का अधिकार भी शामिल है परन्तु क्या सही में दलित अपने अधिकारों का स्वछन्द होकर उपयोग कर पाते हैं। आज भी दलित यदि किसी उच्च पद पर नौकरी पा लेते हैं तो उनसे ऊँचे पद पर अधिष्ठित

अधिकारी वर्ग उन्हें तिरछी नजरों से ही देखते हैं। उनका मानना होता है कि आरक्षण की वजह से ही आज वह उस पद का अधिकारी बना है। इस मानसिकता से जब तक मुक्ति नहीं पाई जा सकती तब तक हम समाज में समानता के साथ दलितों के साथ पेश नहीं आयेंगे। यदि दलितों को समान ओहदा ही दिया होता तो आज आरक्षण की जरूरत न पड़ती –

'तुम कोठी-बंगलों में रहते / मैं रहता झोपड़ पट्टी में
तुम ए.सी. कूलर में सोते / मैं तपता श्रम की भट्टी में
तुम दूध-मलाई में नहाओ / मैं रोटी को मुँहताज रहूँ
तुम मालिक मैं नौकर ठहरा / फिर समता का संसार कहाँ है?
धन-धरती-मील तुम्हारे हैं / पोखर और झील तुम्हारे हैं
शासन-सत्ता पर काबिज तुम / ठाने-तहसील तुम्हारे हैं
तुम जाति-दम्भ के अभिमानी / मुझसे घृणा व्यापार करो
वैषम्य-द्वेष के बीहड़ में / मैत्री की मीनार कहाँ है?'

('गूंगा नहीं था मैं' कविता संग्रह, 'मेरे अधिकार कहाँ हैं' जयप्रकाश कर्दम, पृ.)

दलितों की बेहतरी के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य का होना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि 'दलितों को शिक्षा की सर्वाधिक जरूरत है। दलितों में शिक्षा का स्तर बहुत निम्न है। जो लोग शहरों में रह रहे हैं वे सामान्यत: शिक्षित हैं किन्तु गाँवों में अधिकांश लोग प्राय: अशिक्षित या अल्प शिक्षित हैं। गाँवों में स्कूल बहुत दूर होते हैं। बहुत से स्कूलों में अध्यापक नहीं होते हैं। शिक्षा के अलावा दलितों को अन्य चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवाओं की बहुत आवश्यकता है।' (मेरे संवाद साक्षात्कार, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.-19)

श्यौराज सिंह बेचैन ने अपने लेख में वाल्मीकि के विषय में लिखते हैं 'आत्मविश्वास ऐसा कि 1989 में अपनी जेब से कविताएँ छाप कर बेचने निकल पड़े। किस प्रकाशक के सहयोग से किस तरह 'सदियों का संताप' छपी। उसके बाद भी लिखते रहे। विशुद्ध, वैचारिक, गंभीर और प्रश्नाकुलता से ओतप्रोत कविताएँ।' (ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्ति विचारक एवं सृजक, संपादक डॉ. जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, पृ.- 22)

ईश्वर का नकार दलित साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। दलित लेखक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि उनका मानना है दलित हमेशा से ही ईश्वर के नाम से छला जा रहा है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम ईश्वर को 'ट्रेड नेम' कहकर संबोधित करते हैं –

'शुक्र है तू नहीं है / केवल धर्म के धंधे का
एक ट्रेड-नेम है / अगर तू सचमुच कहीं होता
तो सदियों की / अपनी यातना का हिसाब
मैं तुझसे जरूर चुकाता'

(गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ. 38)

वे ईश्वर को शब्द के अलावा कुछ नहीं मानते –

'ईश्वर और मनुष्य में फर्क है / उनके संबंधों में जर्क है
एक विश्वास है / एक तर्क है/ इसलिए / दोनों की तुलना व्यर्थ है /
क्योंकि / ईश्वर शब्द है मनुष्य अर्थ है।'

(लाशों के शहर में, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.- 45)

दलित कविता की रचना झूठ पाखण्ड के नकार पर लिखी गई है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता वर्तमान और अतीत पर सामाजिक सांस्कृतिक विसंगतियों पर की गई आलोचना है।

'मैं उठकर भागना चाहता हूँ/शम्बूक का सिर मेरा रास्ता रोक लेता है/
चीख-चीख कर कहता है-
युगों-युगों से पेड़ पर लटका हूँ/बार-बार राम ने मेरी हत्या की है
मेरे शब्द पंख कटे पक्षी की तरह/तड़प उठते हैं-तुम अकेले नहीं मारे गये
तपस्वी/यहाँ तो हर रोज मारे जाते हैं असंख्य लोग/ जिनकी सिसकियाँ
घुटकर रह जाती हैं/अँधेरे की काली पर्तों में।'

(सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.- 26)

वर्तमान में दलितों के प्रति लोगों का रवैया ज्यादा न सही परन्तु कुछ हद तक सामान्य हुआ है। शहरों में दलितों के साथ प्रत्यक्ष रूप में न सही पर अप्रत्यक्ष रूप से भेदभाव किया जाता है। आज हम सभी जानते हैं कि ऐसी मानसिकता के लोग दफ्तरों में बैठे हुए हैं जो उन कर्मचारियों के हाथ का पानी नहीं पीते। हालाँकि इस प्रकार के भेदभाव की मान्यता कोई भी कानून प्रदान नहीं करता, इसीलिए ये सब सजा पाने के डर से खुलेआम ऐसा भेदभाव नहीं करते हैं। दलितों के उद्धार के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक सुधार की भी आवश्यकता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का सारा साहित्य चुप्पी के विरोध में निरंतर बोलने का सामर्थ्य जागृत करता है और जयप्रकाश कर्दम की अंबेडकरवादी कविताएँ मनुष्य को वैचारिक और तार्किक, तीक्ष्ण और पारदर्शी विचारधारा जागृत करने का आह्वान करती हैं।

10 वीं बटालियन के आगे,
नरवानी रोड सागर,
एवेन्यू कॉलोनी के सामने,
गौतम नगर मकरोनिया,
सागर-470004 (म.प्र.)
मो.-8349296088

समकालीन कवियों का प्रकृति प्रेम और उपभोक्तावादी समाज

– प्रियंका सिंह

जन्म – 3 अप्रैल 1983।
जन्मस्थान – सिलीगुड़ी (पश्चिम बंगाल)
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

समकालीन दौर सृजनात्मक लेखन के लिए विपरीत है। राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक विद्वेष, विद्रूपता, धार्मिक कूपमंडूकता, आर्थिक विषमीकरण, सांस्कृतिक विकृतीकरण, संवेदनहीन मनुष्य, मानवीय हिंसा अपने चरम पर है। सूचना और अत्याधुनिक टेक्नोलॉजी का प्रसार मनुष्य के जीवन में निरंतर बढ़ता जा रहा है। इस बढ़त को रमेश कुंतल मेघ मानव निर्वासन के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं–'पूँजीवादी समाज में विज्ञान और टेक्नालॉजी उत्पादन और उपभोग के पूँजीवादी विशाल साधन हो जाते हैं किंतु साथ-साथ मानव को निर्वासित भी कर देते हैं।' **(रमेश कुंतल मेघ, साक्षी है सौंदर्य प्रश्निक, पृ. 392.)**

वास्तव में प्रौद्योगिकी, विज्ञान, बाजारवाद, उपभोक्तावाद ने मनुष्य को अपने जाल में फँसाकर रखा है। मनुष्य दिग्भ्रमित स्थिति में है। मनुष्य क्रेता में परिवर्तित हो चुका है। बाजार एवं उसके नियम ही संसार के नियामक बन चुके हैं। शीन का नजाम इस संदर्भ में लिखते हैं –

'विज्ञान व्यक्ति में पहले जिज्ञासा, फिर उत्सुकता पैदा करता है, फिर जरूरत और अंत में जरूरत को आदत में बदलता है। तो इस तरह वह व्यक्ति का उन वस्तुओं से जिनसे उनका सकारात्मक संबंध होता है। संबंध ही विच्छेद करवा देता है।' **(सं. सच्चिदानंद वात्स्यायन, साहित्य का परिवेश, पृ. 6)** यह संबंध विच्छेद सिर्फ मानवीय संबंधों से ही नहीं है बल्कि प्रकृति से भी मनुष्य को दूर कर रहा है। मनुष्य और प्रकृति के आदिम जुड़ाव, रागात्मकता को खत्म कर रहा है उसे कृत्रिम जीवन की तरफ धकेल रहा है। मनुष्य की भूख को अनियंत्रित कर रहा है, वनिस्पति प्राकृतिक दोहन अपने चरम पर है जिससे पर्यावरण संतुलन निरंतर बिगड़ रहा है।

बाजार सूचना क्रांति एवं नई प्रौद्योगिकी के साथ मनुष्य को विकास के नाम पर सब्जबाग दिखा रहा है। लेकिन वास्तव में वह उसे अधोमुखी सभ्यता-संस्कृति का हिस्सा बना रहा है। उसकी आंतरिकता को नष्ट कर उसे बाहरी चकाचौंध में उलझा रहा है। सूचनाओं के अतिरेक से उसके मस्तिष्क को विचलित कर रहा है। चयन और विवेक की क्षमता को नष्ट कर उसे संवेदनहीन बना रहा है। सूचनाओं के मायाजाल में उलझकर मनुष्य हृदय और मस्तिष्क का तालमेल खो बैठा है। हृदय रहित मानवीय ढाँचे में रूपांतरित हो चुका है। तभी तो समकालीन कवि लीलाधर जगूड़ी कह उठते हैं –

'हत्या के लिए एक नया शस्त्र देती है प्रौद्योगिकी
तकनीक कष्ट कम करने के बहाने उजागर होती है
और छिपा देती है हथियार की क्रूरता को।'

(लीलाधर जगूड़ी, भय भी शक्ति देता है, पृ. 123)

जगूड़ी यहीं नहीं रुकते। वे अपनी आने वाली पीढ़ी को आगाह भी करते हैं –

'मेरे बच्चे यह भी जान लो कि प्राकृतिक संसाधन
भोजन के मूल स्रोत हैं टेक्नालॉजियाँ नहीं।'

(सं. राजेश जोशी, वर्तमान साहित्य कविता विशेषांक, पृ. 89)

कवि जानता है कि मानव की मूलभूम आवश्यकताएँ प्रकृति द्वारा पूरी होती है। प्रकृति मानव जीवन की मौलिक जरूरतों की पूर्ति करती है लेकिन प्रकृति का अनावश्यक शोषण मानव भविष्य के लिए घातक है। माना प्रकृति हमारे जीवित रहने का कारण है। जैसे बकरी को जीवित रहने के लिए पत्ते की जरूरत है और मनुष्य का जीव-जन्तुओं के दूध, फल, सब्जी आदि पर निर्भरता है। लेकिन बकरी को जितनी जरूरत हो उतने ही पत्ते पेड़ से झड़ाए जायें। कहने का अर्थ है जरूरत भर प्रकृति संसाधनों का प्रयोग हो न कि अंधाधुंध भौतिकतावादी मानसिकता से दुराग्रहित होकर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जाए। उसकी हरियाली को नष्ट किया जाये। अत: प्रकृति

पर किसी प्रकार का संकट न आए, इसलिए वह रचनात्मक स्तर पर प्रयास करता है। कवि कहता है –

'तुम्हें जानना है कि गेहूँ न गोदामों में पैदा होता है
न कारखानों में / गेहूँ लोहा, प्लास्टिक और कागज की लुगदी से / नहीं बन सकता।'

(लीलाधर जगूड़ी, अनुभव के आकाश में चाँद, पृ. 47)

आधुनिक काल में विज्ञान तथा टेक्नालॉजी का दबदबा है, यह सर्वविदित है। लेकिन 'विज्ञान ने अपने अनुसंधान और प्रयोगों से ज्यों-ज्यों उन्नति और विकास किया है, त्यों-त्यों पर्यावरण पर इसका विपरित प्रभाव पड़ा है और सब ओर प्रदूषण फैला है।'

(सं. दयाकृष्ण विजय, मधुमती, मई, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, 1992, पृ. 122)

चारों तरफ व्याप्त प्रदूषण, शहरी भाग-दौड़ भरे कृत्रिम जीवन में प्रकृति से विलगाव होते जा रहा है तभी तो रघुवीर सहाय को **'यह कैलेण्डर से मालूम था/अमुक दिन अमुक वार मदन महीने के हावेगी पंचमी।'** (रघुवीर सहाय, सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 166)

दूसरी तरफ जगूड़ी का **'खून खौलाया/ इतनी सारी लाशों के बीच वसंत आया।'** (लीलाधर जगूड़ी, रात अब भी मौजूद है, पृ.12)

एक तरफ वसंत जहाँ शहरी जीवन की आपाधापी को दिखाता है तो दूसरी तरफ वर्तमान समय की भयावहता को। जगदीश गुप्त उपरोक्त मन:स्थिति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं-'प्रकृति से कटकर महानगरों का जीवन भयानक उमस, निर्जीव यांत्रिकता और भावहीन व्यावहारिकता से कितना बोझिल हो जाता है, लोग इसका भी बहुधा अनुभव नहीं कर पाते। उस बोझ से दबे हुए वे प्रकृति से अपना सहज संबंध स्थापित करने में असमर्थ हो जाते हैं।'

(जगदीश गुप्त, नयी कविता : स्वरूप और सम्भावनाएँ, पृ. 335.)

समकालीन कवि निरंतर प्रयासरत हैं कि वह मनुष्य और प्रकृति से सहज संबंध स्थापित कर पाए। औद्योगीकरण, शहरीकरण, बाजारीकरण जिस तरह से दशकों से मनुष्य को उसकी मिट्टी, उसके जड़ों से, उसकी सभ्यता-संस्कृति की पहचान से वंचित करने की साजिश रच रहा है, समकालीन कवि निरंतर उसका प्रतिरोध कर रहा है। वे अपनी कविता में ग्रामीण परिवेश की नैसर्गिकता को चित्रित करते हैं, उसकी प्राकृतिकता को स्थान देते हैं, सहजता एवं सरलता के हिमायती हैं। वे शहरी जीवन के प्रति हिकारत की भावना व्यक्त करते हैं जो व्यक्ति को गाँव तथा प्रकृति से दूर करती जाती है।

'न पुरखे साथ आए न गाँव न जंगल न जानवर
शहर में बसने का क्या मतलब है / शहर में ही खत्म हो जाना?'

(आलोक धन्वा, दुनिया रोज बनती है, पृ. 92.)

वास्तव में ऐसा लगता है कि शहरी जीवन की आपाधापी में गाँव की सरसता खत्म सी हो गई है। समकालीन कवि मानव भविष्य को संकट में देख रहे हैं। पर्यावरण को संकट में देख रहे हैं, संपूर्ण जीवनमंडल को खतरे में देख रहे हैं। प्राकृतिक असंतुलन, मानसिक असुरक्षा से बचने के लिए प्रकृति प्रेम का आग्रह करते हैं। वस्तुत: इन्हीं कारणों से भगवतीशरण सिंह लिखते हैं –'आज हम जिस असुरक्षा और असंतुलन के शिकार हो चुके हैं उसमें आत्मविश्वास और अपनेपन की पहचान का बना रहना बड़ा कठिन है। इस दिशा में प्रकृति हमारी मददगार हो सकती है।' (सं. सच्चिदानंद वात्स्यायन साहित्य का परिवेश, पृ. 24) वस्तुत: इसी कारण समकालीन कवियों ने प्रकृति को अपनी कविता में विशेष स्थान दिया है। कवि प्रकृति के अभाव के दुष्परिणाम को भी चित्रित करते हैं –

मेरे बच्चे तुम्हें बहुत खेल खेलने पड़ सकते हैं
नाचना भी पड़ सकता है बहुत
इसलिए जान लो कि घने जंगल और घास के मैदान
पार्सल से नहीं मँगाए जा सकते।'

(लीलाधर जगूड़ी, अनुभव के आकाश में चाँद, पृ. 47)

उपभोक्तावादी मानसिकता की विडंबना ही है कि आज बच्चे प्रकृति में स्वच्छंद खेलने की बजाय बाजार द्वारा कृत्रिम स्थानों पर कृत्रिम प्राकृतिकता के बीच शुल्क देकर खेलने को मजबूर किए जा रहे हैं। समकालीन कवि प्रकृति और मनुष्य के रागात्मक संबंध में आई दूरी को पाटना चाहता है। प्रकृति और मानव के आदिम रिश्ते का आभास दिलाना चाहता है।

वह वर्तमान जीवन की विसंगति को उद्घाटित कर रहा है, जहाँ हम प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर रहे हैं। जंगलों को काट रहे हैं, भवनों का निर्माण कर रहे हैं एवं उन भवनों को हैंग्गिंग गार्डन से सजा रहे हैं। घरों में इनडोर प्लांट लगा रहे हैं। शहरी जीवन जीना है और मानसिक शांति के लिए फार्म हाउस की परिकल्पना कर रहे हैं।

यह उपभोक्तावाद वृक्ष को काठ और काठ को फर्नीचर में

तब्दील कर रहा है। आम, संतरा, नींबू, आदि को डिब्बा बंद खाद्य निर्माता कंपनियाँ मैंगो जूस, आरेंज जूस में रूपांतरित कर रहे हैं। यह कैसी विसंगति है कि एक तरफ हम प्रकृति का दोहन कर रहे हैं तो दूसरी तरफ प्राकृतिक चीजों से हमारे आदिम लगाव को बाजार भुना रहा है। चाहे बालों में लगाने वाला तेल हो, क्रीम हो, साबुन हो सब जगह हम आँवला, रीठा, शीकाकाई, चंदन, केसर, हल्दी, खीरा जैसे पदार्थों को विज्ञापित करते पाते हैं। दादी माँ के प्राकृतिक नुस्खे बाजार ने हथिया लिए और हमें बेच रहा है लेकिन हम अपनी भारतीयता, प्राकृतिकता से दूर होते जा रहे हैं। बाजार हमारी प्राकृतिकता को कृत्रिमता के आवरण में बेच रहा है। बाजार तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त पानी को भी पाउच में पैकेजिंग करके बेच रही है और उसका निर्यात देश-विदेश में कर रही है-

'फैला है गंगा का कछार
गाँव घुस जाती है पोलीथीन पाउच में
पहुँच जाती है फाइव स्टार
पहुँच जाती है समुद्र पार।' (वही, पृ. 48)

भारतीय संस्कृति के प्रतीक 'गंगा' को भी अपने पंजे में दबोचना चाहता है। यहाँ कोई सांस्कृतिक-धार्मिक मूल्य कार्य नहीं करते। कोई सिद्धांत और नैतिकता नहीं सिर्फ एक ही पहलू है-मुनाफा। सिर्फ एक ही सिद्धांत है-लाभ। तभी तो अरुण कमल लिखते हैं-

'षड्यंत्र / गंगा के साथ भी षड्यंत्र
हिमालय के साथ / पृथ्वी-नक्षत्र समस्त मंडल के साथ।।'

(देवीप्रसाद मिश्र, प्रार्थना के शिल्प में नहीं, पृ. 15)

समकालीन जीवन के उपरोक्त मन: स्थितियों का विश्लेषण करते हुए नंदकिशोर आचार्य प्रश्न उठाते हैं -
'आधुनिक जीवन की बहुत-सी विकृतियों का एक कारण क्या यह नहीं है कि प्रकृति के साथ हमारे रिश्ते का अहसास अस्तित्वगत रहने की बजाय उपयोगितापरक होता जा रहा है?' (नंदकिशोर आचार्य, रचना का सच, पृ. 66) वास्तव में यह विचारणीय बिन्दु है कि प्रकृति के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण मनुष्य को निरंतर अतल गत में ढकेले जा रही है।

प्रकृति सुरक्षित नहीं है, मनुष्य भी सुरक्षित नहीं है। समकालीन कवि की चिंता प्रकृति को बचाने की है। मनुष्य को बचाने की है और इनके बीच शाश्वत रागात्मक संबंध को बचाने की भी। इसी के फलस्वरूप कवि कह उठता है -

'गुजरते समय की देह जबकि लहुलुहान है
सुरक्षित नहीं है कुछ भी जब
न जंगल, न नदी, न समुद्र, न मनुष्य।।'

(सं. राजेश जोशी, वर्तमान साहित्य कविता विशेषांक, अप्रैल-मई, पृ. 239)

वर्तमान समय मानव विरोधी है, प्रकृति विरोधी है। समकालीन कवि मानव प्रेमी है, प्रकृति प्रेमी है। तभी वे एक तरफ **'यह कैसा समय है/कि फूल के सीने में रक्त के धब्बे।'** कहकर समय की क्रूरता को चित्रित कर रहे हैं, वहीं किसान मजदूर जीवन के प्रति प्रतिबद्धता समकालीन कवियों को खेत, फसल, नदी, पगडंडी आदि की ओर ले जाती है।

समकालीन कवि इस मनुष्य विरोधी समय में जीते हुए मानवीय संबंधों को अपनी कविता में पुनर्जीवित किया और प्रकृति को जीवंतता दी है। एकांत श्रीवास्तव लिखते हैं-**'माँ खुद भूखी रहकर/बिखेर देती है/चिड़ियों के लिए दाने / उन्हीं चिड़ियों में से/ एक नन्हीं चिड़िया/ मेरे सपने में/ बँटाने चली आयी है माँ का हाथ / मुझे बुलाया है/ आँगन की चिड़ियों भरे उदास नीम ने / तुलसी पर झुके / माँ के भीगे हुए चेहरे ने।'** (एकांत श्रीवास्तव, अन्य हैं मेरे शब्द, पृ. 51-52) यहाँ प्रकृति से मानवीय रागात्मकता गुँथी हुई दिख रही है। जीवंत दिख रही है।

समकालीन कवियों का प्रकृति प्रेम छायावादी कवियों की तरह सौन्दर्यमयी नहीं रहा है बल्कि लोकोन्मुख चेतना से सम्पृक्त है। प्रकृति और मानव के सहअस्तित्व को महत्व दिया गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति और बाजारवाद के षड्यंत्र से मानवता को क्षति पहुँच रही है, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हो रहा है प्रकृति को नष्ट किया जा रहा है, जल, जंगल, जमीन खतरे में हैं, जीवन संतुलन बिगड़ रहा है। समकालीन कवियों ने सभी बिन्दुओं पर अपनी दृष्टि डाली है। आज जहाँ लोकतंत्र के चारों स्तम्भ बाजार की मनोवृत्ति अनुकूल कार्य कर रहे हैं वहीं समकालीन कवि इस अंधकार में मशाल के रूप में कार्यरत हैं। निरंतर मानवता हेतु संघर्षरत है। मनुष्य और प्रकृत्ति के रागात्मक संबंध को स्थापित करने हेतु कृत संकल्प है।

द्वारा अशोक कुमार सिंह
आदर्श विद्या निकेतन स्कूल के नजदीक
छोटा गोविन्दपुर , जमशेदपुर-801015
मो. 9031166365

सुधारवादी आंदोलन और वामा शिक्षक

– भावना मासीवाल

जन्म स्थान – 25 नवंबर 1987।
जन्मस्थान – मासी, अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड)
शिक्षा – एम.फिल., पीएच.डी।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं रचनाएँ प्रकाशित।

विश्व में नवजागरण की पहली आहट यूरोप में शुरू होती है। 14वीं सदी के आरम्भ तक यूरोप में प्राचीन रोमन साम्राज्य के ध्वंस के उपरांत, नई जातियों के उदय के साथ यूरोप में नई संस्कृति व नए जीवन का भी उदय हुआ। जिसमें कला, धर्म, दर्शन, विज्ञान सभी क्षेत्रों में नवीन विचारों का समावेश हुआ समाज व्यवस्था में नवीन चेतना का संचार हुआ। यहीं से नए यूरोप का जन्म होता है जिसे यूरोप में पुनर्जन्म, नवजन्म एवं नवजागरण, पुनर्जागरण का पर्याय माना गया। इसमें मध्ययुगीन बंधनों से मुक्ति, व्यक्ति स्वतंत्रता, ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न, धर्म से अधिक दर्शन की सत्ता, ईसाइयत के धार्मिक आडम्बरों का पुरजोर विरोध शामिल था। नवजागरण के उपरांत यूरोप में धर्म केंद्रित सत्ता पर प्रश्न खड़ा किया जाने लगा था और सामंतवाद के प्रति भी विरोध के स्वर उभरने लगे थे। भारत में भी यूरोप के नवजागरण अर्थात् रेनेसा का प्रभाव पड़ता है। 'भारत में नवजागरण का संबंध भी भाषा और धर्म से रहा है। यहाँ पर पहला नवजागरण महात्मा गौतम बुद्ध के आविर्भाव के साथ आया। बुद्ध ने पुरानी जड़वादी परंपराओं को तोड़कर मनुष्य-मनुष्य के बीच के भेद को मिटाया। उसका प्रभाव मध्य एशिया तक फैल गया। उन्होंने संस्कृत भाषा के स्थान पर जनभाषा पालि में उपदेश प्रारंभ किया। दूसरा नवजागरण भक्तिकाल में दिखाई पड़ता है। उतर भारत में देशी भाषाओं के उदय का यही समय है। इस आन्दोलन का मूलाधार भी धर्म ही है। यद्यपि निर्गुण पंथियों ने धर्म की जातिवादी संकीर्णताओं और बाह्याडंबरों पर गहरा प्रहार किया। इसके प्रचार-प्रसार में व्यापारिक पूँजीवाद ने भी सहायता पहुँचायी। तीसरा नवजागरण 19वीं शती के उतरार्ध में आया। इस समय अंग्रेजी राज्य स्थापित हो चुका था। अंग्रेजों ने अपनी औपनिवेशिक नीति के तहत जमीन का नया बंदोबस्त किया। इससे अपने आप में सिमटे हुए गाँवों की जड़ता टूटी। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से हम यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान से परिचित हुए और प्रगति का एक नया मार्ग मिला।'

यूरोप में नवजागरण के उपरांत ज्ञान, विज्ञान, कला, धर्म के क्षेत्र में वैचारिक बदलाव आया। यह बदलाव सामाजिक स्तर पर भी देखा गया भारत में नवजागरण के प्रभाव स्वरूप धर्म, शिक्षा, स्त्री, जाति विभेद, राष्ट्रीयता जैसे मुद्दों को केंद्रीयता मिली व सामाजिक कुरीतियों पर समाज सुधारकों द्वारा पुरजोर तरीके से विरोध किया गया। 19वीं सदी के नवजागरण काल में जहाँ पराधीनता, अंग्रेजी शासन व्यवस्था से स्वाधीनता का पुरजोर समर्थन मिलता है वहीं सामाजिक स्तर पर देश को बेटियों से बांधने वाली सामाजिक बुराइयों पर भी सामाजिक आंदोलन मुखर होता है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकानंद, ज्योतिबा फुले आदि समाजसुधारकों द्वारा स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, बेमेल-विवाह, जाति असमानता जैसे प्रश्नों को सामाजिक आधार दिया।

साहित्य समाज का आईना होता है। उसके प्रत्येक क्रियाकलाप से लेकर उसके भीतर के भेद-विभेद को जितनी गहराई से साहित्य प्रस्तुत करता है, वह अन्यत्र नहीं देखा जाता है। 19 वीं शताब्दी का नवजागरण का प्रभाव साहित्य पर भी देखा गया। साहित्य में काव्य विधा के साथ ही गद्य विद्या 'उपन्यास' पर विशेष रूप से देखा गया। हिंदी में 1870 ई. में गौरीदत्त का उपन्यास 'परीक्षा गुरु' आता है। हिंदी उपन्यास का इतिहास पुस्तक में गोपाल राय लिखते हैं कि 'देवरानी-जेठानी की कहानी की रचना उपन्यास के रूप में नहीं, बल्कि बालिकाओं के लिए उपयोगी पाठ्यपुस्तक के रूप में हुई थी। बाद में इसी तरह की दो पुस्तकें 'वामा शिक्षक'(1872) और भाग्यवती

(1877) लिखी गई। इनका मकसद था स्त्री-शिक्षा का विकास और आदर्श स्त्री चरित्र की प्रस्तुति। श्रद्धाराम फिलौरी का भाग्यवती उपन्यास अपने समय में शिक्षा के पाठ्यक्रम के अंतर्गत शामिल था। जिसका उद्देश्य ही समाज में स्त्री शिक्षा का प्रचार-प्रसार एवं उसके माध्यम से सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक बदलावों को समझाना था ताकि आम आदमी भी अपनी बेटी की शिक्षा पर ध्यान दे। वह बाल-विवाह की सामाजिक कुरीतियों से अपनी बेटी को मुक्त कर सकें। पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र में नवजागरण की चेतना हिंदी समाज से पहले ही आरंभ हो चुकी थी। राजा राममोहन राय से लेकर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, दयानंद सरस्वती, सावित्रीबाई फुले के प्रयासों से स्त्री शिक्षा व उसके प्रति सामाजिक कुरीतियों का पुरजोर विरोध हो रहा था। साहित्य इस आंदोलन से दूर नहीं था। उसकी छाप साहित्यिक विधाओं में देखी जा रही थी। मुद्रण के प्रचार-प्रसार ने भारतीय नवजागरण को एक नई राह दी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उदय के साथ ही सामाजिक व राष्ट्रीय मुद्दों को केंद्रीयता मिली। राष्ट्रीय आंदोलन को एक मुखर भाषा के रूप में हिंदी भाषा मिली जो आज हमारी राजभाषा है। साहित्य के अंतर्गत भी कविता कहानी लेख, निबंध और उपन्यास लिखे जाने लगे।

19वीं शती में सामाजिक सुधार से संबंधित लिखे गए उपन्यासों में स्त्री-सुधार ही केंद्रीय तत्व था। डॉ. गरिमा श्रीवास्तव के अनुसार 'सामाजिक सुधारवाद के उद्देश्य से परिचालित होकर, एक विशेष 'मिशन' के तहत हिंदी के सभी प्रारम्भिक उपन्यास लिखे गए। गौरतलब है कि इनमें एक भी रचनाकार स्त्री नहीं है लेकिन ये चारों ही-पं. गौरीदत्त, ईश्वरी प्रसाद और कल्याणराम, श्रद्धाराम फिल्लौरी, स्त्री की समस्याओं या स्त्री द्वारा उपजाई गई समस्याओं को अपनी रचनाओं का केंद्र बनाते हैं। ये उपन्यासकार परिवार की समस्याओं में सामाजिक समस्याओं को जोड़कर देखते हैं-घर खर्च में बचत, चाकरी से अच्छा निजी व्यवसाय, मर्यादित जीवन, स्त्री की पुरुष पर निर्भरता, संयुक्त परिवार, अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति जैसे फंडों पर विश्वास करते हैं और सामाजिक उन्नति के साथ मनुष्य की चारित्रिक उन्नति की आकांक्षा से परिचालित होते हैं। इन उपन्यासों में भी भारतीय स्त्री की सकारात्मक भूमिका का चित्रण किया गया है। स्त्री यदि पढ़ी-लिखी है, कम खर्च करती है, समझदारी से गृहस्थी का बंदोबस्त करती है।'

हिंदी साहित्य में स्त्री चेतना व नवजागरण का स्वर 'स्त्री शिक्षा' से आरंभ होता है। शिक्षा को विकास का पहला आधार माना गया है। ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले और अन्य समाज सुधारकों द्वारा भी स्त्री के विकास का मार्ग शिक्षा को माना और उसके लिए सामाजिक रूप से विद्यालय खोले। साहित्य में चेतना का यह स्वर परंपरावादी स्त्री की चेतना का था। जो परंपराओं में रहकर इतनी शिक्षा ग्रहण कर सके। जिससे उसका कुल, समाज आगे बढ़ सके। यह शिक्षा भारतीय स्त्री की गृहिणी की छवि को अधिक प्रबुद्ध बनाने की थी। ताकि महिलाएँ विपत्ति अर्थात् विधवा होने या परिवार में आर्थिक संकट के समय अपने स्वयं व परिवार की देखभाल कर सकें। 'वामा शिक्षक' उपन्यास भी स्त्री चेतना के विकास कर्म में अपनी भूमिका निभाता उपन्यास है। यह उपन्यास अपने पूर्व परीक्षा गुरु व परवर्ती भाग्यवती उपन्यास की तुलना में एक साथ कई सामाजिक मुद्दों को भी उपन्यास का केंद्रीय बिंदु बनाता है। जिसमें पहला मुद्दा बालविवाह, विवाह पर फिजूल खर्च का विरोध, बेमेल विवाह का प्रश्न, विवाह से पूर्व बालिकाओं की शिक्षा के अंतर्गत अक्षरज्ञान व परिवार को कुशलता से चलाने सभी गुणों का ज्ञान, दिखावे से दूर सादगीपूर्ण जीवन, संयुक्त परिवार की व्यवस्था आदि सभी समस्याओं को सामाजिक समस्या के रूप में देखता है।

'वामा शिक्षक' उपन्यास के संदर्भ में कहा जाता है कि यह उपन्यास 'मिरातुल उरुस' मुसलमान लड़कियों के पढ़ने व पढ़ाने के लिए लिखी गई पुस्तक से प्रभाव ग्रहण हिंदु लड़कियों की शिक्षा को केंद्र में रखकर लिखी गई पुस्तक हैं। उपन्यास लेखक 'वामा शिक्षक' उपन्यास की भूमिका में लिखते भी हैं कि 'इन दिनों मुसलमानों की लड़कियों के पढ़ने के लिए तो एक-दो पुस्तकें जैसे मिरातुल उरुस आदि बन गई हैं परंतु हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों के लिए अब तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई कि जिससे उनको जैसा चाहिए वैसा लाभ पहुँचे और पश्चिम-उत्तर देशाधिकारी श्री मन्महाराजाधिराज लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर की यह इच्छा है कि कोई पुस्तक ऐसी बनाई जाए कि उससे हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों को भी लाभ पहुँचे और उनकी शिक्षा की भली-भाँति हो। सोहम ईश्वरी प्रसाद मुदरिस रिमाजी और कल्याण राय मुदरिस अव्वल उर्दू

मदरसह दस्तूर तालीम मेरठ ने बड़े सोच-विचार और ज्ञान-ध्यान के पीछे दो वर्ष में इस पुस्तक को उसी ध्यान से बनाया है-निश्चय है कि इस पुस्तक से हिंदुओं की लड़कियों को हिंदुओं की नीति-भाँति के अनुसार लाभ-पहुँचे और सुशील हों बुरी प्रवृतियों को छोड़कर अच्छी प्रवृतियाँ सीखेंगी और लिखने पढ़ने और सद्‌गुण सीखने की रुचि होगी। 'यद्यपि यह पुस्तक हिंदुओं की लड़कियों को लाभ पहुँचाने की नीयत से बनाई गई है पर उसके आशय ऐसे हैं कि जिनके पढ़ने से लड़के भी सुशील होंगे।'

वामा शिक्षक उपन्यास की कथा का मुख्य केंद्र मेरठ के लाला भगवानदास का ढाई गाँव था। जिसमें उनके साथ उनके दोनों बेटे मथुरादास और जमुनादास रहते थे। कथा का प्रारंभ इन दो पात्रों के स्वभाव से आरंभ होकर इनकी पत्नियों के स्वभाव तक आता है। उपन्यासकार ने जमुनादास और मथुरादास की पत्नी के स्वभाव, शिक्षा व सीखने की मंशा के प्रति उनके मनोवैज्ञानिक स्वरूप को प्रकट किया है। यही स्वरूप उपन्यास के पूरे कथानक में इन पात्रों के व्यवहार, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में लिए गए निर्णय, विकट स्थितियों में बुद्धि का सही प्रयोग और उसके अनुरूप लिए गए निर्णय का परिवार व समाज पर प्रभाव, परिवार में शिक्षा के प्रति मानसिकता में परिवार का आगे बढ़ना व शिक्षा की उपेक्षा में परिवार टूटने तक की स्थितियों को कथा का केंद्र बनाता है।

उपन्यास अपने पूरे कथानक में भारतीय समाज के मूल्यों को केंद्रीयता देता है जिनके माध्यम से परिवार संस्था को मजबूती मिलती है। वामा शिक्षक उपन्यास के लेखक मुंशी ईश्वरी प्रसाद, मुंशी कल्याण राय ने भारतीय समाज व्यवस्था में परिवार संस्था के लिए घातक, ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञानता, अविश्वास, अंधविश्वास जैसी बुराइयों को दूर करने का आधार व एकमात्र मार्ग शिक्षा को माना है और माना कि यदि राष्ट्र, समाज व परिवार को उन्नत बनाता है। शिक्षा ही एक मात्र अस्त्र है जो उन्नत राष्ट्र के स्वप्न को पूरा कर सकता है। अशिक्षा परिवार के टूटने का कारण बनती है। उपन्यास की बड़ी बहू। इसी अशिक्षा के कारण विद्वेष की मानसिकता में संयुक्त परिवार से अलग होने का विचार करती है। 'बेबस होकर प्रबंध बड़ी बहू से छुटाकर छोटी बहू को सौंपा फिर तो क्या था सब बातों की ठीक-ठिकाना होता चला और नाज पात में बढ़ोत्तरी होने लगी सब चीज अपने ठिकाने के रहने लगी पर यह बात बहू को बुरी लगी और वह घर में लड़ाई रखने लगी और उसने जी में सोचा कि प्रथम तो मेरा मालिक पच्चीस रुपये का नौकर दूसरे आधा गाँव मेरे बाँटे में अधिक आया है जो मैं देवरानी से अलग रहूँगी तो उसमें मेरा बड़ा लाभ है।'

उपन्यास के अंतर्गत शिक्षा के महत्व के सवाल को तो उठाया ही साथ ही स्त्री-पुरुष समानता के प्रश्न को भी उपन्यास का विषय बनाया है। मथुरादास और जमुनादास के मध्य बेटियों की शिक्षा के प्रश्न पर वार्तालाप परिवेश के सामाजिक मनोविज्ञान को दर्शाता है। जहाँ समाज में शिक्षा का उद्देश्य आर्थिक आधार पर मजबूती और नौकरी प्राप्त करना था। उसमें भी स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं था। क्योंकि उनके लिए सामाजिक मान्यता रही है कि उन्हें केवल परिवार चलाना है और परिवार में शिक्षित स्त्री का दखल परिवार नामक संस्था को तोड़ सकता है। 'वामा शिक्षक' उपन्यास में समाज में शिक्षा के प्रति दो विचारधाराओं पर बहस करता है और समाज की परंपरावादी सोच को एक नई दृष्टि देने का प्रयास करता है-'मथुरादास-तुम क्यों नहीं लड़कियों को पढ़वाना चाहते। जमुनादास-जो लड़कों को पढ़ाओ तो एक बात है। वह कचहरी दरबार में जाकर नौकरी करेंगे खत पत्तर और अर्जियाँ लिखना सीखेंगे और लड़कियाँ तो बड़ी होकर घर में बैठेंगी। पढ़-लिखकर कहाँ नौकरी करने जाएँगी। मथुरादास-आपका यह कहना कच्चा है पढ़ना-लिखना नौकरी के लिए नहीं है मनुष्य बनने के लिए है-कुपड़ मनुष्य पशु के समान होता है। वह कोई काम गृहस्थ का जैसा चाहिए अच्छी तरह नहीं कर सकता और न हर बात को समझ सकता है फिर लड़कियों को पशु जैसा रखना कौन-सा धर्म है...जमुनादास- जो लड़कियाँ पढ़-लिख जाएँगी और बड़ी होकर अपने सासरे जाएँगी। वह जाकर किसी के बस में नहीं रहेंगी-निडर और निर्लज्ज होकर जिसको चाहेंगी चोरी-छिपे चिट्ठी-पत्री लिख भेजा करेंगी। मथुरादास यह आपका विचार ठीक नहीं है क्योंकि पढ़ने-लिखने से मनुष्य सज्जन होता है-जी की बुराइयाँ सब निकल जाती हैं-अच्छे-अच्छे विचार जी में आते हैं। बुरे और निक्कमे विचार दूर हो जाते हैं फिर क्यों कर लड़कियाँ लिख-पढ़कर अपने सासरे वालों के बस में नहीं रहेंगी। निश्चय वह तनमन से अपने पुरुष की टहल करेंगी और

आज्ञा में रहेगी और उनको सब रीति से प्रसन्न और मगन रखेगी...जो उनका पुरुष कोई अनुचित बात भी कहेगा तो उसको उसकी बुराई समझा सकेंगी अब तो स्त्रियाँ डर भय से अधीन हैं और पढ़ लिख जी से अधीन रहेंगी और जब कुपढ़ स्त्रियाँ बिगड़ती हैं तो फिर उनका सँभालना और सीधे रास्ते पर डालना बहुत कठिन है।' उपन्यास में स्त्री शिक्षा पर उठाए गए प्रश्न अपने समय में भी उतने प्रासंगिक थे और आज भी प्रासंगिक है। आज भी स्त्री शिक्षा की यह बहस हमारे समाज व परिवार में जारी है। आज भी गाँवों व देहातों में स्त्री शिक्षा का औचित्य एक योग्य वर तलाशना मात्र है। आधुनिक होते परिवेश में शिक्षा की आवश्यकता पर भले ही जोर दिया जा रहा है लेकिन महिलाओं की शिक्षा में भागीदारी का तय मानक है। यही कारण है कि विद्यालय प्रवेश में महिलाओं का जितना अधिक प्रतिशत होता है आगे की उच्च शिक्षा में वह प्रतिशत बहुत तेजी से गिरता है और एक समय बाद उनकी भागीदारी शून्य हो जाती है।

उपन्यास बाल-विवाह का विरोध करता है और उसे एक सामाजिक कुरीति मानता है जो समाज को न केवल खोखला करती है बल्कि बालिकाओं के लिए एक अभिशाप बन जाता है। आज भले ही हमारे देश में बाल-विवाह कानूनी तौर पर प्रतिबंधित है, उसके बाद भी ग्रामीण क्षेत्रों में कम उम्र में ही विवाह कर दिया जाता है। वामा शिक्षक उपन्यास की मथुरादास की बहू का पात्र और उसकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ और परिस्थितियाँ हमें आज भी ग्रामीण जीवन और समाज मनोविज्ञान को दर्शाती हैं-'मुहल्ले की सब औरतें मेरे कान खा जाती हैं कि तुम गंगा के लिए टेवे नहीं मँगवातीं क्या लड़की को जवान करके विवाह करोगी पुन्य तो छोटी लड़की के विवाह का है।' आज भी समाज में लड़की का विवाह पुन्य ही माना जाता है इस सोच के साथ समाज में स्त्री शिक्षा और स्वावलंबन से अधिक विवाह की अनिवार्यता का प्रश्न आज भी यथावत बना हुआ है।

विवाह में अतिव्ययता के प्रश्न को भी उपन्यासकार ने उठाया है। यह प्रश्न उन्नीसवीं सदी से आज तक हमारे समक्ष उभरता रहा है और सामाजिक प्रतिष्ठा का मानक बना हुआ है। सामाजिक प्रतिष्ठा, सम्मान के लालच व दिखावे में व्यक्ति अपनी हैसियत से अधिक धन खर्च करता है और बाद में कर्ज में डूब कर या तो आत्महत्या कर लेता है या समाज से स्वयं को दूर कर लेता है। पद, प्रतिष्ठा, मान जैसे शब्दों के घेरे में घिरा व्यक्ति विवाह में गैरजरूरी तरीके से धन का मितव्यय करता है और आजीवन उसके प्रभाव को झेलता है। जमुनादास का पात्र इसी मनोविज्ञान से संचालित पात्र है-'अभी लड़की विदा भी न हुई कि चार हजार रुपये खर्च हो गए। अब तो जमुनादास की आँखें खुलीं और सोचा कि जितना रुपया ब्याह के लिए सोच रखा था। वह सब खर्च हो गया और अभी ब्याह के बहुतेरे टेहले होने रहे हैं-लड़की की विदा होनी रही है और सौ-पचास रुपये इधर-उधर के देने हैं-बहन-भांजी को विदा करना है अपने जी में जो विचार तो जाना कि सब काम पाँच सौ रुपये होते हैं फिर साहूकार के पास दौड़े गये और कहा कि पान-सौ रुपये हम को और चाहिए। उसने कहा कि अब तो नहीं हैं। दसपाँच दिन में ले जाना। इसी सोच में थे इतने में उनका कारिन्दा रामस्वरूप गाँव की आमदनी के साथ सात सौ रुपये सरकारी किस्त देने को लाया जमुनादास ने अपने जी में सोचा कि यह काम तो अब इस रुपये से निकल जाएगा फिर ब्याह के पीछे दस-पाँच दिन में उसी महाजन से रुपया लेकर सरकारी किस्त दे देंगे। जमुनादास ने बारात को विदा किया और जो कुछ दान-दहेज देना था सब दे दिया।' विवाह में धन का गैरजरूरी खर्च जमुनादास को कर्ज में डाल देता है और यही कर्ज उन्हें गलत तरीके से धन कमाने के लिए मजबूर करता है और वह अपनी निकाले से निकाल दिए जाते हैं।

इसके विपरीत उपन्यास में मथुरादास का पात्र विवाह में धन के मितव्ययता का घोर विरोध करता है और उपन्यास के माध्यम से इस सामाजिक कुरीति का विरोध करते हैं और कहते हैं कि 'मैं वित्त से बाहर खर्च करने को अच्छा नहीं जानता मैं कभी इस विवाह में अपने भाई जमुनादास का सा खर्च न करूँगा और यों तो आजकल ईश्वर की कृपा है मुझको भाई जमुनादास से कम मकदूर नहीं है और न मैं यह चाहता हूँ कि आप अपने भाई लाला हरीराम की रीस करके कर्जदार हो जावें-भड़काने वालों का क्या बिगड़ता है जिसका बिगड़ता है उसी का बिगड़ता है। मैं उनके प्रबंध के अनुसार पान सौ रुपये से अधिक विवाह में न लगाऊँगा और मुझे भरोसा है कि आप भी उसी प्रबंध पर चलेंगे-यश बहुत रुपये खर्च करने से नहीं मिलता और विवाह में मग्नता कुछ बहुत रुपये खर्च करने से नहीं होती। यह तो

आपके मेल-मिलाप से होती है आपने अच्छी तरह देख लिया है कि इतना रुपया भाई जमुनादास और उनके समधी लाला हरीदास ने खर्च किया परंतु विवाह में कैसी मनचली रही। वह क्या करें, कुछ हिंदुओं में ऐसा ही प्रचार हो गया है कि ब्याह में बेटे वाला चाहता है कि किसी तरह बेटी वाले की हँसी और बेटी वाला बेटे वाली की हँसी चाहता है और दोनों में जरा सी बात पर मनचली हो जाती है। यह नहीं सोचते कि जब हम दोनों में संबंध हुआ तो एक के अपयश से दूसरे का अपयश होता है और उचित यह है कि एक दूसरे की प्रतिष्ठा को और यश को बनावें और दोनों में प्रतिदिन स्नेह बढ़ता जावे-इस विवाह में मेरी बड़ी प्रार्थना यही है। विवाह में मितव्ययता का प्रश्न इसी रूप में आज भी समाज में उपस्थित है। शिक्षित-अशिक्षित दोनों ही तरह की लोग व पीढ़ियाँ इस मितव्ययता को सामाजिक मान-सम्मान व प्रतिष्ठा के साथ आज भी ढो रहे हैं और पारिवारिक व व्यक्ति विरोध पर उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा का ज्ञान दे रहे हैं।

भारतीय समाज में शिक्षा के दो रूप देखने को मिलते हैं, पहला जिसे हम सभी विद्यालयी शिक्षा के रूप में जानते हैं और दूसरा सामाजिक शिक्षा। उपन्यास का पूरा परिवेश विद्यालयी शिक्षा से अधिक सामाजिक शिक्षा को महत्व देता है इसका एक बड़ा कारण मौजूदा समय में बालिकाओं की शिक्षा का पाठ्यक्रम व बालिका पाठशालाओं का उपलब्ध नहीं होना था। स्वयं उपन्यास के लेखक मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याण राय का 'वामा शिक्षक' लिखने का उद्देश्य एक ऐसी पुस्तक तैयार करना था जो हिंदू लड़कियों की शिक्षा में उपयोगी सिद्ध हो सके। शिक्षा में उपयोगिता का आधार भारतीय संस्कृति, धर्म के सामंजस्य को बनाये रखने के साथ ही आधुनिक शिक्षा का भी उसमें समावेश था। ताकि भारतीय संस्कृति, धर्म और समाज की खामियों को दूर किया जा सके। 'मनुष्य को चाहिए कि वह काम करे जो सदा निभ जाए।' यह वाक्य और उसका सार, उससे मिली शिक्षा केवल एक वर्ग, जाति और लिंग विशेष तक के लिए सीमित नहीं थी बल्कि इसका परिदृश्य पूरा भारतीय समाज था।

भारतीय समाज में विधवा जीवन मृत्यु के समान रहा है। समय के साथ सामाजिक सुधार हुए उसी से समाज की मानसिकता में कुछ बदलाव आया और वैधव्य के साथ महिलाओं को समाज में स्वीकार किया गया। अन्यथा भारतीय समाज में वैधव्य जीवन 'हिंदुओं की ऊँची जातों में पति से अधिक और किसी के मरने का शोक नहीं होता क्योंकि इन जातों में सब राजपाट स्त्री का उसी एक पर है सो मेरी तो एक पहाड़ उमर पड़ी है।' हमारे समाज में विधवा स्त्री को सामाजिक स्वीकृति तो मिली लेकिन उसे अधिकार आज भी प्राप्त नहीं हुए हैं। आज भी समाज में पति के मरने के उपरांत वह आश्रिता के रूप में समाज में जीवन यापन करने के लिए मजबूर है। पति की संपति पर अधिकार की लड़ाई आज भी वह लड़ रही है। हमारा समाज बाहर से हमें जितना प्रगतिशील दिखाई देता है अपनी जड़ों में आज भी वह रूढ़ियों से दबा है। यह रूढ़ियाँ ही अब धीरे-धीरे संस्कृति का रूप धारण करती जा रही हैं और हमें अधिक जड़ बना रही है। 'वामा शिक्षक' उपन्यास अपने समय में ही इस जड़ मानसिकता पर सुधारवाद की चोट करता है।

स्वास्थ्य और अंधविश्वास का गहरा संबंध है। भारतीय समाज में आज भी स्वास्थ्य संबंधित जागरूकता का अभाव देखा जाता है और हर बीमारी का ईलाज दवा से अधिक दुआ और झाड़-फूँक में किया जाता है। उपन्यास भी उन्नीसवीं सदी के अंधविश्वास से घिरे परिदृश्य को उजागर करता है जिसके कारण चेचक, शीतला जैसी बिमारियों के प्रभाव से कम उम्र में ही बच्चों की मृत्यु हो जाती थी। जबकि इनके दवा भी थी लेकिन अज्ञानता और अंधविश्वास के अँधेरे में समाज का अशिक्षित वर्ग विश्वास नहीं करता था। वह हाकिम से अधिक झाड़-फूँक की व्यवस्था पर विश्वास करता है। उपन्यास की पात्र राधा भी शिक्षा ज्ञान के अभाव में अज्ञानता और अंधविश्वास से घिरी थी। यही अंधविश्वास उसके दो बालकों की मृत्यु का कारण बनता है- 'राधा ने कहा कि मेरी सास कहा करती थीं कि हमारे यहाँ टीका नहीं लगता। हमारे बालकों पर देवी माई की वैसे ही कृपा रही है। कभी कोई बालक इसमें नहीं मरा तब गंगा ने कहा कि पहिले टीका लगवाने की चाल कहाँ थी और कौन यह युक्ति जानता था वह तो अंग्रेजों ने उपाय निकाला है इसके लिए यह बहुत अच्छा उपाय है अरी बहन बालकों के लिए यह बहुत बुरा रोग है जो बालक इस रोग से उबर भी गया तो कोई काना हो जाता है-कोई अँधा-कोई लँगड़ा, कोई लूला और कुछ न हुआ तो खतरे तो सब ही हो जाते हैं और सोचो तो उस समय बालकों को कैसा कुछ दु:ख होता है जब शीतला निकलती हैं-

लोगों ने माता मान रखा है। सच पूछो तो यह जठराग्नि है जो-पढ़े-लिखे हैं वह इस रोग को अच्छी तरह जानते हैं। मैंने पुस्तकों में इस रोग का हाल पड़ा है-'राधा के विपरीत गंगा और किशोरी का पात्र शिक्षित और अपने समय परिवेश के अनुरूप आधुनिक विचारों का पात्र बनकर उभरता है जो सामाजिक कुरीतियों से लेकर वैवाहिक पति-पत्नी संबंधों तक में तर्क के साथ बात करता है और बराबरी के साथ निर्णय लेने की स्वतंत्रता लेता है व अपनी शिक्षा, नीति कुशलता व आर्थिक रूप से स्वतंत्र निर्णय लेने के कारण मजबूत पात्र बनकर उभरता है। यह स्वतंत्रता इक्कीसवीं सदी के स्त्री विमर्श की नहीं है बल्कि उन्नीसवीं सदी में ही परिवार संस्था व पारिवारिक संबंधों को मजबूत बनाने से संबंधित थे। यह दोनों ही स्त्री पात्र अपने पिता के समान शिक्षित, शिक्षा के प्रति जागरूक पात्र हैं। हमारे देश का ग्रामीण वर्ग आज भी अन्धविश्वास से घिरा हुआ है तभी तो पोलियो मुक्त भारत की संकल्पना में एक लंबा समय लग गया और उसके बाद भी बहुत से बच्चे पोलियो से ग्रसित देखे जाते हैं।

स्त्री-पुरुष विभेद की जिस आधारशिला पर आधुनिक स्त्री विमर्श खड़ा है उसी पर उन्नीसवीं सदी में 'वामा शिक्षक' उपन्यास बहस करता है और उपन्यास की पात्र गंगा के माध्यम से यह बहस उभरती है। राधा के पति तुलसीदास के अपने ही भांजे द्वारा गहनों के लालच में उनके ही बेटे की हत्या और तुलसीराम का राधा पर क्रोध प्रसंग स्त्री-पुरुष विभेद और उसके कारणों पर बहस करता है।

'गंगा को समझाने से तुलसीदास को कुछ संतोष आया और फिर इनके पास बैठने वालों ने तुलसीदास से कहा कि हैं तुम अपने घर में से उसके बाप के साथ भेज देते हो इसमें तुम्हारी बड़ी हँसी होगी भाई तुम ही पर क्या है एक संसार की यही दशा है औरतों की मूर्खता से मर्दों की नाक में दम है-कोई ही ऐसे भाग्यवान होंगे जिनको चतुर स्त्री मिलती होगी, जैसे तुम्हारे भाई सीताराम को कि जिनको पढ़ी-लिखी औरत मिली नहीं तो सब इसी दु:ख में फँसे हुए हैं और जो सोचो तो औरतों का खोट भी नहीं। वह तो अपनी जान में जो कुछ करती है वह अच्छा ही करती हैं यह सब उनकी समझ का खोट है लड़कपन में कुछ लड़कों और लड़कियों की बुद्धि में भेद नहीं होता वरन लडकियाँ-लड़कों से अधिक बुद्धिमान होती हैं। हाँ यह मूर्ख रहती हैं और कुछ पढ़ती-लिखती नहीं इसलिए उनसे मूर्खता की बातें होती हैं। जैसे मर्द पढ़े-लिखे होते हैं, वैसी ही औरतें पढ़ीं-लिखी हों तो क्यों औरतों और मर्दों की एक सी समझ नहीं।' स्त्री-पुरुष विभेद की जिस बाइनरी पर उन्नीसवीं सदी में 'वामा शिक्षक' उपन्यास प्रश्न कर रहा था। वह विभेद इक्कीसवीं सदी में भी उसी रूप में मौजूद है। आज भी समाज बेटा और बेटी की पैदाइश पर उत्सव और खामोशी के रूप में अंतर मिलता है। शिक्षा में दोनों में से एक के चुनाव पर पुत्र के प्रति आने वाली पीढ़ी का उत्तराधिकारी का भाव कार्य करता है। हमारे ही देश में संवैधानिक स्तर पर लिंग जाँच करवाना गैरकानूनी व अपराध की श्रेणी में आता है, इसके बाद भी आज भी शहरों से लेकर ग्रामीण इलाकों तक में भ्रूण की लिंग जाँच और फिर उसकी हत्या की जाती है। विभेद की यह मानसिकता हमारे समाज के समाजीकरण का हिस्सा बना गया है जो धीरे-धीरे विरोध और बदलाव के साथ बदलेगा।

वामा शिक्षक उपन्यास उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दौर का उपन्यास है। यह दौर सुधारवादी आंदोलन का दौर था। इस कारण से वामा शिक्षक उपन्यास में सुधारवादी मानसिकता देखने को मिलती है। यह मानसिकता उपन्यास के भीतर उठाए गये विविध मुद्दों और वर्तमान समय के विमर्श के रूप में मिलता है। स्त्री शिक्षा, बाल विवाह का विरोध, विधवा जीवन, विवाह में मितव्ययता का विरोध, अंधविश्वास का विरोध और सबसे महत्त्वपूर्ण स्त्री-पुरुष समानता जैसे वर्तमान समय में भी बहस केंद्र में जैसे विषयों पर बात करता है और अपने स्तर पर तथ्य आधारित चर्चा-परिचर्चा के माध्यम से इन सभी पक्षों को सही रूप में पाठक के समक्ष लाने का कार्य करता है। यह प्रयास आज भी समाज में इन मुद्दों पर केंद्रित बहस के रूप में जारी है। उन्नीसवीं सदी से इक्कीसवीं सदी के इस दूसरे दशक में प्रवेश के बाद भी हम जब पीछे देखते हैं तो सामाजिक सुधारवादी आंदोलन का एक लंबा इतिहास मिलता है। उपन्यास वामा शिक्षक उसी सुधारवादी व सामाजिक आंदोलन का आधार बनकर उभरता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय कुणीधार,
मानिला, अल्मोड़ा 263654-(उत्तराखंड)
मो. - 8447105405

प्रासंगिकता का सवाल और सिद्ध सरहपा

- दिवाकर दिव्यांशु

जन्म - 10 जनवरी 1988।
जन्मस्थान - गया (बिहार)।
शिक्षा - पीएच.डी.।
रचनाएँ - पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

सरहपा का नाम लेते ही हमारे जेहन में जो बात सबसे पहले उभर कर सामने आती है, वह है; हिंदी का पहला कवि। यद्यपि उन्हें हिंदी भाषा एवं साहित्य का पहला कवि बताया जाता है तथापि पहले कवि को लेकर विवाद रहा है। राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा को हिंदी का पहला कवि बताया है। राहुल जी के इस मत से परवर्ती अन्य विद्वान भी सहमत हैं। आज हमारे सामने जब भी यह प्रश्न उठता है तो पहले कवि के रूप में हम सरहपा का ही नाम लेते हैं परन्तु हिंदी साहित्य के प्रारंभिक इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहास ग्रंथों में इस प्रश्न पर अलग-अलग राय रही है। सर्वप्रथम शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ में इस पर विचार करते हुए पुष्य या पुण्ड को हिंदी का पहला कवि बताया था। तत्पश्चात्रामकुमार वर्मा स्वयंभू को तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अब्दुल रहमान को, वहीं गणपति चन्द्र गुप्त शालिभद्र सूरि को, हिंदी के पहले कवि के रूप में देखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के पहले कवि को लेकर अलग-अलग विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। हिंदी का पहला कवि कौन, का सवाल उठाते ही हमें हिंदी भाषा की शुरुआत और इस भाषा में लिखे गये साहित्य की प्रारंभिक स्थिति के सवाल से जूझना पड़ता है। स्वाभाविक है कि इस बिंदु पर विचार करते हुए पहले कवि के प्रश्न से टकराना अनिवार्य हो जाता है।

अब तक लिखे गये हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों पर नजर डालें तो सबसे प्रामाणिक और वैज्ञानिक इतिहास ग्रंथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' सामने आता है। इसके पश्चात् लिखे गए जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें शुक्ल जी से इतर ज्यादा कुछ नहीं लिखा गया है। नयापन लाने के लिए अपनी ओर भले ही कुछ कम या ज्यादा जोड़ दिया गया है किन्तु कोई नई स्थापना नहीं दी गई है। अत: इस विषय पर विचार करने के लिए शुक्ल जी के इतिहास ग्रन्थ को केंद्र में रखकर ही बात की जा सकती है।

आचार्य शुक्ल ने अपनी पुस्तक में हिंदी भाषा एवं उसके साहित्य की शुरुआत पर विचार करते हुए उसकी आदिकाल की समय सीमा मुंज एवं भोज के समय से माना है और इसकी पूर्वपीठिका को स्पष्ट करते हुए उत्तरअपभ्रंश (प्राकृताभास हिंदी)भाषा में लिखे गए साहित्य का मूल्यांकन करते हैं और बताते हैं कि देश भाषा अथवा प्राकृताभास हिंदी का पता बौद्ध तांत्रिकों से लगता है परन्तु वे उनकी रचनाओं को सांप्रदायिक साहित्य कहकर उसे हिंदी सहित्य से बाहर कर देते हैं। उन्होंने जिन बौद्ध तांत्रिकों का नाम लिया है, उसका संबंध चौरासी सिद्धों से है। सरहपा इन्हीं चौरासी सिद्धों में आदि सिद्ध हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि, 'अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी का सबसे पुराना तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।'**(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं.-33वाँ, पृ.सं.-3)** यहाँ उन्होंने सातवीं सदी के अंतिम चरण से प्राकृताभास हिंदी की बात की है। यदि सरहपा का समय राहुल जी के अनुसार देखें तो 769 ई. है जो आठवीं सदी का अंतिम चरण है और उनकी भाषा पुरानी हिंदी है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी ने भी उसे पुरानी हिंदी माना है। गुलेरी जी लिखते हैं कि, 'जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता ब्रजभाषा कहलाती थी वैसे ही अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं।' **(चंद्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिंदी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ.-10)** यहाँ अपभ्रंश से उनका तात्पर्य उसकी उत्तर अवस्था से था। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने भी लिखा है कि, 'जिस प्रकार नानक जी की भाषा पंजाबीपन लिए हुए है, श्री भारतीचंद्र की बंगलापन, समर्थ गुरु रामदास की मराठीपन, मीरा की गुजराती-राजस्थानीपन है। वह ब्रजभाषा ही है। उसी प्रकार जिसे पुरानी हिंदी कहा गया है, वह हिंदी ही है।'

(चंद्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिंदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि.सं.-2032, पृ.-1) जिस भाषा का आभास सातवीं सदी के अंतिम चरण में होता है वह आठवीं सदी तक आते-आते और भी सुधरी होगी। इसमें संदेह नहीं। अब रही बात उनकी रचनाओं को सांप्रदायिक कहने की तो भारत में प्रारंभ से ही रचनाएँ धर्म को आधार बनाकर लिखी जाती रही हैं। बाद की मध्यकालीन रचनाएँ जिनमें सूरसागर, पद्मावत, रामचरितमानस इत्यादि रचनाएँ एक दृष्टि से धार्मिक ही हैं। अत: बौद्ध सिद्धों द्वारा धर्म को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य सांप्रदायिक नहीं हो जाता। यदि शुद्ध धार्मिक उपदेश हो तो अलग बात है परन्तु उसमें साहित्यिकता के भी तत्व एवं भाव हों तो वह धार्मिक होते हुए भी साहित्यिक होगा। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, 'जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, जिसमें वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रवाहित कर रही हो। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।' **(हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ.सं.-23)** फिर जहाँ आचार्य शुक्ल सिद्धों की रचनाओं के बारे में कहते हैं कि, 'उनका जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों, और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। अत: शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।' **(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.-12)**

वहीं इसका खंडन करते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि, 'धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसी दास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। दरअसल लौकिक निजंधरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है।' **(हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ.-23)** अत: धार्मिक उपदेशों को देख कर और उसे सांप्रदायिक कह कर साहित्य की सीमा रेखा से बाहर कर देना सही नहीं है। किसी भी रचना का मूल्यांकन उसके समय को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए और यह देखा जाना चाहिए कि वह रचना अपने समय और समाज से कितनी प्रभावित हुई है। साथ ही अपने समय और समाज पर कितना असर डाल रही है। अगर इस दृष्टि से देखें तो सिद्धों की रचनाएँ अपने समय एवं समाज से प्रभावित भी थीं और प्रभावित भी की थीं। खास कर सरहपा की रचनाएँ। इनकी रचनाएँ अपने समय के साथ नाथों से होते हुए मध्यकालीन साहित्य, समाज एवं संस्कृति को प्रभावित करती हैं। इसके प्रमाण में हम मध्यकालीन कवियों की भाषा दृष्टि (जिसमें लोक में जनसामान्य के बीच प्रयोग की जा रही बोली जा रही बोली अथवा भाषा पर जोर देना) एवं सामाजिक कुरीतियों के विरोध के रूप में हम देख सकते हैं।

सरहपा का संबंध बौद्ध धर्म के वज्रयान संप्रदाय से था। यह बौद्ध धर्म का विकृत रूप था। विकृत इसलिए क्योंकि यह बौद्ध धर्म के वास्तविक स्वरूप को भुलाकर जादू-टोने और तंत्र-मंत्र में विश्वास करने लगा था। ईसा की प्रथम शताब्दी में आकर बौद्ध धर्म दो शाखाओं में विभक्त हो गया था-हीनयान और महायान। आगे चलकर महायान शाखा के भी दो भाग हो गए थे-मंत्रयान या वज्रयान और सहजयान। इनमें से वज्रयान शाखा से सिद्ध संप्रदाय का संबंध था। अत: वज्रयान से संबंध रखने वाले वज्रयानी और इनके द्वारा लिखे गए साहित्य को सिद्ध साहित्य कहा गया। इस वज्रयानी सम्प्रदाय में ही सिद्ध सरहपा थे। सरहपा नाम से विख्यात होने से पहले उनका नाम राहुलभद्र था। बाद में वज्रयान से संबंध रखने के कारण उन्हें सरोजवज्र भी कहा गया। सरहपा नाम 'शरकंडों' (बाँस) से 'दौरी' (टोकरी) आदि वस्तुएँ बनाने वाली एक कन्या को साथ रख लेने एवं उसके साथ मिलकर उस काम को करने के कारण पड़ा।

इतिहास के जिस काल (769 ई.) में सरहपा विद्यमान थे उस समय के समाज पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा था। इसका कारन था उनकी प्रगतिशील एवं मानवतावादी दृष्टि। तत्कालीन समाज में समाज का स्वरूप स्पष्ट था क्योंकि जिस समय (8 वीं सदी) इनका उदय हुआ था। वह धार्मिक दृष्टि से एक नए युग का संधि काल था। विभिन्न धर्मों का बोलबाला था। धर्म संप्रदाय अपने पवित्र रूप को भुलाकर एवं विकृत होकर जनता के सामने आने लगे थे। ऐसी स्थिति में आम जनमानस धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ थे। साथ ही समाज में वर्ण-व्यवस्था, अन्धविश्वास, धार्मिक पाखण्ड, छुआछूत आदि बुराइयाँ फैली हुई थीं। इन कुरीतियों के कारण समाज विभिन्न वर्णों तथा जातियों में पूरी तरह बँटा हुआ था। धार्मिक अराजकता ने सामाजिक जीवन को आडम्बर युक्त बना दिया था। ऐसे ही परिस्थितियों में सरहपा का उदय हुआ था। जब

उन्होंने समाज को इस रूप में देखा तो इस व्यवस्था का विरोध किया। सबसे पहले उन्होंने अपने ब्राह्मण धर्म, जिसमें उनका जन्म हुआ था, उसमें व्याप्त बुराइयों का विरोध किया। इतना ही नहीं उन्होंने अपने इस धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म अपना लिया था। उनका यह कदम तत्कालीन सामंती समाज के लिए बहुत बड़ा विद्रोह था। बाद में आगे चलकर उन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया था। जब उन्होंने बौद्ध धर्म को अंगीकार किया तो उसमें भी उन्हें कुछ बुराइयाँ नजर आईं। उन्होंने उसका भी विरोध किया। उसमें अनेक निषेधों का बोलबाला था। उदाहरण के लिए भिक्षुओं को स्त्री से दूर रहना, गृहस्थ जीवन का निषेध होना, शरीर पर चीवर का अनिवार्य होना, इत्यादि। सरहपा ने इन सब को परे हटाकर एक शूद्र कन्या को अपने साथ रख लिया। यह बौद्ध धर्म के नियमों के विरुद्ध था फिर भी उन्होंने ऐसा किया। साथ ही उन्होंने एक नए पंथ सहजयान की शुरुआत की जिसमें जीवन को सहजता से जीने पर बल दिया गया था।

सरहपा शंकराचार्य के समकालीन थे। उस समय शंकराचार्य सनातन धर्म के प्रचार में लगे हुए थे। उन्होंने कहा था 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' जबकि सरहपा ने ठीक इसके विपरीत जगत् को सत्य कहा। यह कहते हुए उन्होंने जगत् को ही सबकुछ माना था। शंकराचार्य जहाँ यह कहते हैं कि, 'जीव की कल्पना मिथ्या है। परमार्थ के लिए एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। वहीं सरहपा ने किसी ब्रह्म या सनातन एक तत्व को नहीं माना और न ही इस संसार के भोगों को झूठा और त्याज्य कहा। जगत् की क्षणिक किन्तु मूल्यवान स्थिति को स्वीकार करते हुए इसे सर्वोपरि बताया और कहा कि, 'नकद को छोड़ उधार या प्रत्यक्ष को छोड़ परोक्ष के पीछे दौड़ना मूर्खता है।' **(राहुल सांकृत्यायन (सं.), दोहा-कोश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.-28)** इस प्रकार उन्होंने सांसारिक भोग-विलास को त्याज्य नहीं माना है परन्तु उनमें आसक्ति को बुरा माना है। वे जीवन में छल-पाखण्ड और विषय-वासनाओं में आसक्ति के विरोधी थे। इसलिए उन्होंने सभी पंडितों और शास्त्रज्ञ ज्ञानियों के विचारों को धता बताते हुए कहा था कि, 'जइ जग पूरिअ सहजाणन्दे। णाच्चहु गाअहु विलसहु चंगे।।' **(राहुल सांकृत्यायन (सं.), दोहाकोश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.-28)**

यह बात आज नहीं बल्कि 8वीं सदी में कही जा रही थी जब धार्मिक आडंबर, जाती-पाँति, छुआछूत आदि अनेक बुराइयों के साथ-साथ सामंती शासकों के कड़े नियम कानून थे। इन बुराइयों एवं सामन्ती नियमों के खिलाफ बोलना जान से हाथ धोने के बराबर था परन्तु फिर भी सरहपा ने इन सबकी परवाह किए बिना इन कुरीतियों पर कड़े प्रहार किए थे। आज हम आधुनिक और वैज्ञानिक जमाने में हैं फिर भी आज के संदर्भ में देखें तो ये विचार विद्रोही मालूम पड़ते हैं क्योंकि आज भी स्थितियाँ काफी कुछ वैसी ही हैं। आज हमें संविधान ने अभिव्यक्ति का अधिकार भी प्रदान किया है फिर भी समाज में हम इस तरह के विचार प्रकट नहीं कर सकते क्योंकि धर्म के ठेकेदारों का अभी भी कम बोलबाला नहीं है, उस समय की तो कल्पना ही की जा सकती है।

कहना न होगा कि सरहपा के ये विचार तत्कालीन भद्र समाज के लिए कड़वी घूँट के समान रहे होंगे। सरहपा की इन बातों का सामान्य जनता पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। फलत: लोग उनकी ओर खिंचे चले जा रहे थे। आचार्य शुक्ल ने सरहपा के विचारों का समाज पर पड़े प्रभाव पर चर्चा करते हुए बताया है कि, 'इन सिद्धों द्वारा इस प्रकार के संस्कार जनता में इधर-उधर बिखेरे गए थे। जनता की श्रद्धा शास्त्रज्ञ विद्वानों पर से हटाकर अंतर्मुख साधना वाले योगियों पर जमाने का प्रयत्न सरहपा के इस वचन 'घट में ही बुद्ध है, यह नहीं जानता, आवागमन को भी खंडित नहीं किया तो भी निर्लज्ज कहता है कि मैं पंडित हूँ' से स्पष्ट झलकता है।' **(आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.-3)**

हालाँकि शुक्ल जी ने इसे नकारात्मक अर्थ में उल्लेख किया है परन्तु फिर भी वे यह तो स्वीकार करते ही हैं कि सरहपा का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ रहा था। डॉ. नामवर सिंह जी ने लिखा है कि, 'कुल मिलकर इनके कहने में एक शक्ति है, प्रहार में निर्भीकता है, भावों में सीधे दिल को छूने की ताकत है और भाषा में अनगढ़ सौन्दर्य है।' **(नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ.-209)** इस प्रकार हम देखते हैं कि सरहपा अपने काल में ही लोगों में प्रसिद्ध हो गए थे। उनकी शरण में अनेक लोग आते थे और भक्त बन जाते थे। भक्तों के कारण ही वे 'सरह' से 'सरहपाद' बन गए थे।

सरहपा की इस विद्रोही चेतना का प्रभाव हम भक्तिकालीन कवियों पर भी देख सकते हैं। सम्पूर्ण भक्तिकाव्य व्यवस्था के खिलाफ ही उपजा काव्य है। भक्त कवियों ने भी सामाजिक कुरीतियों पर कुछ वैसा ही प्रहार किया था, जैसा अकेले सरहपा

ने किया था। सरहपा के विचारों को दबाने के लिए व्यवस्था ने अनेक प्रलोभनों को उनके सामने रखा था तो भक्तिकालीन कबीर, सूर, जायसी और तुलसी आदि कवियों के सामने भी व्यवस्था ने रोटी डाली थी परन्तु वे उसे अस्वीकार कर सामान्य जन के जीवन को सुखी बनाने के लिए अपने विचार अपनी कविताओं द्वारा उन तक पहुँचाने का काम करते रहे थे। इनकी कविताएँ ही इनका सन्देश और व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह था। इन संतों ने किसी व्यक्ति या राजा के पक्ष में बातें न कहकर अपने आराध्य की आराधना की थी। तुलसी ने अकबर के प्रलोभनों को इसी संदर्भ में ठुकराया था और कहा था कि, 'तुलसी अब का होइहें नर के मनसबदार'। यह कहना उस समय आसान नहीं था फिर भी उन्होंने कहा। कबीर ने तो सभी धर्मों पर, व्यवस्था पर, आडम्बरों पर खुल कर प्रहार किया था। इनकी ये ताकत उन्हें परम्परा से ही प्राप्त हुई थी। इस परम्परा में सरहपा की देन महत्त्वपूर्ण है।

आज के समय एवं समाज के संदर्भ में जहाँ तक सरहपा की प्रासंगिकता का सवाल है तो यह कहा जा सकता है कि जब तक समाज में ऊँच-नीच की भावना, जाति-पाँति, छुआछूत जैसी बुराइयाँ रहेंगी, मनुष्य और मनुष्य में फर्क किया जाएगा, इनकी प्रासंगिकता बनी रहेगी। इस महान विचारक, कवि और संत सिद्ध के प्रादुर्भाव से एक नये युग की सूचना मिलती है। वे समता और स्वतंत्रता के पक्षपाती थे और ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा वाली भावना के खिलाफ थे। वे ब्राह्मण जाति से संबंध रखते थे एवं संस्कृत के बहुत बड़े ज्ञाता थे। इसका पता हमें इस रूप में मिलता है कि वे नालंदा विश्वविद्यालय जो कि तत्कालीन बौद्ध अध्ययन का बहुत बड़ा केंद्र था, वहाँ के आचार्य थे। इस संस्थान में प्रवेश के लिए कई बार की कठिन परीक्षाओं में उतीर्ण करना होता था। वे चाहते तो संस्कृत की परम्परा में अपना योगदान देकर धन और यश दोनों कमा सकते थे परन्तु इतने बड़े विद्वान होने के बावजूद उन्होंनेएक दलित कन्या को साथ रखकर व्यवस्था का खुलेआम विरोध किया था। राहुल सांकृत्यायन ने इस संदर्भ में लिखा है कि, 'सरह विद्रोही थे। राजनीतिक विद्रोही नहीं विचारों की दुनिया के विद्रोही और कितने ही अंशों में सामाजिक विद्रोही भी।' **(राहुल सांकृत्यायन (सं.),दोहा-कोश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.-26)** उन्होंने न केवल वैदिक धर्म में व्याप्त बुराइयों का विरोध किया था बल्कि बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों का भी मखौल उड़ाया था। उन्होंने कहा था कि, 'यदि नग्न रहने से मुक्ति हो तो कुत्ते और सियार भी मुक्त हो जाएँगे। मोर पंख ग्रहण करने से यदि मोक्ष हो तो मोर और चमर भी मुक्त हो जाएँगे। शिला चुगकर खाने से यदि ज्ञान हो जाए तो करि और तुरंग भी ज्ञानी हो जाएँगे।' **(राहुल सांकृत्यायन (सं.), दोहा-कोश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ.-1)** आगे चलकर सरहपा की इसी विद्रोही प्रवृति का परिचय कबीर देते हैं।

कबीर की विद्रोही प्रवृति और प्रतिरोधी चेतना को स्पष्ट करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है कि, 'असल में साखी का मतलब ही है कि पूर्वतर साधकों की बात पर कबीरदास अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं।' **(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ.-46)** कहना न होगा कि सरहपा ने जिन बुराइयों, कुरीतियों एवं बाह्याडम्बर अथवा जाति-पाँति, छुआछूत, ऊँच-नीच, अन्धविश्वास एवं धार्मिक पाखण्ड आदि पर चोट की थी वे सब बुराइयाँ आज भी समाज में कमोबेश हैं। अत: इस दृष्टि से सरहपा एवं उनके विचार आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने उनके समय में थे।

यह कहा जा सकता है कि सरहपा की प्रासंगिकता केवल अपने समय या फिर भक्तिकाल तक ही नहीं, आज भी है। यदि यह कहा जाए कि वे तब तक हमारे साहित्य एवं समाज के लिए प्रासंगिक बने रहेंगे जब तकहमारे समाज में शोषण, उत्पीड़न, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, धार्मिक पाखण्ड, अन्धविश्वास और बाह्याडम्बर रहेगा तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज हमें सरहपा की उतनी ही जरूरत है जितनी कबीर की झाड़-फटकार वाली क्रांतिकारी रूप की जरूरत है। सुर, तुलसी, जायसी की भी हमें बहुत जरूरत है। यह जरूरत धूप-दीप-चंदन दिखने के रूप में नहीं बल्कि लोक के साथ जुड़ कर कविता को जन-जन का कंठहार बना देने की उनकी ताकत को पहचानने के स्तर पर है। ऐसा कभी नहीं होता कि समाज की दिशा कुछ और हो और साहित्य की दिशा कुछ और। दुर्भाग्य से आज हमारे साहित्यकार साहित्यकार न रहकर अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों के प्रवक्ता बन चुके हैं। उनका जुड़ाव जनसामान्य से कम राजनेताओं से ज्यादा हो गया है। पद, पैसा और प्रभाव के लोभ में ये जनता के प्रति अपनी जवाबदेही से निष्क्रिय हो चुके हैं। ऐसे समय में हमारे पुराने रचनाकार और उनकी रचनाएँ हममें संजीवनी की तरह प्राणवायु का संचार कर रहे हैं।

सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग, राजकीय पुरुष महाविद्यालय
कर्नूल-518001 (आंध्र प्रदेश)
मो.- 9441376548

साहित्य, सिनेमा और समाज

- सुरेश मुंढे

जन्म - 21 मार्च 1979।
शिक्षा - एम.ए., बी.एड., पीएच.डी.।
रचनाएँ - चार पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - अमृतादित्य साहित्य गौरव पुरस्कार।

साहित्य और समाज का संबंध अभिन्न है। समाज के बिना साहित्य सृजन असम्भव है, ठीक उसी प्रकार साहित्य के बिना समाज भी कोई महत्व नहीं रखता। साहित्य एक बहुत बड़ा सशक्त माध्यम है उसी तरह फिल्म भी बहुत प्रभावशाली और सशक्त माध्यम है। एक साहित्यकार को केवल कागज और कलम की जरूरत होती है, जबकि फिल्म निर्देशक को फिल्म के कला पक्ष के साथ-साथ उसका तकनीकी पक्ष भी देखना पडता है। फिल्म निर्माण की जोखिम भरी प्रक्रिया से उसे गुजरना पड़ता है। जो भी हो साहित्य और सिनेमा कला और मनोरंजन जगत के दो महत्त्वपूर्ण माध्यम है। साहित्यकार और दिग्दर्शक समाज में ही जन्म लेते हैं, समाज में ही पलते है और समाज की आसपास की परिस्थितियों से प्रभावित होकर, व्यथित होकर अपना-अपना सर्जन करते हैं। साहित्यकार और दिग्दर्शक दोनों का धर्म है, सामाजिक हितों की रक्षा करना। साहित्य और सिनेमा में जीवन उपयोगी उपदेश देने की शक्ति होती है।

समाज में सिनेमा का महत्त्व दुनिया आज बहुत ही गतिमान बन चुकी है। विज्ञान के तरह-तरह के आविष्कारों ने दुनिया का चेहरा पूरी तरह से बदल दिया है। आज जीवन के हर क्षेत्र में इसका प्रवेश हो चुका है। बीसवीं शती के शुरुआत में दुनिया इतनी गतिमान नहीं थी जितनी की आज दिखाई देती है। एक शताब्दी के फासले ने कितना कुछ बदल दिया है। आज का युग जनसंचार माध्यमों का युग है। रेडियो, दूरदर्शन और सिनेमा जनसंचार के प्रमुख दृश्य-श्रव्य माध्यम है। आज हमारा जीवन हर पल दृश्य-श्रव्य जगत में साँस ले रहा है। दृश्य-श्रव्य माध्यमों द्वारा झूठा सच आसानी से स्थापित किया जा सकता है। अत: इन माध्यमों में निहित सम्मोहक शक्ति का प्रयोग कर भूमंडलीकरण के पक्षधर अपने मनचाहे विचारों को स्थापित करने के लिए इन माध्यमों पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। साथ ही इन माध्यमों का प्रयोग अफीम के नशे की तरह समाज को स्वप्निल नींद सुलाने में करते हैं। जनसंचार माध्यमों में सबसे सशक्त माध्यम है सिनेमा।

इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में प्रवेश कर चुके विश्व पर आज यदि सबसे ज्यादा प्रभाव जिस माध्यम का है तो वह सिनेमा का ही है। हमारे रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन से लेकर चिंतन तक सिनेमा की गहरी पहुँच है। समूची मानवीय सभ्यता का यथार्थ जिस माध्यम से आज हमारे सामने उपस्थित है, उसमें सिनेमा की भूमिका अग्रणी है। सिनेमा का सौ साल का सफर हमारा-आपका और समूची मानव सभ्यता के विकास का सफर है। इस सफर ने देश की कई पीढ़ियों से साक्षात्कार किए हैं। सिनेमा ने एक उभरते हुए देश को आकार दिया है।

भारतीय सिनेमा अपने शुरुआती दौर से ही लगातार परिवर्तनोन्मुखी रहा है। शुरू सिनेमा का लक्ष्य समाज से जुड़ी समस्याओं को उठाना था। आजादी के बाद सिनेमा में राष्ट्रवाद का पुट आया। इसके साथ-साथ शासन और प्रशासन के खिलाफ विद्रोह की प्रवृत्ति भी जन्म लेने लगी थी। छोटे-मोटे बदलाव के साथ सिनेमा लगातार समाज को बदलने का कार्य कर रहा था। सिनेमा ने अपने उद्भव के प्रारंभ से ही कुप्रथाओं को खत्म करने का प्रयास किया। सिनेमा लोकप्रिय और रचनात्मक माध्यम है, वह वैचारिक मानस की निर्मिती में हमारी बहुत मदद करता है। वह प्रतीकों को गढ़ता-रचता है। कई विद्वान सिनेमा को आधुनिक युग का जादू कहते हैं। वह परंपरावादी

एवं रूढ़िवादी समाज में परिवर्तन, जागरूकता और सुधार लाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सिनेमा कला में एक तरह की व्यापकता है, जो करोड़ों लोगों के पास ले जाती है, और वह भी बहुत आसानी से। सिनेमा के इस व्यापक प्रभाव को हर कोई महसूस करता है। भारतीय सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ जागरूकता और सामाजिक परिवर्तन का भी महत्त्वपूर्ण काम कर रहा है। समाज निर्माण में अन्य माध्यमों की तरह सिनेमा की भी एक उल्लेखनीय भूमिका है। सिनेमा अपने संदेश को जन-जन तक पहुँचाने का एक सशक्त माध्यम है।

सिनेमा एक ऐसी कला है, अभिव्यक्ति का एक ऐसा माध्यम है, जिसमें साहित्यकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीतकला, नाटयकला, नृत्यकला सभी कलाओं का योग अपेक्षाकृत स्पष्टता से देखा जा सकता है। इसके बावजूद एक स्वतंत्र कला के रूप में उसकी अपनी विशेषता है, जिसकी उपेक्षा करने पर उसके मर्म तक पहुँचना सम्भव नहीं है। नि:संदेह सिनेमा को आज दृश्य-श्रव्य माध्यम की एक प्रमुख कला के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है। उपरोल्लिखित सभी कलाएँ सिनेमा से प्रभावित हुई है। सिनेमा आज के समाज में संवहन का सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है, जैसा कि यह शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनाओं की वृद्धि का एक सबलतम साधन है। सिनेमा के सकारात्मक पक्ष का उद्देश्य एक अच्छे समाज का निर्माण, समाज के यथार्थ को सामने लाना है।

मानव जीवन और समाज को प्रभावित करनेवाले विभिन्न माध्यमों में सिनेमा वह माध्यम है जो समाज को भी प्रभावित करता है और प्रतिबिम्बित भी करता है। भारत में सिनेमा को सौ साल हो चुके है। पिछले कई दशकों के फैलाव में कई पीढ़ियाँ सिनेमा में सक्रिय रही, उन्होंने अपने-अपने तरीके से सिनेमा को गढ़ा। सिनेमा में यह क्षमता पैदा की कि वह हमारी जीवन शैली का हिस्सा बन सके, क्योंकि सिनेमा जहाँ समाज को प्रतिबिम्बित करता है, वही निकलता भी उसी समाज से है। सिनेमा के भीतर समाज की मौजूदगी दिखती है, लोक दिखता है और उसमें सैकड़ों साल का अपना समाज कई रूपों में प्रतिबिम्बित होता है। जब हम भारतीय सिनेमा की बात करते हैं तो हमारे जेहन में भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास और भाषा पहले आती है, क्योंकि भारतीय सिनेमा का इन सबसे बहुत गहरा नाता है। जैसे -जैसे वक्त बदल रहा है वैसे-वैसे सिनेमा का रूप बदल रहा है, सभ्यता, संस्कृति, भाषा और इतिहास को सिनेमा जगत में बड़ी खूबसूरती से दर्शाया गया। रिश्तों की खूबसूरती तो कभी उलझे हुए रिश्ते भी फिल्मों में देखने को मिलते हैं, जो कहीं न कहीं हमारी निजी जिंदगी पर आधारित होते हैं, जिनकी कहानी हमें हमारी जिंदगी से जुड़ी हुई लगती है। बदलते हुए समाज का रूप-रंग और स्वरूप हमें भारतीय सिनेमा में बखूबी देखने को मिलता है।

सिनेमा ने हमेशा भारतीय समाज को एक विस्तृत क्षितिज प्रदान किया है। सिनेमा ने अपने समकालीन दौर की परिस्थितियों, चिंताओं और संघर्ष की अभिव्यक्ति पूरे आत्मविश्वास तथा दृढ़ता से की है। सिनेमा ने अक्सर समाज की दशा को दिशा देने का काम भी बखूबी किया है। फिर चाहे देश में व्याप्त सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों पर प्रहार करने की बात हो या बेरोजगारी, बेगारी, गरीबी, अशिक्षा की समस्या को प्रमुखता से सामने रखने की बात हो। 'फिल्म जगत ने फिल्मों के माध्यम से समाज में साम्प्रदायिक एवं जातिगत सौहार्द्र का वातावरण बनाने में भी अपनी भूमिका के साथ न्याय किया है। यहीं नहीं अनेक व्यवस्थाजन्य समस्याओं जैसे उग्रवाद, नक्सलवाद, आतंकवाद की तह तक पहुँचने तथा जनादेश को समझने में तथा सामंतवादी व्यवस्था, लालफीताशाही और भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनाक्रोश एवं विद्रोह को हथियार बना उनके विरुद्ध में माहौल बनाने में, साथ ही साथ उनके संभावित समाधानों को दिखाने में भी फिल्म जगत ने अमूल्य योगदान दिया है।

समाज में साहित्य का महत्त्व :- साहित्य और सिनेमा समाज के अभिन्न अंग है। दोनों ही कलाएँ समाज में जन्म लेती है और अंतत: समाज को प्रभावित करती हैं। सिनेमा और साहित्य दोनों ही कला हैं और दोनों कलाओं का उद्देश्य समाज की समस्याओं को चित्रित करना उन समस्याओं का समाधान अपनी कृति के माध्यम से समाज तक पहुँचाना है। साहित्य और सिनेमा दोनों भी कलाओं का एक-दूसरे से परस्पर संबंध है। और यह दोनों विधाएँ साथ मिलकर समाज सुधार की भूमिका निभाती हैं तो निश्चित ही देश का सामाजिक स्तर विकसित

होगा। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि सरकारी एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर ऐसी कोशिश की जानी चाहिए की सिनेमा आधुनिक तकनीक वाली साहित्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो सके और समाज निर्माण में उसकी भी अहम भूमिका बने। क्योंकि सिनेमा माध्यम का करोड़ों लोगों के जीवन पर असर पड़ता है। साहित्य और सिनेमा दोनों समाज को प्रभावित कर उसमें परिवर्तन लाते हैं। भारतीय समाज में साहित्य की अपेक्षा सिनेमा का व्यापक प्रभाव समाज पर पड़ रहा है। भारतीय समाज आज के समय में सिनेमा से जितना प्रभावित है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं हैं। लेकिन मानव और मानव समाज के विकास में साहित्य की भूमिका विशेष रूप में दिखाई देती है। आज के विज्ञान और तकनीकी युग में भी साहित्य का महत्व कम नहीं हुआ है। साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से समाज की समस्याओं, अच्छाइयों- बुराइयों को समाज के सामने रखता है। और उन समस्याओं से लड़ने का उपाय भी सात्यि के माध्यम से प्रस्तुत करता है। फिल्म निर्देशक भी वही करता है जो एक साहित्यकार करता है। दोनों के केंद्र में समाज ही होता है। जिस प्रकार साहित्यकार समाज से प्रभावित होता है उसी प्रकार फिल्मकार साहित्य से प्रभावित होता है और समाज से भी! एक अच्छा फिल्म निर्देशक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं को पर्दे पर उतारकर समाज के सामने जीवंत दृश्यों का निर्माण करता है। फिल्म के जन्म से लेकर अब तक विश्व साहित्य की विविध भाषाओं की कृतियों पर फिल्में बनी हैं। उसमें भारतीय भाषाओं की कृतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

साहित्य और सिनेमा दोनों में जीवनोपयोगी उपदेश देने की क्षमता विद्यमान रहती है। साहित्य के बिना समाज अपूर्ण है और समाज के बिना साहित्य और सिनेमा अपूर्ण है। साहित्य और सिनेमा अपनी-अपनी जगह श्रेष्ठ है। साहित्य का ध्येय समाज का हीत है और फिल्म का ध्येय समाज को मनोरंजन प्राप्त कराना है, साथ ही समाज को आईना दिखाना भी है।

साहित्य और सिनेमा भले ही भिन्न माध्यम हो लेकिन दोनों के केंद्र में 'समाज' ही है। समाज की समस्याएँ है, समाज के प्रश्न है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण करते हुए इन दोनों माध्यमों ने समय समय पर इसपर टिप्पणी की है। आम आदमी के दर्द को अभिव्यक्ति दी है और समाज की कुछ अनसुलझी समस्याओं का समाधान अपने माध्यम से करने का प्रयास भी किया है। भले ही कभी-कभी इनका तरीका कानूनन नहीं है, लेकिन समस्या का काल्पनिक समाधान पाकर थोड़ी देर के लिए क्यों न हो लोग आत्मिक आनंद का अनुभव करते हैं, यह भी कुछ कम नहीं है। कई बार साहित्य और सिनेमा से प्रेरणा पाकर लोगों ने व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन भी किए हैं।

सहयोगी प्राध्यापक,
हिंदी विभाग,
श्रीसंत सावता माळी ग्रामीण महाविद्यालय,
फुलंब्री, औरंगाबाद-431001-(महा.)
मो. -9422974444

सूचना

अक्षरा के सम्माननीय पाठकों, सदस्यों से विनम्र आग्रह है कि पते के साथ अपना मोबाइल नंबर भी अवश्य भेजें। ताकि पत्रिका आपको पहुँचने में विलंब न हो।

पेंसिल के अक्षर

– हरिशंकर राढ़ी

जन्म – 27 जून 1964।
जन्मस्थान – आजमगढ़ (उ.प्र.)।
शिक्षा – एम.ए., बी.एड.।
रचनाएँ – तीन पुस्तकें प्रकाशित।
विशेष – अनुवाद में विशेष कार्य।

आज एक ठो पेंसिल ले लाया। बस एकमात्र। एक 'पीस' कहूँ तो मन में खटकता है। इसलिए नहीं कि पीस अंग्रेजी है, बल्कि इसलिए कि पीस में खंड या टुकड़े की प्रतीति होती है। मैं भले ही गिनती में एक लाया हूँ, लेकिन है वह साबुत यानी अखंड। एक नग कहूँ तो न जाने कितने नगीना धारकों को बात चुभेगी। इसलिए लगा कि सबसे सही एक 'ठो' ही कहना होगा। इससे अपनी औकात, औचित्य और शब्द का सदुपयोग भी हो जाता है। बहुत दिनों बाद पेंसिल खरीदी और वह भी एक। जरूरत एक की ही थी या सच कहूँ तो इस एक के बिना भी काम चल जाता। मन में एक दुविधा सी थी कि पता नहीं दूकानदार एक पेंसिल देगा या नहीं। कहीं ऐसा न हो कि एक पेंसिल माँगूँ तो बिदक जाए और मुझे आले दरजे का चिरकुट मान ले।

ऐसा नहीं है कि मैंने कभी एकमात्र पेंसिल खरीदी ही नहीं थी। लेकिन मैंने तब खरीदी थी जब एक किता पेंसिल की हैसियत होती थी। मेरे बचपन में, यानी लगभग आधी सदी पहले जब एक नई-नवेली अखंड पेंसिल को छील-छालकर लिखने का उपक्रम शुरू किया जाता था तो वह सहपाठियों की छँटी-कटी पेंसिलों से अधिक गौरवशाली लगती थी। पेंसिल का एक समूचा पैकेट खरीदने के विषय में तो सोचा भी नहीं जा सकता था। इतनी बड़ी खरीद केवल दूकानदारों की पात्रता में आती थी!

दरअसल, किताबें पढ़ते समय जँच गई पंक्तियों को रेखांकित करने और विशेष जँच जाने पर कुछ टिप्पणी लिखते जाने की आदत है। इस आदत की पूर्ति कलम से भी कर लेता हूँ, लेकिन इधर खयाल आया कि किताब को यों रंग देना या अपनी प्रतिक्रिया थोप देना सुसभ्यता के दायरे की चीज नहीं है। क्यों न एक पेंसिल खरीद लूँ। अभी जो मेरे पास थी, वह छिलकर इतनी छोटी हो चुकी थी अकड़न की स्थिति में आ रही अँगुलियों से पकड़ी नहीं जाती। कुछ दमदार किताबें पढ़ने के लिए आ गई हैं, सो एक नई पूरी की पूरी पेंसिल ले लेना ही ठीक रहेगा।

पेंसिल को छीलने लगा तो बहुत सी परतें उतरने लगीं। लिखना है तो परतें उतारनी ही पड़ेंगी और मुँह को नुकीला बनाना ही पड़ेगा। भोथरे मुँह से शब्दों का आचार नहीं किया जा सकता। पेंसिल का असली तत्त्व तो अंदर है। यह बात अलग है कि बाहर की माँस-मज्जा भी जरूरी है। पहले माँस-मज्जा और त्वचा ही पकड़ में आती है। अब छीलने की सुरक्षित सुविधा हो गई है। अच्छे-अच्छे 'शॉर्पनर' आ गए हैं। जब हम पेंसिलवाले थे तब शॉर्पनर नहीं थे। रहे भी होंगे तो न हम जानते थे और न हमारी इतनी ऊँची और सुरक्षित पहुँच थी। ले-देकर घर में छुरी मिल जाती थी या किसी-किसी को पिताजी की दाढ़ी बनाने वाली सेवानिवृत्त ब्लेड मिल जाती थी। ऐसी ही एक ब्लेड से पेंसिल छीलते समय, जिसे हम गढ़ना कहते थे, मैंने अपनी बायीं तर्जनी को काट लिया था। उससे जो दर्द हुआ वह हुआ होगा, लेकिन टेटनस नामक कोई चीज होती है और उससे बचने के लिए कोई सुई लगती है, इसका ज्ञान एवं व्यवहार दोनों मिला। तबसे मेरी तर्जनी कुछ टेढ़ी है। टेढ़ी तर्जनी बड़े काम की होती है। आसानी से घी निकल जाता है। इशारे में भी कुछ लोच और अनिश्चितता रहती है। बहुत सीधा होना भी अच्छा नहीं।

पेंसिल छीलता रहा और परतें उतरती रहीं। पहली बार छीलते समय, मेहनत और कुशलता अधिक लगती है। अच्छा, ऐसा नहीं है कि बीच में मैंने पेंसिल खरीदी ही नहीं। लेकिन, बीच में बच्चों के लिए पेंसिल खरीदी तो पूरा पैकेट ही। इसकी जरूरत भी ज्यादा की रही होगी और पैसे का विशेष टोटा नहीं रहा होगा। भइया ये दिल्ली है, देश की राजधानी। हर दूकानदार एक पेंसिल बेचने का हद से छोटा काम नहीं करता। लेने वाला भी शरमाता है। पेंसिल के साथ कुछ और भी लेना था मुझे दूकान से। इस ढाल के सहारे मैंने पूछ लिया कि क्या आपके यहाँ सिंगल पेंसिल भी मिल जाएगी या पैकेट ही लेना पड़ेगा? लड़की भली थी, उसने सिर हिलाया और एक पेंसिल निकालकर दे दिया। अच्छे ब्रांड की पेंसिल थी। नाम बताऊँ तो विज्ञापन का मामला हो जाएगा। बचना पड़ता है। खुश हुआ कि पेंसिल मिल गई। पहले जरूरत होती तो बच्चों की पेंसिल से काम चला लेता था। लेकिन अब बच्चे बड़े हो गए हैं। बड़प्पन पेंसिल से दूर कर देता है।

पेंसिल की लिखाई कच्ची होती है। कच्चेपन का जमाना लद गया। पहले सब कुछ कच्चा होता था, समय पाकर पकता था। कच्चे से पक्के की यात्रा नैसर्गिक होती थी। कच्चे और पक्के के बीच में पड़ाव ही पड़ाव होते थे और उन पड़ावों का अपना स्वाद होता था। आज पक्केपन का बोलबाला है, ऐसा पक्का जो कभी कच्चा रहा ही नहीं। जन्मजात पक्के का चलन है। जो कच्चा पैदा हो भी रहा है, उसे हम रातोंरात पक्का बना दे रहे हैं। कच्चेपन का स्वाद खत्म होता जा रहा है। अब कैसे बताऊँ कि जिसने कच्चेपन का स्वाद नहीं लिया, उसकी जिह्वा पक्के को पहचान ही नहीं पाएगी।

कच्ची पेंसिल ने न जाने कितनों को बहुत पक्का बनाया है। कच्ची रेखाओं पर रोशनाई से चढ़ाई गईं इबारतें जीवन में ऐसी उतरीं कि फिर उतरीं ही नहीं। लेकिन हमारी यात्रा तो पेंसिल से पहले की है। हमारी यात्रा तो मिट्टी की दवात और मिट्टी की दूधिया से काली तख्ती पर लिखे गए 'क से कबूतर' होते हुए वाया बारहखड़ी मातृभाषा, गिनती-पहाड़े और जमा-घटा तक पहुँचकर समाप्त हुई थी। पाठशाला से घर वापसी के समय मुँह और कमीज की पीठ पर काले पोचारे और सफेद खड़िया की मिली-जुली आकृतियों का छापा दैनिक कृत्य था। बीच-बीच में सीमा विवाद होने पर तख्ती का शस्त्रीय प्रयोग आज की शास्त्रीय दुनिया तक ले आया। भाई, बहुत ऋणी महसूस करता हूँ मैं स्वयं को, रगड़-रगड़कर चमकाई गई उस काले पोचारे वाली तख्ती और उस नरकट की कलम का। मानता हूँ वह हमारे समय के अभाव का तमगा है, जिसे हर कोई अपने सीने पर लटकाना नहीं चाहता, लेकिन वह उस समय की मधुर परंपराओं, गुरु-शिष्य के संबंधों का भी प्रतीक था। अब अगर मेरे सीने से लटक ही गया है, तो क्योंकर उतारूँ? मेरे जैसे न जाने कितने उस तमगे को लटकाए घूम रहे होंगे, बस उसे कमीज के नीचे कर लिया होगा।

अपने हाथ से साबुत पेंसिल आज कई वर्षों बाद छीली है। बच्चे छोटे थे तो पेंसिल छीलने का दायित्व देवी जी का था। एक पुराना शॉर्पनर दराज में मिल गया। मन खुश हुआ। शॉर्पनर नहीं खरीदा था। यदि ये शॉर्पनर नहीं मिलता तो छीलने के लिए कम से कम एक दिन और रुकना पड़ता। खरीदारी के लिए जो मेरी स्मरणशक्ति और इच्छाशक्ति है, उसके अनुसार ज्यादा भी रुकना पड़ सकता था। ये शॉर्पनर बेटी का होगा, वही अपना सामान सँभालकर रखती है। शार्पनर मिल जाने से इस पेंसिल का प्रयोग मैं आज ही कर सकता हूँ। अपना हाथ कुछ कड़ा लगता है। मुझे पता है कि लकड़ी तो आसानी से छील लेता हूँ, लेकिन नोक बनाते समय मेरी कठोरता और जल्दबाजी बहुत दुखी करती है। सच बोलूँ तो दो-तीन टूट के बाद ही मैं सफल हो पाता हूँ।

टूटने और मनोवांछित नोक पाने का सिलसिला अपने जीवन में लगातार चलता रहा है। ज्यादा नुकीले के चक्कर में कई बार टूटना पड़ा है। जो भोथरे से काम चला लेते हैं, उन्हें कम छीलना पड़ता है, कम टूटना पड़ता है। भोथरे नोक का जीवन लंबा होता है। लिखे चाहे जैसा, चलता बहुत है। अपना चरित्तर बढ़ई पेंसिल को कान पर टिकाए रखता था। लकड़ी पर गोनिया के

सहारे निशान मारा करता था। जब ज्यादा हो जाता तो रुखानी से ही छील देता और कान पर टाँग लेता। लेकिन मुझे तो लकड़ी पर निशान मारना नहीं है। कागज पर चलाना है और बचाकर चलाना है। उस कागज पर इबारत पहले से लिखी है, मुझे तो दो लाइनों के बीच-बीच में घुसना है। अंग्रेजी वाले इसे 'बिटवीन द लाइंस' कहते हैं। बीच में घुसने के लिए महीन होना पड़ता है। नुकीला होना पड़ता है। भोथरे मुँह से घुसेंगे तो मूल उत्पाद का वनवास सह अज्ञातवास हो जाएगा।

नोक बनाते-बनाते उन गुरुजी की याद आ गई। नाम न ही लूँ तो बेहतर होगा। माना कि गुस्सा होते थे, न जाने कितने सजातीय-विजातीयों की उत्पत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए संबोधन देते थे, लेकिन थे भलेमानुष और पूर्ण समर्पित। अपनी थैली में अन्य आवश्यक साजो-सामान के साथ हाथीदाँत का एक तेज चाकू जरूर रखा करते थे। हर एक-दो दिन में उसे पत्थर पर रगड़कर चमकाया करते जिसकी चमक और धार बच्चों की पेंसिल और नरकट की कलम छीलते-छीलते मुँह की खा जाती। लगभग हर बच्चे की कलम छिलाई जैसे उनके कर्तव्य का एक हिस्सा हो। मुंशी जी कलम की खत काट दें और उससे सुंदरतम सुलेख न बने, ऐसा हो ही नहीं सकता।

गाँव और बाजार के बीच एक छोटी नदी बहती थी-छोटी सरयू। उसके तटों को मानो मेउड़ी, सरपत, बेहया और नरकट का वरदान प्राप्त था। नरकट यानी सरकंडा। बाँस के खानदान का नहीं होगा तो दूर का रिश्तेदार जरूर होगा। जैसे जीवों के उद्भव और विकास के सिद्धांत में बंदर से मनुष्य बनने की कल्पना की गई, वैसे ही नरकट और बाँस का संबंध स्थापित किया जा सकता है। तो यह छोटी सरयू के तट पर लहलहाता रहता था। क्वाँर-कातिक आते ही जब नदी का पानी हट जाता तो इसे पाना कुछ आसान होता था। बच्चे इसे काटकर लाते, छोटे-छोटे पोंहड़े काटते और फिर इससे वह लेखनी बनती जो सबसे सुंदर, सहज और देशज अक्षर लिखती। अब यह कहना तो बनता है कि नरकट की इस कलम का लेख तो पक्का होता ही था।

याद आया, अभी एक-दो साल पहले रामदरश मिश्र का एक संग्रह आया था-'सरकंडे की कलम'। इसमें उनकी कुछ चुनी हुई रचनाएँ थीं। सरकंडे की कलम संघर्ष की कलम होती है, अभावों में जिजीविषा और इच्छाशक्ति की कलम होती है। सरकंडे की कलम ठीक से पकड़ने में आ जाए तो वह सोने की कलम से मजबूत होती है। सरकंडे की कलम यानी मिट्टी की कलम, देशज भावों और संबंधों की कलम। रामदरश मिश्र के इस संचयन में सरकंडे की कलम बहुत पक्का लिखती है, बहुत चमकती है।

नरकट की कलम ने खूब लिखवाया है। तब मैं अपनी कक्षा में कद और वय में लगभग सबसे छोटा था। पैदा होते ही पाठशाला जाने का फैशन नहीं था। उन दिनों बचपन में एक बड़ा हिस्सा बचपन का भी हुआ करता था। शिक्षा में निवेशक, शिक्षाशास्त्री, मनोवैज्ञानिक और प्रयोगशाला वाले नहीं घुसे थे, इसलिए थैला उठाने की ताकत होने पर ही बच्चे विद्यालय जाते थे। तीसरी-चौथी कक्षा में पढ़ने वाले मेरे तमाम सहपाठी बारह-तेरह साल के थे। वे नरकट काटकर ले आते थे, टुकड़े करते थे और अपनी लेखनी बनाते थे। न जाने क्यों, मुझे भी उसी में से कलमें मिल जाया करती थीं। कभी नरकट उखाड़ने नदी नहीं गया। मुंशी जी की याद आती है तो लगता है कि उनका अपना न्याय था। बच्चा उम्र में छोटा है तो उसे बड़ों से कुछ मिलना चाहिए।

जिस दिन पेंसिल हाथ में आती थी, वह दिन उत्सव से कम नहीं होता था। सोचता हूँ तो लगता है कि इसी पेंसिल ने कागज के रास्ते पर हाथ पकड़कर चलना सिखाया था। जैसे कहती हो, तुम मेरी अँगुली पकड़कर चलो। लिखो। सीखो तो सही। डरो मत, कुछ गलत हो जाए तो मुझे मिटा देना। मैं मिट जाऊँगी लेकिन तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूँगी। और वह सचमुच मिटने के लिए तैयार रहती। एक घिसा-पिटा स्याही पुता 'मिटौना' थैले में पड़ा होता जो गलती होते ही मिटाने के अपने संवैधानिक कर्तव्य पर लग जाता। बहुत दिनों बाद पता चला कि इस मिटौने को रबर या अति सभ्य होने पर 'इरेजर' कहते हैं।

मिटौने ने बहुत सारी गलतियाँ मिटाईं, लेकिन इस मुए इरेजर के वश का नहीं हुआ कि जिन गलतियों को मिटाना चाहता हूँ, उन्हें मिटा दे! फिर काहे का इरेजर?

उन दिनों सफेद कागज के बड़े-बड़े पन्ने बिकते थे। चौबीस पन्नों के पैक को एक दस्ता बोलते थे। प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के लिए ये दस्ते अपरिहार्य होते थे। उन्हें लाकर, मोड़कर कॉपी बनानी पड़ती थी। बीचों-बीच मोटी सुई से मोटे धागे से सिलाई कर दी जाती थी। उस पर पेंसिल से लाइनें खींचकर नरकट की कलम और दवात की स्याही से लिखा जाता था। सुलेख और श्रुतलेख के लिए दो पंक्तियों के बीच में बड़ा अंतर रखा जाता था। अर्थाभाव इतना अधिक होता था कि अधिकतर बच्चे कॉपी भर जाने के बाद इन्हीं दो लाइनों के बीच की जगह में पेंसिल से नोट्स लेते थे। यानी वे रफ के काम आ जाती थीं। तमाम विषयों के शिक्षक प्रश्नों के उत्तर बोलकर लिखवाते। एक तो उनके बोलने की गति तीव्र होती थी, दूसरे सुंदर हस्तलिपि की प्राथमिकता के कारण विषय की कॉपी पर सीधे लिखना अनुमन्य नहीं था। सो, सुलेख की पुरानी कापियाँ इस तरह रफ करके तारी जाती थीं। पेंसिल वहाँ भी बहुत उपयोगी होती थी। मितव्ययिता की हद तो यह थी कि रफ पर एक बार पेंसिल से लिखे जाने के बाद पुन: उसी पृष्ठ पर कलम से दुबारा लिखा जाता था। पेंसिल अपनी लिखावट को छिपाकर दूसरे को बैठ जाने देती थी। पेंसिल की लिखावट और प्राथमिक अध्यापक कुछ ऐसा करते हैं। दोनो ही महँगे नहीं होते। उनके ऊपर बहुत कुछ लिखा और मिटाया जाता है, लेकिन सीखना कितना महत्त्वपूर्ण होता है, यह वही सिखाते हैं।

पेंसिल की लिखावट कुछ दिनों बाद धुँधली पड़ने लगती है। ठीक वैसे ही जैसे बचपन के प्यारे दोस्तों की स्मृतियाँ धुँधली होने लगती हैं। कुछ मेरे जैसे लोग होते हैं जो उन स्मृतियों का खुरच-खुरचकर देखते रहते हैं। ऐसे ही कुरेदने पर पेंसिल से आगे की यात्रा याद आने लगती है। पेंसिल तब भी थी जब विकसित तकनीक की तीन किलोमीटर तक चलने वाली कलमें नहीं थीं। फाउंटेन पेन तक पहुँचने लिए यही पेंसिल और नरकट की कलम सीढ़ी हुआ करती थीं। वह रंगीनी का जमाना नहीं था, अत: पेंसिलें बहुरूपिया नहीं होती थीं। सस्ताई-महँगाई के हिसाब से एक कच्ची और एक पक्की पेंसिल हुआ करती थी। कच्ची-पक्की रंग में नहीं, कठोरता में। जिसकी नोक छीलते समय बहुत टूटती थी वह कच्ची और जो कम टूटती वह पक्की। इसमें संदेह नहीं कि ज्यादा टूटने वाले कच्चे तो होते ही हैं।

पेंसिल छीलकर देख रहा हूँ। छिल गई है, लेकिन है अभी कोरी है। लगभग पूरी साबुत। अभी इसने किसी को कुछ नहीं सिखाया है। इसकी लंबाई देखकर एक सरकारी शिक्षा अभियान का प्रतीक चिह्न आँखों के सामने आ जाता है। एक छिली हुई साबुत पेंसिल है। बिलकुल मेरी वाली की तरह। पेंसिल की नोक की तरफ एक लड़की बैठी है। उसके हाथों में एक पुस्तक है जिसे वह लहरा रही है, पढ़ नहीं रही है। पेंसिल के पिछले भाग यानी ठूँठ की तरफ एक लड़का बैठा है। लड़की की पीठ की तरफ। उसके हाथों में पुस्तक नहीं है। लेकिन वह भी शिक्षा अभियान के प्रतीक में है। पता नहीं लड़के को एक किताब दे देने में कितना जोर पड़ रहा था! वह भी लहरा लेता। लड़की के हाथ में किताब है, थोड़ा-बहुत तो पढ़ ही लेगी। लड़कियाँ पढ़ रही हैं। बहुत जरूरी है उनका पढ़ना। लेकिन लड़का भी पढ़ लेता तो क्या बुरा हो जाता? शायद सरकार समझ गई है कि लड़का पढ़ना नहीं चाहता या वह पढ़ाना नहीं चाहती। ऐसे लगता है कि व्यवस्था कह रही है कि बेटा तू यहीं बैठ और लड़की को देखता रह।

बहरहाल, पेंसिल छिल गई है। अच्छी लग रही है। चाहते न चाहते इसे उस किताब की कुछ पंक्तियों के नीचे रेखा खींचकर उन्हें महत्त्वपूर्ण बनाना है। कुछ प्यारे शब्दों को गोले में रखना है और कुछ को काट देना है। हाशिए पर पंक्तियों की तासीर लिखनी है और पूरी पुस्तक को उसकी औकात बताकर किसी दूसरी पुस्तक की ओर चल देना है। अब इतनी मेहनत करने में इसे घिसना तो है ही और अपना मुँह भी बार-बार छिलवाना है। वो क्या है न कि मुँह अतिशय बड़ाई या अतिशय निंदा करने पर छिलता ही है।

(अगस्त 01, 2021)

बी- 532 (दूसरा तल),
वसंतकुंज एन्क्लेव (बी-ब्लॉक),
नई दिल्ली-110070
मो. 09654030701

कपास

- सुमन चौरे

जन्म - 22 जून 1948।
जन्म स्थान - कालमुखी।
शिक्षा - एम.ए., पीएच.डी।
सम्मान - म.प्र. साहित्य अकादमी सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

आँगन की फुलवाड़ी में हल्की सी धूप में बैठकर देव बत्ती बनाने के लिये, कपास से काकड़ा (बिनौला) अलग कर रही थी, वही छोटी-सी बेटी खेल रही थी, उसने जिज्ञासावश दो-तीन प्रश्न किये, 'दादी ये काला क्या निकला रुई के भीतर से, इसको क्या कहते हैं, इसे खायेंगे क्या मूँगफल्ली दाना, चने-होले जैसे?'

काकड़ा दिखाते हुए मैंने कहा-'ये कपास का बीज है जिसको हम काकड़ा-बिनौला कहते हैं, इसे खेत में बो देंगे, तो फिर से कपास का पौधा हो जायेगा और फिर से कपास आ जाएगा।' मेरी बात सुनते-सुनते वह खेलने लगी, थोड़ी देर में फिर आकर बोली 'दादी दीजिये वो कॉटन के सीड्स।' मैंने कहा-'वो तो मैंने क्यारी में खोंस दिये।' वह बोली 'दादी आप तो कह रही थी बोयेंगे', उस रुआँसी बिटिया को मैं समझाने लगी कि- 'हमारे यहाँ कपास के बीज को बोने को ऐसा ही कहते हैं कि खेत मंस् काकड़ा खोंसी आया।' बेटी को तो समझा लिया पर मेरा मन उस शब्दों में अटक गया। 'काकड़ा खोंसी आया।' अब मैं खेत में ही पहुँच गई। मैं प्रतीक्षा करने लगी, यह काला काकड़ा क्या-क्या सौंदर्य रच देता है। मुझे दिखाई दिया कुछ दिनों में काकड़ा जमीं बाहर आने लगा, नया जन्म लेकर।

कोमल-कोमल, नाजुक-नाजुक, हरी-हरी, दो-दो पत्तों ने धरती के मटमैले रूप को हरे-हरे रंग से रंगायित कर दिया। देखते ही देखते खेत भर-भराकर कच्च हरा होकर लहराने लगा। दिन जाते देर नहीं लगती हरी-हरी चादर घुटनों को छूने लगी। कुछ दिन गये नहीं कि कपास कमर तक लगने लगा। चुपके-चुपके कोई टाँक गया उसमें सफेद हल्दी पीले-से,फूल जो भीतर से कुछ गुलाबी रंग भरे थे। और जब ये फूल परिपक्व हो गये तो पौधों के नीचे गिरे कुछ अलग रंग के गहरे गुलाबी या हल्के से जामुनी नजर आने लगे। वे छोड़ आये पौधे पर फल को बैठने के लिए। प्रकृति भी क्या चमत्कार करती है, उस सफेद, पीले, गुलाबी फूल की जगह हरे फल भर उठे। ये फूल कब फल बन गए धरती ही जाने। डोडे या घेटे जिनको कपास का फल कहते हैं, पौधों पर लद गए! अब किसान को नींद कहाँ? दिन डूबे तक खेत में ही बसेरा रहेगा और भोर भुनसारे सूरज भी खेत में निकलेगा। उसके पैरों में जैसे पर लग जाते हैं। वह पूरे खेत में फिरकी जैसा घूमता है, कभी उन घेटों को देखकर आनन्दित होता है, तो कभी उनकी रक्षा के लिए चिन्तित होता है।

डोडे का पेट फोड़ कर एकाएक कपास का गुल बाहर निसर पड़ा। पूरा खेत ऐसा ही स्वांग रचने लगा। जिधर देखो उधर घेटे से कपास का गुल झाँक रहा है। कपास रात में चन्द्रमा की चाँदनी खेत में ही उतार लाया। कुछ दिन पहले का हरा खेत श्वेत रूप धरकर, सब कुछ धवल-नवल कर रहा है। किसान ने सद्योजात शिशु जैसे कोमल कपास को बड़े हौले से धुवा कर लेता है। गुल (कपास) को दौड़े से दोनों हाथों से इतनी ममता, वात्सल्स से निकाला जैसे दाई शिशु को माँ की गर्भनाल से अलग कर लेती है। शिशु को तनिक भी कष्ट न हो! चोट न लगे! यही भाव तो होता है किसान का। संतान है, यह कपास किसान की। किसान की आशाओं को पूरा करने वाला पूत और सूत (कपास) किसान की उम्मीदों पर खरा उतरने वाला एक अलौकिक और एक लौकिक सुख का स्रोत। पहले गुल को वह अंजुली में भरकर सिर से लगा लेता है। किसान जानता है, उसकी हरीबी-गरीबी यही बेटा दूर करेगा। कर्ज की चिन्ता की कालिमा को धो देगा। नगदी फसल है कपास। सब अँधेरा चाँदनी कर देगा। उसका चेहरा चमक उठता है, चाँदनी सा। सब चाँदी ही चाँदी हो जायेगी।

चाँदनी ने मेरी सोयी हुई चेतना को चमका दिया। मुझे बचपन की शरद पूर्णिमा की रात याद है। एक चाँदनी आकाश में अलौकिक छटा बिखेर रही है, दूसरी धवल उज्जवल चाँदनी ने खेत में सौंदर्य का सागर रच दिया। हवा के मंद-मंद झोंकों से कपास ऐसा हिलडुल रहा है, दूर से देखने पर ऐसा नजर आ रहा है, मानो क्षीर सागर में फेनिली तरंगे, तरंगित हो रही है। कोई खड़ा होकर डूब ले इन तरंगों में। कौन जानता है, यह छोटा सा काला बीज इतनी धवल-धरा कर देगा, कि ऊपर की शरद पूनम की दुग्ध धाराएँ भी इससे लजा जायेंगी।

इस धवल स्वर्ण का, इस सफेद सोने का मूल्य मुझे मालूम है। जब भी कपास की बात होती है, तो कपास के बड़े-बड़े पहाड़ों में दुबका बैठा मेरा बचपन छलाँग लगाकर बाहर आ जाता है। याद आता है वह पहला दिन जब बाबू जी खेत से पहला कपास का गुल लाते थे और कुर्ते की ऊपर की जेब से निकाल कर अपनी माँ याने हमारी आजी माँय के हाथ में हौले से देते थे। माँय उसे गुलमाथे से लगाकर भगवान् के सामने रखकर प्रणाम करती थीं। बाद में उससे काकड़ा (बिनौला) निकालकर उस रुई की बत्ती बना लेती थीं और तारीफ करती थीं, कि बड़ा उम्दा रेशा है। दूध जैसा धवल है। आजी माँय ऐसा ही कुछ कहा करती थीं, कि 'घर में आई हर वस्तु, लक्ष्मी होती है। उसकी प्रशंसा करना चाहिए, इससे वस्तु में वृद्धि भी होती है, और बरकत भी बढ़ती है।' रात में जितनी ठण्ड और दिन में तेज घाम होगा, उतना ही कपास भर-भराकर घेटे का पेट फोड़कर बाहर निकल पड़ेगा।

कपास का उत्सव ही रहा करता था हमारे घर। उन दिनों लगभग महीना डेढ़ महीना कपास के अलावा कोई खेल नहीं था हमारा। सरी साँझ के पहले सिर पर पोटलियाँ रखकर महिलायें कपास लेकर आती थीं। उनके पीछे आता था हमारे खेत का साझी। वही इन मजदूरों को खेत में कपास चुनने के लिए ले जाता था और वही निगरानी भी करता था कपास की। 'सभी तो भगवान् के घर से ईमानदार पैदा होकर नहीं आता', ऐसे विचार हमारे फत्तू फुवाजी भील का था, जो हमारा ईमानदार साझी था। सब एक के बाद एक अपनी पोटली खोलते और ताकड़ी के पलवे पर रखते थे। हमारे बाबूजी पसेरी के बाँट से तोलते थे कि कितना कपास सुना। कपास के झाड़ में लगे डोडे से खिला हुआ कपास चुनने के लिए निमाड़ी में शब्द 'कपास एचणूज' है। एक पसेरी की मजदूरी पर तीन-चार कभी-कभी जो ज्यादा कपास चुन लेते थे, उनकी जल्दी के कारण कपास में डोडे का टुकड़ा और कपास की सूखी पत्तियाँ भी आ जाती थीं। फिर ऐसे मजदूरों को हमारा साझी चेतावनी भी देता था कि 'कल से ऐसा कचरा बीनकर लाये कपास के साथ, तो धाड़की पर नहीं बुलायँगे।' क्योंकि वह जानता है कि कपास में जरा भी कचरा रहा कि बाजार में उसका दाम नीचा हो जाएगा। खिला हुआ एकदम चाँदनी सा फूला-फूला कपास ही अच्छे दाम का हकदार होता है।

अब इस कपास का घर के कमरों में दीवालों के सहारे टिका-टिकाकर, जमा-जमाकर पहाड़ बना देते थे। कपास के तीन तोड़े, बड़े बढ़िया कपास के होते हैं। भार आया कि फिर तीन चार दिन तक कपास के ढेर के ढेर।

घर में तो कपास, पिछवाड़े तो कपास; कोठे में तो कपास। अलग-अलग खेत के अलग-अलग किस्म के कपास हुआ करते थे, जिसकी बाज़ार में कीमत भी कम-ज्यादा हुआ करती थी। हम लोग कपास के ढेरों पर बैठकर शाला का काम करते थे, खेलते भी थे। कपास में दपड़ा-दपड़ी (छिपम-छिपाई) भी खेल लेते थे।

हम लोग कपास के पहाड़ में गुफा बना लेते थे। हमारी पाठ्य पुस्तक में एस्किमो के बर्फ के गोलाकार घरों के चित्र थे। इन घरों को इग्लू कहा जाता है। हम अपने कपड़ों पर कपास लगाकर बर्फ के इंसान बन जाते थे और इग्लूनुमा हमारे द्वारा बनाई हुई गुफा का आनन्द लूटते थे। जब तक कपास घर रहता था, हमारे बालों में कपास, कानों में कपास, कपड़ों में कपास सब जगह कपास ही कपास रहता था। किन्तु गन्दे पैरों से कपास पर कूदने की सदा पाबन्दी होती थी। क्योंकि कपास गन्दा हुआ और कूदने से रेशा बैठ जाता है। जिसका बाज़ार भाव कम हो जाता है। पर बचपन में जो खेल की मौज है, वह दाम, कम-ज्यादा, बाजार भाव का हमारे लिए क्या मोल है, हमारा आनन्द!

वह पैसे का सुख कहाँ जानता था। हाँ, खेल-खेल में कई चीज़ें कपास में छुपा देते थे, कहाँ ढूँढो अथाह सागर में। जब कपास की गाड़ी भरती थी, तब कई दपड़ाई (छिपाई) गई चीज़ें मिलती थीं।

कपास की गाड़ी (बैलगाड़ी) भरी जाती थी, तब कपास पर कूदने की साध पूरी हो जाती थी, क्यों कपास दबा-दबा कर गाड़ी भरी जाती थी। सन के बहुत बड़े गोणा (बोरा) को गाड़ी में फँसाकर सटाकर रख दिया जाता था, फिर उसमें तह-तह, लहर-लहर कपास जमाया जाता था। उस कपास को बैठाने के लिए हमारे पैर धोकर हम बच्चों को फत्तु फुवाजी गोदी में उठाकर गाड़ी के गोणा भरे कपास में उतार देते थे और कहते थे, 'खूब चाळो'। फिर कपास की भराकी, गोणा का मुँह सिल देते थे। हमारे यहाँ के कपास की गाड़ियाँ सेणुद (सनावद) या निमाड़खेड़ी जीण में जाती थीं। उन जीणों के भी आड़तिया लोग होते थे। निमाड़ क्षेत्र में कपास की माकूल गाड़ियाँ आया करती थीं।

हमारे गाँव की गाड़ियाँ रात्रि में भरी जाती थीं और दस-बीस गाड़ियाँ एक साथ निमाड़खेड़ी या सेणूद, जहाँ अच्छा दाम होता था, वहाँ ले जाते थे। ये गाड़ियाँ भोर-भुनसारे पहुँच जाती थीं। जीण तक यहाँ ऐसा सौंदर्य दिखाई देता था, कपास का जितना की प्रकृति ने रच दिया हो। मैदान में कपास के बड़े-बड़े पहाड़ जैसे गगनचुंबी ढेर। ऊपर समान में भी कपसीले बादलों के बड़े-बड़े पहाड़ नज़ारा ऐसा अद्भुत होता था कि समझ नहीं आता था कि ऊपर कपास है कि नीचे ज़मीन पर बादल। यहाँ तक कि कपास के ढेर देखकर ही लोग आसमान के उड़ते सफेद बादलों को कपसीले बादल भी कहने लगे हैं।

जब ज्यादा गाड़ियाँ होती थीं, तो कपास तोलने में देर लगती थी। तब मशीने तो थीं नहीं, सब काम हाथों से ही होता था। तब एक-दो दिन रुकना पड़ता था, काँटा खाली होगा तभी तो कपास तुलेगा। वैसे तो कपास घर से तुला ही रहता था, जो बाँधकर लाते थे, तो तोल हो ही जाता था, किन्तु आढ़तियों का अपना अलग तोल-वज़न का हिसाब रहता था।

सेणुद जीण के मालिक से हमारे दादा-बाबूजी का मान प्रतिष्ठा का व्यवहार था। हमारे गाँव का कपास उत्तम किस्म का कपास होता था। कपास खाली करके साझी नौकर तो कालमुखी आ जाते थे, बाबू जी पैसा लेकर, और बहुत-सा सामान लेकर सवारी गाड़ी से आते थे। सामान में प्रमुख होता था कपड़ा। दशहरा-दीवाली पर हाली, साझी, मानकर, नाई, नौकर सबको कपड़ा देते थे। दूसरे घर के हमारी आजी माँय, छोटी आजी, बड़ी बाई, बाई सबके लिए जोड़े की जोड़ साड़ियाँ। हम बच्चों के कपड़े तो मदन सेठ दाजी की दुकान से कालमुखी में ही खरीदे जाते थे।

धनतेरस की पूजा के लिए सोने के कुछ आभूषण नहीं तो पूळ की मुद्रिका अवश्य आती थी। साथ ही सेणूद के खारया (मोटी सेव), बड़वाह का चूड़ा (नमकीन चूड़ा) भी बाबू जी लाते थे। एक बार सब सामान के साथ बाबू जी एक कपड़े में लपेटकर कैंची लाये। वह कैंची तो हम भाई-बहनों ने खेल-खेल में कपास में दपड़ा दी थी। दो साल हो गये थे। सब दूर खूब ढूँढ़ी। तब माँय ने कहा,' मत ढूँढ़ो कोई ले गया होगा, लौटाना भूल गया होगा।' बाबू जी से कहा था उन्होंने, 'शिवा एक बड़ी कतरनी ले आना।' दूसरी कतरनी आ गई। पर कपड़े से कतरनी निकालते हुए बाबू जी ने कहा, 'जीण के मालिक ने लौटाई है।' कैसे लौटाई? उस कतरनी पर लिखा था 'रा.शि.उ.का.' यानी रामनारायण शिवनारायण उपाध्याय कालमुखी। जीण के मालिक, आढ़तिया सब लोग इस नाम से अच्छी तरह परिचित थे, इस प्रकार वह कैंची दो साल बाद घर आई।

जीण में कपास की गाड़ी पहुँच गई, तब कपास उत्सव खतम हो गया क्या? कपास तो बड़ी मात्रा में, घर-बार में रखना पड़ता था। पूजा-पाठ, दीया बत्ती शहर में रहने वाले नाते रिश्तेदार सबको काकड़ा निकालकर रुई पहुँचाना भी एक आनन्द का विषय होता था। दीवाली पर बत्तियाँ बनाना, कार्तिक मास में दीया बत्तियाँ छोड़ना, काकड़ आरती के लिए कपास, नवरात्रि तो शिवरात्रि में एक सौ आठ तार की बत्ती तो इक्कीस तार की, एक सौ आठ बत्ती, सब दोपहर में बत्ती ही बत्ती का काम रहता था।

बत्ती तक ही कपास की कथा सीमित नहीं थी। और हम भी तो नहीं पीछे थे, शाला ले जाते थे कपास। फिर बिनौले निकाल कर धुनैया से धुनकर पोनी बनाते थे। नये कपास की अच्छी पोनी और पतला सूत तार बनता था। तकली और चरखा भी, दोनों से सूत कातते थे। और वह सूत खण्डवा के खादी भण्डार भेज देते थे।

बाबू जी कपास से रुई निकलवा कर पिंजारे से धुनवाकर रजई-दुलई, गद्दा-तकिया भरने के लिए देते थे। बहन-बेटियों के घर रुई भिजवा देते थे। मुझे याद है, हमारे घर और हमारे परिवार के और दो-तीन घरों में बड़ा रैह्यट्या (चरखा) था। हमारी आज्जी माँय और छोटी अज्जी माँय रात को कंदील की रोशनी में सूत कातती थीं। आज भी हमारे घर बहुत बड़े खण्डवा (दरियाँ) माँय लोगों के हाथ से काते सूत से और हाथ से बुनी हुई हैं, जो हमारे घर में शुभ कार्यों में बिछाते हैं। हमसे तो तो उस रह्यट्या का एक चक्कर भी नहीं देते बनता था, घट्टी के पाट इतने भारी थे।

कितनी मेहनत, कितनी सावधानी, उन दिनों खेतों से भी लोग कपास की चोरी कर लेते थे, तो उसकी रखवाली, फिर घरों में कपास आ जाय तो रेशा बैठे नहीं, साफ सुथरा बाज़ार में जाये। उस समय बिजली तो नहीं थी, घर में कंदील-चिमनी और भोजन के लिए लकड़ी के चूल्हे जला करते थे। एक चिंगारी उम्मीदों पर पानी फेर सकती थी। कितनी रखवाली रहती थी कपास की। तभी तो कपास जैसे खेत में डोडे से खिलता दिखाई देता है, ऐसा ही किसान का चेहरा खिलता है जब वह अपने कपास के पुख्ता भाव लेकर आता है। कपास किसान के चेहरे पर चाँदी की सी चमक ला देता है। तभी तो उसे 'सफेद सोना' कहते हैं। मुझे याद आता है, जब बाबू जी माँय के हाथ में कपास देते थे कि, 'पहला गुल खिला' तब माँय उस गुल को माथे से लगाकर, भगवान के सामने रख देती थीं। शायद माँय यही प्रार्थना करतीं होंगी कि, हे हरि! यह कपास, धवल कपास खिला गुल सबके चेहरों पर हँसी के गुल खिला दे और धवल रोशनी से सबके चेहरे दमका दे। गाय-भैंस को भरपूर बिनौला मिले तो घर में कपास की वज़ह से दूध की धवल धार से दुतली हण्डली उफना जाये। सबके चेहरे गुल खिले रहें।

हमारे यहाँ तीन भार तो बड़ा उत्तम किस्म का कपास आता था। इसे 'तोड़ा' कहते हैं। चौथे तोड़े का कपास तोड़ा कमज़ोर किस्म का रहता है, अर्थात् कपास पूरा पूसा नहीं क्योंकि पौधा अपनी पोषण शक्ति का पूरा उपयोग कर चुका होता है। ऐसे कपास को अलग रखा जाता है। जीण में इसके दाम नहीं आते और मात्रा में भी थोड़ा ही रहता था। तब इसे गाँव के ही छोटे व्यापारी खरीद लेते थे और पिंजारे लोग भी कम कीमत में ऐसा कपास खरीद लेते थे। जब कपास सूखने लगता था, इक्का-दुक्का डोडे ही रहते थे, तब बाबू जी अपने साझी को कह देते थे, 'फत्तू भाई, कन्हैया भाई खेत खुला छोड़ दो।' खेत खुला छोड़ने का यही आशय रहता था कि कमज़ोर वर्ग के लोग कपास की सूखी काठी उखाड़ ले जाते थे, जो ईंधन के काम आती थी और ठंड में तापड़ी जलाकर शरीर तापने में भी। बचा कपास वे ही लोग चुन लेते थे। वह भी कम नहीं रहता था, अगर एक-दो पौधे में दो-चार गुल भी मिले तो बड़े खेत में पसेरी तीन-चार पसेरी कपास तो आसानी से मिल ही जाता था। जिससे गरीब लोगों को कुछ नकद राशि मिल जाती थी। हमारे बाबू जी का यह उदारता का गुण था। किन्तु, इसके विपरीत हमने यह भी देखा कि जब कभी बाबू जी खेत या गाँव गली में से गुजरते हों और उन्हें कपास का एक भी गुल रास्ते में गिरा मिल जाये, तो वे से उठाकर माथे से लगाकर जेब में रखकर ले आया करते थे। और ऐसा बहुधा हुआ करता था। जब कपास की गाड़ियाँ भरी जाती या कपास चुनने वाले पोटला सिर पर रखकर लाते थे, तो एक-दो गुल नीचे गिर ही जाया करते थे। इस तरह रास्ते में मिले गुल को बाबू जी घर लाकर भगवान् के सामने रख देते थे। उनसे पूछो, तो वे कहते थे, यह सागर की एक बूँद जैसा है। वे कहा करते थे, बिना अन्न के तो इंसान घड़ी दो घड़ी रह भी लेता है, किन्तु बिना वस्त्र के नहीं रह सकता। इसलिए कण-कण की कीमत करना चाहिये। तभी से हमारे रक्त में भी कपास उसी चेतना से रंजा हुआ है। शुभ्र चाँदनी-सा मन को चमका जाता है और कपास देखकर बचपन लौट आता है।

13, समर्थ परिसर, ई-8 एक्सटेंशन,
बावड़िया कला, पोस्ट त्रिलंगा,
भोपाल-462039 (म. प्र.)
मो.- 09424440377

ट्रांसपेरेंट सिस्टम

– आर. एस. खरे

जन्म – 15 अप्रैल 1951।
जन्मस्थान – टीकमगढ़ (म.प्र.)।
शिक्षा – एम.एस.सी., एम.एड., पीएच.डी.।
रचनाएँ – दो पुस्तकें प्रकाशित।

अगर आपको वाहन चलाने का शौक है तो फिर ड्राइविंग लाइसेंस तो बनवाना ही पड़ेगा। लाइसेंस कोई भी हो सिस्टम की धारदार गलियों में से तो गुजरना ही पड़ता है।

मैं जब शासकीय सेवा में था तो इस बात का अनुमान नहीं था कि ड्राइविंग लाइसेंस बनवाना आसान काम नहीं है। उस समय तो अपने स्टेनो को बताता और वह कैसे भी लाइसेंस बनवा लाता। मुझे कहीं जाना भी नहीं पड़ता। न ड्राइविंग टेस्ट देने और न ही कहीं अपनी शक्ल दिखाने। तीसरे दिन नहीं तो चौथे दिन लाइसेंस बन कर आ जाता।

मेरा ड्राइविंग लाइसेंस देखकर श्रीमती जी के मन में भी सेंस जागृत हो गया। उन्हें भी ड्राइविंग लाइसेंस चाहिए था, घर बैठे-बैठे। स्टेनो महाशय उसी तरकीब से श्रीमती जी का भी ड्राइविंग लाइसेंस बनवा कर ले आए थे।

लाइसेंस मिल जाने के बाद पहले मैंने फिर श्रीमती जी ने फोर व्हीलर चलाना सीखा। अब 10 वर्ष पश्चात् ड्राइविंग लाइसेंस की नवीनीकरण की तिथि आ गई। हमारा रिटायरमेंट भी हो चुका और हम दोनों सीनियर सिटीजन भी हो गए। अखबारों में रोजाना खबरें छप रही थीं कि आरटीओ दफ्तर को पूरी तरह कंप्यूटराइज्ड कर दिया गया है। सभी कार्य ट्रांसपेरेंट (पारदर्शी) हो गए हैं। बिचौलियों को आरटीओ कैंपस से हटाकर बाहर का रास्ता दिखा दिया गया है। अब सभी कार्य ऑनलाइन पद्धति से ईमानदारी से होने लगे हैं।

सेवानिवृत्ति के बाद मेरे पास समय ही समय था। अत: सोचा आरटीओ जाकर अपना काम स्वयं करूँगा। किसी को एक पैसा भी नहीं दूँगा। अपनी कार स्वयं ड्राइव करके ठीक 10: 30 बजे आरटीओ पहुँच गया। इंक्वायरी काउंटर पर पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था। और भी लोग इधर-उधर भटक रहे थे। किसी ने बताया कि इंतजार करिए स्टाफ 11-11: 30 बजे तक आता है।

एक-दो एजेण्ट नुमा व्यक्ति मेरे नजदीक आकर बोले-'सर आपका क्या काम है? गाड़ी के रजिस्ट्रेशन का काम है या ड्राइविंग लाइसेंस का?' पहले तो मैंने सोचा कि इन लोगों से कोई बात न की जाए। चलते समय श्रीमती जी ने भी आगाह किया था कि एजेंटों के चक्कर में मत पड़ना। फिर सोचा कि बातचीत करके यहाँ की प्रक्रिया समझने तथा ज्ञान वर्धन में कोई नुकसान नहीं।

जैसे ही मैंने बताया 'कि ड्राइविंग लाइसेंस रिन्यू कराना है', दोनों मेरे दोनों ओर बैठ गए।
एक बोला-'आपका ऑनलाइन एप्लीकेशन फॉर्म कहाँ है?'
'अभी एप्लीकेशन फॉर्म नहीं भरा है। इंक्वायरी काउंटर पर गए थे, पर वहाँ कोई नहीं था।' दूसरी ओर बैठे व्यक्ति ने ताड़ लिया कि मैं अनाड़ी किस्म का कोई भद्र पुरुष हूँ, जो पहली बार आरटीओ आया है।

उसने विनम्रता से मुझसे कहा-'सर! अब हाथ से भरा एप्लीकेशन फॉर्म नहीं लिया जाता। एमपी ऑनलाइन किओस्क पर जाकर

आप को निर्धारित फॉर्म ऑनलाइन अप्लाई करना पड़ेगा।'

'अच्छा! यहाँ पास में किओस्क कहाँ-कहाँ हैं?'

उसने दो-तीन किओस्क बताए और यह भी बता दिया कि फॉर्म का प्रिंट आउट तथा ड्राइविंग लाइसेंस शुल्क ऑनलाइन पेमेंट करने के बाद उसकी रसीद लेकर आइए। तभी लाइसेंस बनेगा।

वहाँ से उठकर मैं इंक्वायरी काउंटर पर कंफर्म करने गया। तभी दोनों मेरे पास फिर आ गए।

बोले-'कल आप 11: 00 बजे आ जाइए, हम लोग यहीं मिल जाएँगे। किसी से पूछ लेना, मुझे सम्राट कहते हैं और ये अकबर है। आप चाहें तो मेरा मोबाइल नंबर सेव कर लीजिए।'

मैंने उन्हें टालने के लिए कहा-'नहीं, जरूरत नहीं है मोबाइल नंबर की, आपके नाम याद रहेंगे। मैंने गाड़ी स्टार्ट की और वापस घर की ओर प्रस्थान किया। बिना किसी काम के 2 घंटे बर्बाद हो चुके थे। तय किया कि अब घर पर ही लैपटॉप से ऑनलाइन अप्लाई करूँगा।

लैपटॉप ऑन किया तो पता चला कि ब्राड-बैंड बंद पड़ा है। बीएसएनएल दफ्तर में कंप्यूटराइज्ड सिस्टम में शिकायत दर्ज कराई। थोड़ी देर में मोबाइल पर मैसेज आया जिस में शिकायत का पंजीकरण नंबर तथा समस्या ठीक करने के लिए शिकायत किस व्यक्ति को सौंपी गई है उसका नाम एवं उसका मोबाइल नंबर भी दिया गया था।

मैंने उसका मोबाइल नंबर डायल किया तो उसने बताया-'कि वह टेलीफोन लाइन ठीक करता है। ब्राड बैंड नहीं।' गनीमत रही कि 2 घंटे बाद ब्राडबैंड अपने आप चालू हो गया। ऑनलाइन ड्राइविंग लाइसेंस एप्लीकेशन फॉर्म तो भर दिया, पर शुल्क भुगतान बार-बार फेल हो जाता। कंज्यूमर हेल्पलाइन नंबर पर बात की तो उसने बताया कि-'फीस जमा करने के लिए एम पी आन लाइन किओस्क पर ही जाना पड़ेगा'।

किओस्क पहुँचा तो उसने ड्राइविंग शुल्क के साथ-साथ अपना शुल्क भी बताया जो उसके लिए अधिकृत की गई राशि से दोगुना था।

बहस करने पर उसने जवाब दिया-कि राशि कम नहीं होगी। मंजूर नहीं तो कहीं और से जाकर करा लूँ। मैंने मन ही मन में सोच कर कि इसकी शिकायत तो अवश्य करूँगा ही, दूसरे कियोस्क पर पहुँचा। वहाँ भी उसने वही राशि बताई जो पहले कियोस्क पर बताई गई थी। अब इससे बहस करने की हिम्मत नहीं थी। पैसे देकर रसीद का प्रिंटआउट लिया।

दूसरे दिन 11:00 बजे आर टी ओ ऑफिस पहुँच गया। मेरी गाड़ी देखते ही सम्राट और अकबर पास आ गए। मैंने उनसे क्षमा माँगते हुए कहा-'कृपया आप लोग अपना काम करिए, मैं अपना काम स्वयं कर लूँगा।'

'अरे अंकल! आप परेशान हो जाएँगे। बहुत भटकना पड़ता है। आपने सारे डॉक्यूमेंट लगा लिए? डॉक्टर का फिटनेस सर्टिफिकेट लगाया कि नहीं?'

'मैं तो मेडिकली फिट हूँ। फिर सर्टिफिकेट किस लिए?'

'नहीं अंकल! उसके बिना तो फार्म स्वीकार ही नहीं करेंगे।'

'अच्छा।'

मैंने विंडो पर जाकर कंफर्म किया तो जवाब मिला-'मेडिकल सर्टिफिकेट लगाइये।'

मैंने सोचा, अब शाम को फैमिली डॉक्टर के पास जाकर बनवा लूँगा। कल फिर सर्टिफिकेट लेकर आना पड़ेगा। 500 का तो पेट्रोल ही जला डाला, और परेशान अलग हुए।

गाड़ी में बैठने ही वाला था कि वे दोनों फिर प्रकट हो गए–'अंकल! मेडिकल सर्टिफिकेट 5 मिनट में बन जाएगा अभी। वह सामने पेड़ के नीचे मेज–कुर्सी लगी है, वहीं डॉक्टर बैठते हैं।'

मैंने मन ही मन सोचा यदि तुरंत मेडिकल सर्टिफिकेट बन रहा है तो बनवा ही लेना चाहिए।

मैंने पूछा–'डॉक्टर साहब सर्टिफिकेट बनाने का कितना लेते हैं?'

'कोई ज्यादा नहीं। यदि आप वहीं उनके सामने तक चलेंगे तो 60 रुपये और यहीं रुकेंगे तो? 100/–।'

'जाने के साठ और नहीं जाने के सौ। ऐसा क्यों?'

'नहीं जाने पर हम लोग आपके डॉक्यूमेंट लेकर जाएँगे, फिर सर्टिफिकेट पर आपके हस्ताक्षर लेने आएँगे। फिर डॉक्टर के हस्ताक्षर करवायेंगे। ऊपर के 40 रुपये हमारे स्कूटर के खर्चे के।'

सम्राट की बातों से पूरा विश्वास हो गया कि ड्राइविंग लाइसेंस रिनुअल का काम इसे सौंपना ज्यादा महँगा नहीं लगता।

मैंने पूछा–'ड्राइविंग लाइसेंस नवीनीकरण कराने की जिम्मेदारी यदि आपको दें तो कितनी राशि आप लेंगे?'

'यदि आपको जल्दी यानी 3–4 दिन में चाहिए तो? 800/– और यदि 10–12 दिन में चाहिये तो 600/–'

'यह तो कुछ अधिक ही बता रहे हो आप लोग। अब काम ही क्या बचा है, सब कुछ तो हो गया। बस फॉर्म जमा ही तो करना है।'

मैंने यह सब ऐसे लहजे में कहा कि, जैसे मुझे यहाँ की पूरी कार्य प्रणाली की जानकारी है और कोई मूर्ख नहीं बना सकता।

'सर अभी तो फार्म कंप्लीट हुआ है। अब आपको डॉक्यूमेंट चेक कराना होंगे। विंडो–9 पर डॉक्यूमेंट चेक होंगे। फिर विंडो–2 पर आरटीओ के साइन के लिये जमा होंगे, तब विंडो–7 पर ए आर टी ओ का आर्थेंटिकेशन लगेगा। तब अंत में डिजिटल फोटो के लिए जाओगे। अभी तो बहुत कुछ होना बाकी है।'

उसकी बातों से पक्का भरोसा हो गया कि कहाँ–कहाँ भटकता फिरूँगा। एक विंडो से दूसरी विंडो और लंबी–लंबी कतार में भी तो खड़ा रहना पड़ेगा।

बारगेनिंग (सौदेबाजी) की दृष्टि से मैंने पांसा फेंका–'मेरे दोस्त शर्मा जी का काम तो आपके किसी साथी एजेंट ने 300/–में कर दिया था। आप भी तीन सौ ले लो, मुझे समय की कोई जल्दी नहीं है।'

सौदा 400/–में पट गया। मैं भी खुश, वे भी खुश।

मैं इसलिए खुश कि मैंने झूठ बोलकर 200/– बचा लिए।
वे इसलिए खुश कि एक और पढ़ा–लिखा मुर्गा मिला।

मुझे गड़करी जी का बयान याद आ गया कि–'देश में आर टी ओ ऑफिस भ्रष्टाचार के सबसे बड़े अड्डे हैं।' फिर राज्य के ट्रांसपोर्ट कमिश्नर के बयान पर हँसी आ गई–'प्रदेश के सभी आर टी ओ कार्यालयों को ऑनलाइन कर दिया गया है और कोई भी एजेंट अब कार्यालयों में नहीं दिखेगा। संपूर्ण व्यवस्था पूरी पारदर्शी होने से किसी भी तरह के भ्रष्टाचार की संभावना भी नहीं रहेगी।

11 सियाराम परिसर,
सौम्या एनक्लेव, चूना भट्टी,
भोपाल–462016 (म.प्र.)
मो. – 9827267006

ठूँठ बन गया पेड़

- अनिल पुरोहित

जन्मस्थान - कटक (उड़ीसा)।
शिक्षा - बीएससी, पीजीडीएफएम, सीएफए।
रचनाएँ - चार पुस्तकें प्रकाशित।

ठूँठ बन गया पेड़
यह झील-शांत नीरव
जानती दर्द इसका
छिपाए अपनी गहराई में।
लहरें झील की, दूर से, जहाँ कोई हलचल नहीं,
मचलती सी उठतीं-
किनारे थपेड़े-सी आतीं-सींचती रहीं,
इर्द-गिर्द इसके-भिगोती जड़ों को
पर यह-गुमसुम।

यह हवा जानती
पता इसका
डोलती फिरती-बिखेरती जाती
बागों की खुशबू और
सुनाती गीत
हरे-भरे मैदानों के संदेश।
सबकुछ अनसुनी कर जाता
चुपचाप, शांत नीरव यह।

यह आकाश जानता
मन इसका
अनंत दूर-पर
रोशनी बिखेरने की कोशिश अनवरत।
यह सूना-सूना-सा
चुपचाप-टकटकी बाँधे देखता रहा।

बहुत कुछ सहा इसने
सदियों से-
बहुत कुछ बाँटा इसने-
सदियों तक
बहुत कुछ देखा इसने
सब अनदेखा किया,
बन रह गया ठूँठ
जैसे नोच लिया गया।
लगता छिपा रखा-तूफान अपने अंदर
कतराता बाहर आने से।

बुढ़िया एक-जाने क्या बटोर रही
इर्द-गिर्द इसके।
उड़ जाती चिड़िया-डाल से
सँकरी-सी पगडंडी-सुनसान
आगे कहीं भटक जा रही।

द्वारा- शंकरलाल पुरोहित
4162746531

मैं और मेरी कहानी

- प्रकाश मनु

जी हाँ, किस्सागोई का यह सुर कुछ अलग सा तो है! कहानी के लिए दीवानगी तो शुरू से ही थी। बचपन में मुझे याद है, माँ और नानी की सुनाई गई कहानियाँ मुझे किसी और ही दुनिया में पहुँचा देती थीं। लगता था वह दुनिया मेरे आसपास की देखी-भाली दुनिया से काफी अलग और कौतुक भरी है। उसमें हर क्षण कुछ न कुछ घटित होता था और मुझे लगता था, मैं बिना पंखों के उड़ रहा हूँ, उड़ता जा रहा हूँ एक अंतहीन आकाश में, और जीवन-जगत के एक से एक नए रहस्यों को जान रहा हूँ।

कहानी के जरिए बिना पंखों के उड़ने की कहानी शायद मेरे जीवन की सबसे अचरज भरी कहानी है, जिसने मुझे भीतर-बाहर से बदल दिया, और जिस दुनिया में मैं था, जी रहा था, उसके मानी भी कुछ बदल गए। दुनिया वही थी जिसमें सब जी रहे थे, पर मेरे लिए वह दुनिया कुछ अलग हो गई थी। मुझे याद है, बचपन में माँ से सुनी कहानियों में एक अधकू की कहानी भी थी, जो मुझे सबसे ज्यादा अच्छी लगती थी। भला क्यों? इसलिए कि यह अधकू बड़ा विचित्र था। एक हाथ, एक पैर, एक आँख और एक कान! सब कुछ आधा। ऐसा विचित्र था अधकू। और मैं भी तो कुछ ऐसा ही था। एकदम दुबला-पतला, सींकिया सा। अगर घर में कोई कुछ कह देता तो माँ बरजतीं। बार-बार कहतीं, 'मेरा कुक्कू ताँ अड़या-जुड़या होया तीला है। इन्नू कुज्झ न आक्खो!' यानी जैसे तिनते एक-दूसरे में अटके हों, वैसे ही मेरा कुक्कू तो बस किसी तरह जुड़ा हुआ है। हाथ लगते ही तिनके बिखर जाएँगे। इसलिए इसे जरा भी छेड़ो मत। अधकू ऐसा था, विचित्र। पर बड़ा हँसमुख था। खुशमिजाज। हिम्मती और दिलेर भी, और आसानी से हार मानने वाला नहीं था। उसकी सबसे बड़ी ताकत थीं उसकी माँ, जो उसे बेइंतिहा प्यार करती थीं। उसके भाई चोरी और डाका डालने का काम करते थे। वे उसे मारने को तैयार हो गए, यह सोचकर कि यह सींकिया तो किसी काम का नहीं। पर माँ ने चुपके से बता दिया अधकू को कि-'अधकू, खबरदार! आज की रात सो मत जाना। तेरे भाई ही तेरा काल बन गए हैं।' तो अधकू चुपचाप लेटा रहा और बाकी छहों भाई पत्थर पर घिस-घिसकर छुरियाँ चमकाने लगे, ताकि एक ही बार में अधकू का काम तमाम हो जाए।

वे अधकू के सोने का इंतजार कर रहे थे। पर अधकू सो कहाँ रहा था? वह तो बस आँखें मींचे लेटा था और मन ही मन हँस रहा था। भाइयों को जोर-जोर से छुरियाँ चमकाते देखा तो मजे-मजे में बोला, 'छुरियाँ न चमका, कि अधकू जागदा!' सुनकर भाइयों को बड़ा गुस्सा आया। उनमें से एक बोला, 'मरे अधकू दी माँ, कि अधकू जागदा!' आखिर माँ के बहुत समझाने पर वे उसे भी साथ ले जाने लगे। पर अधकू बड़ी होशियारी से कुछ न कुछ ऐसा करता कि वे मुसीबत में पड़ जाते और आखिर भाग लेते। फिर एक बार वे राजा के यहाँ चोरी करने पहुँचे। अधकू के पास एक तूँ-तूँ बाजा था। एक तार का बाजा। अधकू की सबसे बड़ी दौलत। चलते-चलते अधकू ने उसे भी साथ ले लिया था। भाइयों ने पूछा, 'तू इसका क्या करेगा रे अधकू!'

'अगर कोई मुसीबत हुई तो यह बाजा बजाकर आप लोगों को चेता दूँगा।' अधकू ने सिर हिलाते हुए कहा। भाइयों ने मान लिया। बोले, 'अच्छा, ठीक है सुकड्डू, ठीक! तू अपना यह तूँ-तूँ बाजा भी ले ले।' अधकू ने बड़ी खुशी से सिर हिलाया, और वह छोटा सा तूँ-तूँ बाजा अपनी फेंट में कस लिया। कुछ देर बाद जब राजा के महल में चोरी कर रहे थे उसके भाई, तो अधकू परेशान। सोचा, यह तो अच्छी बात नहीं है। उसने झट अपना तूँ-तूँ बाजा निकाला। उस बाजे को बजाते हुए उसने सोते राजा को चेताया कि-**'अरे ओ राजा, तू तो लंबी तानकर सो रहा है/ जबकि तेरे महल में घुस गए चोर / इतने सारे चोर।/ जल्दी से जाग और अपना महल सँभाल/ अरे ओ राजा!'**

सुनते ही राजा हड़बड़ाकर उठा और अधकू के भाई पकड़े गए। राजा ने खुश होकर अधकू को अपना मंत्री और मुख्य सलाहकार बना लिया। पर अधकू को अभी चैन कहाँ था? अगले दिन बेड़ियाँ पहने अधकू के भाई दरबार में लाए गए तो अधकू बोला, 'महाराज, ये मेरे ही भाई हैं। गलते रास्ते पर भटक गए

थे। इनके पास कोई काम नहीं था। आप कोई ढंग का काम दें तो भला ये चोरी क्यों करेंगे?'

तब राजा ने अधकू के छहों भाइयों को अपने दरबार में रख लिया। यों अधकू जो आधा था, अधकू जो सींकिया था, विचित्र भी, उसने जीवन में एक सम्मानपूर्ण जगह बनाई और अपने भाइयों को भी तार दिया। इस कहानी में कुछ बात थी कि मैं उसे आज तक नहीं भूल पाया। क्यों भला? शायद इसलिए कि मुझे लगता था, मैं ही अधकू हूँ। औरों से बहुत अलग। इसलिए कि मुझमें शारीरिक ताकत ज्यादा नहीं थी। दुनियादारी में कच्चड़। खेलकूद में कच्चड़ बहुत सारी चीजों में फिसड्डी। एकदम फिसड्डी। पर फिर भी लगता, कुछ है मुझमें, कि मैं भी कुछ कर सकता हूँ। सारी दुनिया से कुछ अलग कर सकता हूँ। वह क्या चीज थी, जिस पर इतना भरोसा था मुझे? तब तो शायद बहुत साफ न रही होगी। पर आज जानता हूँ कि वह मेरी चुपचाप सोचते रहने की आदत थी, और लिखने-पढ़ने की धुन, जो शायद पाँच-छः बरस से ही शुरू हो गई थी। वही धुन जो आगे चलकर मुझे साहित्य की खुली दुनिया में लाई। माँ की सुनाई कहानियों में एक और कहानी थी। एक ऐसे राजकुमार की कहानी, जिसे सात कोठरियों वाले महल में कैद कर दिया गया था। उससे कहा जाता है कि वह छः कोठरियाँ तो देख ले, पर सातवीं न खोले, क्योंकि इससे उसका अनिष्ट हो सकता है। राजकुमार ने पहली कोठरी खोली, दूसरी कोठरी खोली, तीसरी कोठरी खोली, एक-एक कर छः कोठरियाँ देख लीं। पर सातवीं कोठरी? उसने सोचा, क्या सातवीं कोठरी भी खोलकर देखूँ? जरा देखना तो चाहिए कि उसमें ऐसा क्या है?

उसने धड़कते दिल से सातवीं कोठरी का दरवाजा खोला, और उसे खोलते ही भीषण हलचल हुई, एक तेज बवंडर सा आ गया। भूचाल! जैसे सिर पर आसमान टूट पड़ा हो। एक से बढ़कर एक विपत्तियाँ आईं। कभी मौत के खेल सरीखा खौलता हुआ समंदर, कभी आग की ऊँची-ऊँची प्रचंड लपटें, कभी फुँफकारते हुए बड़े-बड़े विशालकाय साँप! यहाँ तक कि अंगारों जैसी जलती हुई आँखों के साथ गरजते शेर, चिंघाड़ते हाथी और दूसरे हिंस्र जंगली जानवर भी। जैसे अभी झपट पड़ेंगे और मौत के गाल में पहुँचा देंगे।

एक के बाद एक सात समंदर भीषण आपदाओं के! और राजकुमार का जी थर-थर, थर-थर, थर-थर काँपने लगा। पर उसने बड़ी हिम्मत और दिलेरी से एक-एक कर सातों समंदर पार किए। बीच-बीच में डरा, काँपा, लेकिन जूझा भी हर एक विपत्ति से। फिर एक ऐसे द्वीप पर आ पहुँचा, जहाँ सोने जैसे बालों वाली सुंदर राजकुमारी सोनबाला कैद थी। उसकी आँखों में करुण याचना, जिसने राजकुमार को द्रवित कर दिया। और फिर सोनबाला को कैदखाने से छुड़ाने की मुहिम ने उसे एक भीषण राक्षस के आगे ला खड़ा किया, जिसका भयानक अट्टहास ही धरती को कँपा देता था। पर राजकुमार गया उस राक्षस की गुफा में, और इतनी बहादुरी से भिड़ा कि राक्षस धड़ाम से गिरा और एक जोर की चीख के साथ ही उसका सारा तिलिस्म खत्म! कहानी का नायक राजकुमार राजकुमारी को लेकर लौटता है तो उसके चेहरे पर विजेता होने की जो चमक है, जान पर खेलकर भी कुछ हासिल करने की चमक, वह कहानी सुनते समय हमारे दिल और आँखों में भी एक खुशी की कौंध भर देती थी। और कहानी पूरी होने पर जो मीठा सा सुकून मन में उपजता था, उसे भला मैं किन शब्दों में बताऊँ? कैसे बताऊँ!

मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि कहानी सुनते हुए हर पल मेरी साँस अटकी रहती। लगता, आँधियों के बीच फँसा वह राजकुमार मैं हूँ। मैं ही हूँ। उसके साथ कुछ बुरा घटता तो मन बुरी तरह तड़पने लगता। मैं अंदर ही अंदर छटपटाता। और उसकी बेहद-बेहद मुश्किलों से भरी किसी छोटी सी जीत पर भी आँख में आँसू आ जाते। ऊपर आसमान की ओर हाथ जोड़कर कहता, 'ओह, बच गया राजकुमार, बच गया ! हे राम जी, बड़ी कृपा है तुम्हारी। आखिर तुमने उस सच्चे और हिम्मती राजकुमार को बचा ही लिया।' यह कहानी थी। कहानी का जादू! मेरा रोयाँ-रोयाँ उस समय कहानी की गिरफ्त में होता। मैं कहानी सुन नहीं रहा होता था। उसके भीतर चला जाता था। कहानी में समा जाता था। बल्कि सच तो यह है कि मैं कहानी में और कहानी मुझमें समा जाती थी। उस समय आसपास की दुनिया और लोगों से बहुत ऊपर उठ जाता था मैं, और देर तक हवा में चक्कर काटता रहता। बड़ी देर लगती थी मुझे वास्तविक जमीन पर पैर रखने में। और सच पूछिए तो इसके लिए काफी प्रयत्न करना पड़ता था। और ये बड़े कष्टकर क्षण होते थे मेरे लिए।

यों एक नहीं, कई निराली और अबूझ दुनियाएँ मेरे आगे खुलती चली गईं। और मैंने जाना—बड़े ही अचरज के साथ यह जाना कि जो दुनिया हमारे आसपास है और जिसे हम हर घड़ी देखते हैं, अकेली वही दुनिया नहीं है। बल्कि इस दुनिया के भीतर बहुत सारी दुनियाएँ हैं, और उन दुनियाओं के भीतर और बहुत सी दुनियाएँ। तमाम रंगों और रहस्यों और अबूझ जिज्ञासाओं से

भरी दुनियाएँ, जिन्हें जाने बिना हम अधूरे ही रहते हैं। यह मेरा पुनर्जन्म था। छल-छल भावना और संवेदना वाले कुक्कू का पुनर्जन्म। तभी पहलेपहल जाना कि दिल में गहरी संवेदना हो, तो वह भीतर एक टीस ही पैदा नहीं करती, कई बार तो कलेजा चीर जाने वाले तीर की तरह आपको घायल कर देती है। और आप मछली की तरह तड़पने के लिए छूट जाते हैं। इस अनुभव को चाहूँ भी तो बाँट नहीं सकता। चाहूँ भी तो किसी को बता नहीं सकता। पर यही अनुभव था, जिसके कारण मैं अपने आप को औरों से अलग, और भीतर-बाहर से भरा-भरा सा महसूस कर रहा था।

क्या यही मेरे लेखक होने की पृष्ठभूमि नहीं थी?

आज सोचता हूँ, यह सब कैसे संभव होता, अगर राजकुमार सातवीं कोठरी का दरवाजा न खोलता तो? बाकी छः कोठरियों के दरवाजे तो हर कोई खोलता है, पर सातवीं कोठरी का दरवाजा कोई-कोई ही खोलता है, और वही शायद अपने समय का नायक भी होता है। मुझे याद है, बरसों पहले एक साहित्यिक मित्र ने मुझसे सवाल किया था कि 'मनु जी, जिस परिवार के आप हैं, उसमें जन्म लेकर भी आप लेखक कैसे बने?'

मित्र का सवाल सुनकर मैं एक क्षण के लिए चुप रहा। फिर कहा, 'भाई, इसका जवाब मैं बहुत जल्दी में, या दो-एक सतरों में नहीं दो सकता हूँ, इसलिए कि जवाब थोड़ा लंबा है।' लेकिन सवाल मेरे भीतर गड़ गया। और उस दिन से मैंने सोचना शुरू किया। सात भाई और दो बहनें। कुल नौ भाई-बहनों का बड़ा परिवार था हमारा। माता-पिता दोनों लगभग निरक्षर। मेरे परिवार में साहित्यकार होना तो दूर, कोई दूर-दूर तक भी साहित्य के निकट नहीं था। तो फिर मैं क्यों लेखक बना?

कैसे? और जब मैं यह सोच रहा था, तो यही कहानी याद आ रही थी। मैं सोच रहा था, अगर इस कहानी का राजकुमार सातवीं कोठरी न खोलता तो जो रोमांचक चीजें उसके जीवन में घटित हुईं, वे कैसे होतीं? वह भी दूसरों की तरह एक सामान्य जीवन जीता और जीकर चला जाता। पर फिर कहानी कैसे बनती? कहानी तो तभी बनती है, जब हम सारे खतरे उठाकर सातवीं कोठरी खोलते हैं और फिर एक से एक दिल को कँपा देनी वाली भीषण घटनाएँ घटती हैं, मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़ते हैं, मन लगातार एक भीतरी द्वंद्व के बीच से गुजरता है। बुरी तरह टूट-फूट। आत्मध्वंस! कई बार तो लगता है, अपने-पराए सब साथ छोड़ गए। अकेलापन, विवशता, लाचारी। कभी बुरी तरह पराजय और बेचारगी का अहसास भी। पर इन्हीं सब के बीच ही तो एक नवारुण प्रभात सूर्य की तरह जीवन का सत्य चमकता है, और जीवन में वह आनंद भी महसूस होता है, जो किसी कदर योगियों की समाधि से कम नहीं है, और दुनिया की बड़ी से बड़ी दौलत के आगे भी जो हेठा नहीं पड़ता। यह मनुष्य का मनुष्य होना है, एक आदमकद मनुष्य!

कभी-कभी लगता है, यही शायद मेरे लेखक और कहानीकार होने का भी सच है। याद पड़ता है, अपने छात्र-जीवन में मैं बहुत होशियार विद्यार्थी माना जाता है। हर क्लास के सबसे अच्छे दो-तीन विद्यार्थियों में मेरा नाम चमकता था। माता-पिता और परिवार के लोगों का सोचना था कि मैं इंजीनियर बनूँ। मोतीलाल नेहरू इंजीनियरिंग कालेज इलाहाबाद में इंजीनियरिंग में दाखिले के लिए चयन भी हो गया, पर मैंने बहाना बनाया कि नहीं, मैं प्रोफेसर बनूँगा। मुझे इंजीनियर नही होना। उसके बाद आगरा कालेज, आगरा से भौतिक विज्ञान में एम.एस-सी. पास की। पर यहाँ तक आते-आते लगा, जैसे मन के अंदर बैठा कोई कबीर कह रहा है, 'साइंस के प्रोफेसर होकर तो तुम जिंदगी भर चक्की के दो पाटों के बीच पिसते रहोगे, प्रकाश मनु। तो वह कब करोगे, जो करने के लिए तुम्हें भेजा गया है?'

तभी जैसे इलहाम हुआ, मुझे तो साहित्य करना है। एक लेखक का, साहित्यकार का जीवन जीना है और उसके लिए जो भी मुश्किलें आएँ, मुसीबतें आएँ, उन्हें मैं सहन करूँगा, लेकिन जीवन वही जिऊँगा, जो मेरे मन में है। घर वालों से कहा तो उन्हें लगा, लड़का पागल हो गया है। इसलिए कि यह बिना कुछ आगा-पीछा सोचे, एक अथाह समंदर में कूद पड़ना था। वही एक क्षण था, जब लेखक होने का एक पूरा बिंब भीतर बना। लगा, अगर लेखक न हुआ तो जीना भी नहीं है। आधी रोटी खाकर रहूँगा, पर बनूँगा लेखक ही। बाद में हिंदुस्तान टाइम्स में आया तो हिंदी के बड़े कहानीकार मटियानी जी से मुलाकात हुई और उनसे बहुत अंतरंगता भी हुई। वे जब भी मिलने आते, अपने बारे में बताते थे। बहुत-बहुत सी बातें। बड़े दुख-दाह से भरी भी। तो उन दिनों उनकी अपनी कहानी खुद उनके मुँह से सुनने को मिली। बहुत कठिन जीवन था उनका। एक अनाथ बच्चा, जिसके भीतर सपने थे। किशोरावस्था में कसाई का काम करना पड़ा। पर उन्हीं दिनों थोड़ा-थोड़ा लिखना भी उन्होंने शुरू कर दिया था। एक दिन कसाई की दुकान पर कीमा कूट रहे थे, तो बगल से गुजरते, किसी शख्स ने बड़ा तीखा और काटने वाला व्यंग्य किया, 'देखो, सरस्वती तक कीमा कूटा जा रहा है!'

मटियानी जी तिलमिलाए। इतना गुस्सा आया कि लगा, दीवार से सिर दे मारें। भीतर गहरी छटपटाहट। उस रात सोने से पहले वे देर तक दीवार में अपना सिर मार-मारकर पुकारते रहे, 'हे सरस्वती माँ, मुझे चाहे जितने दुख, चाहे जितनी तकलीफें देना, पर मुझे लेखक बनाना! मैं बस, लेखक ही बनना चाहता हूँ, कुछ और नहीं।' जितनी-जितनी उनकी जिंदगी में मुसीबतें आतीं, उतनी ही उनके भीतर यह पुकार गहरी होती जाती। तरुणाई में उनके मुंबई प्रवास की तकलीफदेह कहानी पता नहीं कितनों ने पढ़ी है। पर वह एक समूची दिल दहला देने वाली गाथा है। उन्हें लगता, अच्छा है कि दुख और संकट मुझ पर टूट पड़े, और एक के बाद एक तकलीफें आईं। अच्छा है कि मुझे भूखा रहना पड़ा, और मैंने पुलिस के डंडे तक खाए। पर अच्छा है! इसलिए कि जितनी ज्यादा तकलीफें आएँगी, उतनी ही मेरे शब्दों में गहरी पुकार आएगी, और मैं और-और अच्छा लिखूँगा। और सच ही, मटियानी जी की कहानियों का असर कितना गहरा होता है, दिलों में उनकी कैसी गहरी गूँज पैदा होती है, यह आप देश के हर हिस्से में मौजूद उनके हजारों पाठकों से जान सकते हैं। प्रेमचंद के बाद हिंदी का शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार हो, जिसकी कहानियों को इतने पाठक मिले। पर क्या हम भूल सकते हैं कि मटियानी जी ने किन हालात में लिखा और वे क्या चीजें थीं, जो उन्हें लेखक बना रही थीं?

मैं जब मटियानी जी से उनकी कहानी सुन रहा था, उनके लेखक होने की कहानी, तो मुझे बचपन में माँ से सुनी कहानियाँ याद आ रही थीं। फिर-फिर अधकू याद आ रहा था। एक हाथ, एक पैर वाला अधकू, जिसने बड़े-बड़ों को चुनौती दी और अपनी दुनिया बदलकर दिखा दी। मैं भी तो शरीर से दुबला-पतला सा ही था। तिनके जैसा। पर मन बड़ा था। इसलिए अधकू मुझ पर छा गया। बाद में लिखना शुरू किया तो सोचता था, कि लिखूँगा तो चीजें बदलेंगी। कुछ थोड़े से लोग तो होंगे जो पढ़ेंगे और अंदर तक महसूस करेंगे। बहुत ज्यादा नहीं, तो दो-चार ही सही। बहुत है। किसी एक ने भी उसी भाव से पढ़ा, जो भाव कहानी लिखते समय आपके भीतर जनमा था, तो यही बहुत है। और ऐसा होता है! यही शायद सच्चाई की ताकत है। यही लेखन की ताकत और सार्थकता भी है। पर बात तो कहानियों की हो रही थी न।

मुझे याद है बचपन में अक्षर-ज्ञान के बाद जब क, ल और म को मिलाकर कलम बना लेने का जादू मैंने जाना, उस दिन मेरी दुनिया में जैसे सबसे बड़ा चमत्कार हुआ था। कहीं भी अक्षर दिखाई देते, दीवार पर, अखबार में, किताबों में, या दुकानों के आगे लगे बड़े-बड़े साइनबोर्डों पर, तो मैं उन्हें मिलाकर पढ़ने लगता। एक अतृप्त प्यास, जो एक बार भड़क गई, तो शांत होने का नाम ही नहीं ले रही थी। पढ़ना, पढ़ना और पढ़ना! इसके अलावा कुछ सूझता ही न था। लगता था, मैं पागल हो गया हूँ, अक्षर पागल। एक अजब सी दीवानगी। मुझमें पढ़ने-लिखने की रुचि देखी तो श्याम भैया मेरे लिए चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह और सुभाषचंद्र बोस की जीवनियाँ ले आए। मैंने उन्हें पढ़ा तो मन में एक अलग सी भावना पैदा हुई। जीवन में कुछ कर गुजरने की भावना। और यह भी कि कोई बड़ा उद्देश्य सामने हो तो आप अपना पूरा जीवन हँसकर दे देते हैं, देवता के चरणों में रखे गए किसी फूल की तरह। और जब आप अपने को समूचा दे देते हैं, तो आप बड़े भी हो जाते हैं। एक महत्तर दुनिया का अंश। यह कितने आनंद की बात है। सचमुच, कितनी बड़ी बात!

फिर एक दिन श्याम भाईसाहब मेरे लिए जो पुस्तक लाए, उसने तो मेरी जिंदगी ही बदल दी। वह प्रेमचंद की कहानियों की किताब थी। किताब का नाम था, 'प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ'। उसमें 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा' समेत कई कहानियाँ बड़ी रुचि और आनंद से पढ़ी गईं। पर जब 'बड़े भाईसाहब' कहानी पढ़ी तो मैं हक्का-बक्का। सचमुच अवाक! मैंने अपने आप से कहा, 'अरे, यह तो मेरे श्याम भैया की कहानी है। भला प्रेमचंद को कैसे पता चली?' उस दिन और कुछ हुआ हो या नहीं, पर मैंने कहानी की ताकत जरूर जान ली। एक की लिखी कहानी किसी जादू-मंतर से सबकी कहानी हो जाती है। एक के दिल में कुछ उमड़ता हो और वह उसे वैसे ही जिंदा और दमदार शब्दों में ढाल दे, तो जितने भी उसे पढ़ते हैं, सबके दिल में वही घुमड़ता है। मुझे लगा, 'अरे, यह तो दुनिया का सबसे बड़ा जादू है। महान करिश्मा! और यह साहित्य में घटित होता है, कहानी में। वाह, कैसा कमाल है?'

बाद में प्रेमचंद की और कहानियाँ पढ़ीं। उनके उपन्यास 'गबन, निर्मला, कर्मभूमि, रंगभूमि, सेवासदन, प्रेमाश्रम' पढ़े, 'गोदान' पढ़ा, शरत, रवींद्रनाथ के उपन्यास पढ़े। उन दिनों हिंद पाकेट बुक्स से हिंदी साहित्य की बड़ी अच्छी किताबें आती थीं। एक-एक रुपए में संक्षिप्त रूपांतरण मिल जाते थे। कोई-कोई

दो रुपए में। तब यह भी समझ न थी कि प्रेमचंद हिंदी के हैं, शरत, रवींद्र, बंकिम बंगला के। इसकी शायद कोई जरूरत भी न थी। सवाल तो कहानी का था, कहानी जो दिल को छूती है, हर किसी के दिल को छूती है—सभी सीमाओं से परे। दुनिया के तमाम देशों की सरहदों से परे। कहानी में भी कहानी थी, उपन्यास में भी कहानी थी। मैं पढ़ता था और रोता था, रोता था और पढ़ता था। विश्व की इन महान और विलक्षण कृतियों में बीच-बीच में मनुष्य के भावनात्मक संबंधों के इतने करुण प्रसंग थे कि बिना रोए मैं पढ़ ही नहीं सकता था। हालाँकि कुछ समझ में आता था, कुछ नहीं। पर जो समझ में आता था, उसके सहारे जो चीज नहीं समझ में आती थी, उसके भी अर्थ खुलते जाते थे। और हाथ में किताब लिए मैं जान लेना चाहता था कि आगे क्या हुआ, आगे क्या, आगे क्या?

कई बार तो पढ़ते-पढ़ते ऐसे करुण प्रसंग आ जाते कि आँखों से लगातार गंगा-जमुना बहती। एक हाथ में किताब पकड़े, दूसरे से मैं आँसू पोंछता जाता और आगे पढ़ता जाता। पढ़ते-पढ़ते कई बार जोर से रोना छूट जाता, पर तब भी किताब के पन्ने पलटता जाता, क्योंकि यह जाने बिना निस्तार न था कि आगे क्या हुआ? उन दिनों घर में बिजली न थी। लालटेन जलाई जाती। पर पूरे घर में दो-तीन ही लालटेनें होती थीं। तो मैं जो छत पर पढ़ रहा होता, अकसर रात की स्याही गहराने तक, जब तक अक्षरों का अनुमान लगा सकता था, पढ़ता, पढ़ता और पढ़ता ही रहता, क्योंकि कहानी का डंक मुझे चुभ गया था और जितना अधिक पढ़ता, नशा और गहराता जाता। उसकी गिरफ्त और-और तेज होती जाती। और शायद यही क्षण थे, जब जाने-अनजाने में मैं लेखक हुआ। भले ही उसका पता थोड़ा आगे चलकर लगा हो। अलबत्ता अपनी कोई पचास बरस लंबी कथा-यात्रा पर निगाह डालता हूँ तो मन में संतोष के साथ ही एक विस्मयजनक आह्लाद का भाव उपजता है। इसलिए भी कि मेरी कहानियाँ कहानी के बने-बनाए रास्ते पर चलने से एकदम शुरू से ही इनकार करती रही हैं। यह दीगर बात है कि जब ये कहानियाँ छपकर आईं—चाहे पत्र-पत्रिकाओं में या मित्रों विजयकिशोर मानव और देवेंद्रकुमार के साथ निकाले गए साझे संग्रह 'दिलावर खड़ा है' में, तो इन्हें सराहने वाले पाठक कहाँ-कहाँ मिले, उनकी अलग-अलग ढंग की उत्तेजक प्रतिक्रियाएँ कैसी थीं, इसकी चर्चा शायद खुद एक कहानी बन जाए।

हाँ, इन प्रतिक्रियाओं में एक बात आश्चर्यजनक रूप से मिलती-जुलती और साझी थी कि इनमें से सभी को लगा था कि ये कहानियाँ एकदम सच्ची हैं। इन कहानियों के पात्र एकदम सच्चे हैं और ये कहानियाँ मेरी आत्मकथा के अनलिखे पन्नों में से चुपके-चुपके निकलकर आई हैं। बहुत-से मित्रों और पाठकों ने तो इन कहानियों को मेरे जीवन में सच-सच इसी रूप में घटित हुआ मानकर, उन पात्रों के बारे में और भी बहुत-सी बातें दरियाफ्त करनी चाहीं। मसलन, 'मनु जी, अरुंधती क्या आपको फिर कभी मिली? क्या वह अब भी उसी तरह दुख और अकेलेपन का बोझ ढो रही है?' 'सुकरात क्या सचमुच उसी तरह कुरुक्षेत्र में रेल की पटरियों पर कटा हुआ पाया गया था, जैसा आपने लिखा है? क्या आपको उसके बारे में कुछ और पता चला कि वह क्यों इतने गुस्से में हरदम गालियाँ बकता रहता था और कहाँ से आया था?'

ऐसे और भी सवाल। कुछ बेहद तीखे भी, और कुछ बेहद दिलचस्प! इनमें से बहुतों के जवाब में सिर्फ हँसकर रह जाना ही काफी था, क्योंकि उन्होंने इन कहानियों के नायक को हटाकर पूरी तरह मुझे वहाँ फिट कर दिया था और अब वे हर चीज की कैफियत मुझसे चाहते थे। जबकि सच तो यह है कि वे आत्मकथात्मक कहानियाँ भले ही हों—और मेरी आत्मकथा के पन्ने किसी न किसी शक्ल में वहाँ जरूर फड़फड़ा रहे थे—पर ये कहानियाँ पूरी तरह आत्मकथा न थीं, हो भी नहीं सकती थीं। तो भी ये कहानियाँ पाठकों को एकदम सच्ची और जीवन में ठीक-ठीक ऐसे ही घटित होती हुई लगीं, इसे इन कहानियों की एक अलग खासियत तो मान ही सकता हूँ। मेरे कथा-गुरु दिग्गज कथाशिल्पी देवेंद्र सत्यार्थी ने शुरुआती दौर की लिखी मेरी 'यात्रा' कहानी सुनने के बाद जिस तरह मुग्ध और अभिभूत होकर आशीर्वाद दिया था और कहानियाँ लिखने की अपनी ही लीक पर चलते रहने का जो बल दिया था, उसे भूल पाना असंभव है। साथ ही उन्होंने कहानी को लेकर कबीर की उलटबाँसी की तरह जो बड़ी कमाल की बात कही, वह मुझे आज भी कहानी के बड़े से बड़े शास्त्रीय सिद्धांतों से बड़ी लगती है कि—'याद रखो मनु, कहानी सिर्फ तुम ही नहीं लिखते, बल्कि कहानी भी तुम्हें लिखती है। इसीलिए कहानी लिखने के बाद तुम वही नहीं रहते, जो कहानी लिखने से पहले थे।'

जितना-जितना इस कथन के बारे में सोचता हूँ, उतना ही भीतर उजाला सा होता जाता है। जैसे कुछ अंदर की गहरी, बहुत गहरी सच्चाइयाँ सामने आ रही हों। कोई बड़ी बात कही जाती है, तो

कैसे चीजों के नए-नए अर्थ खुलते हैं, यह मैंने सत्यार्थी जी के इस कथन के साथ-साथ बहुत बार भीतरी नदी की यात्राएँ करते हुए जाना। ईशावास्योपनिषद् का एक प्रसिद्ध मंत्र है, जो मुझे किशोर वय से ही बहुत आकर्षित करता रहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम,
तत् त्वम् पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय द्रष्टये।

अर्थात्—सत्य का मुख सोने के पात्र से ढका हुआ है। हे तेजस्वी सूर्य, मुझ सत्य और धर्म के साधक के लिए तू आवरण हटाकर, मुझे सत्य के दर्शन करा। आश्चर्य, सत्यार्थी जी की बात पर विचार करता हूँ तो ईशावास्योपनिषद् का यह मंत्र मुझे बार-बार याद आता है। पर यह तो किसी सत्यसाधक का आत्मकथन है। तो क्या कहानी का सत्य भी सृष्टि के महासत्य से अलग नहीं? और वह क्यों हो! आखिर कहानी भी तो एक सृष्टि ही है न। एक विलक्षण कथासृष्टि! तो क्या उसका सत्य भी हिरण्मयेन पात्र से ढका रहता है, और कथागुरु देवेंद्र सत्यार्थी सरीखा कोई बड़ा शख्स, कोई बड़े कद का कथाकार अपने किसी बड़े अनुभव को शब्दों में बाँधता है, तो वह परत-दर-परत खुलने लगता है। इससे पहलेपहल यह भी जाना कि कोई कहानी भी, अगर वह सच में कहानी है, तो अपने आप में एक खोज है। भाषा और अनुभव के स्तर पर एक बड़ी खोज, और वह सबसे पहले तो खुद लेखक को ही समृद्ध करती है। शायद इसीलिए कहा था मेरे गुरु और कथाशिल्पी सत्यार्थी जी ने कि कहानी लिखने के बाद आप ठीक-ठीक वही नहीं रहते, जो कहानी लिखने से पहले थे। आप भीतर-बाहर से बहुत कुछ बदल चुके होते हैं।

कुछ भी हो, सत्यार्थी जी के इस महा कथन ने मुझे बहुत सारी विलक्षण अंतर्यात्राओं से जोड़ दिया। और हर यात्रा मेरे लिए कुछ बड़ी और गहन उपलब्धियाँ लेकर आई। इसी तरह सत्यार्थी जी ने मुझे कहानी के एक और विराट सत्य का दर्शन कराते हुए कहा, 'अगर तुममें कहानी को देखने की दृष्टि है, तो तुम देखोगे मनु, तुम्हारे सब ओर कहानियाँ ही कहानियाँ बिखरी पड़ी हैं। बस, उन्हें तुम्हारी कलम के स्पर्श की प्रतीक्षा है। तुम उन्हें प्यार से उठाओ और लिखना शुरू कर दो। वे देखते ही देखते तुम्हारे सामने हँसते-बोलते, चहचहाते या फिर उदास रंगों वाले जीवित संसार में बदल जाएँगी।'

बेशक सत्यार्थी जी की यह बात भीतर उत्साह पैदा करती थी, और लगातार मुझमें एक आत्मान्वेषण चल पड़ा था। हालाँकि सत्यार्थी जी से भी बहुत पहले बल्लभ जी ने मेरे कथा-संसार को बड़े प्रेम से सींचा था। बड़े ही पढ़ाकू और उस्ताद कहानीकार बल्लभ सिद्धार्थ, जिनकी कहानियों की उन दिनों धूम थी, मुझ पर छा गए थे। असल में जिन दिनों मैं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में शोध कर रहा था, बल्लभ जी अकसर हमारे विश्वविद्यालय में आया करते थे और हम रिसर्च स्कालर्स के छात्रावास, टैगोर हॉस्टल में ही वे ब्रजेश भाई के साथ रुकते थे। तब पहलेपहल उन्हें जाना और उनकी कहानियों के जरिए ही बहुत यात्राएँ भीतर-बाहर की हुईं। घंटों उनके रचनात्मक संग-साथ से अंदर बहुत कुछ प्रकाशित होता चला गया। कहानियाँ लिखता तो पहले से ही था, पर बल्लभ जी से मिलने के बाद खुद-ब-खुद बहुत कुछ बदलता चला गया। और फिर कुछ अरसा बाद तो अंदर से कहानियों का जैसे एक सोता ही फूट पड़ा। मेरा शोध पूरा होने के बाद भी, जब मैं कुरुक्षेत्र में किराए के मकान में रहता था, बल्लभ जी से निरंतर मुलाकातें होती रहीं, और मेरी कहानियों को वे खासी रुचि से देखते थे। अपनी विस्तृत राय भी बताते।

याद पड़ता है, बरसों बाद—जब मैं हिंदुस्तान टाइम्स में आ चुका था, फिर तेजी से कहानियाँ लिखने का सिलसिला चला। मेरा पहला कहानी-संग्रह 'अंकल को विश नहीं करोगे' छपा, तो मैंने वह बल्लभ जी को भिजवाया। कुछ अरसे बाद संग्रह की शीर्षक कथा 'अंकल को विश नहीं करोगे' पढ़कर उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसे पढ़कर मैं रोमांचित हो उठा था। उन्होंने लिखा था, 'अंकल को विश नहीं करोगे' उन्हें इस बुरी तरह बेचैन करने वाली पाँच-सात कहानियों में से एक है और—'मनु, तुमने कम से कम एक 'बड़ी' कहानी लिखी है!'

बल्लभ जी की तरह ही मेरे बहुत-से कहानीकार मित्रों को यह कहानी इस कदर प्रिय है कि बरसों बाद मिलने पर आज भी कहीं न कहीं, कभी न कभी इसकी चर्चा छिड़ ही जाती है। मेरे साहित्यिक मित्रों में श्रवणकुमार और डॉ. माहेश्वर भी इस कहानी की बहुत प्यार से चर्चा करते थे। श्रवणकुमार ने मेरी कहानी 'एक सुबह का महाभारत' का अंग्रेजी में तर्जुमा किया था। फिर उन्हीं के संपादन में यह अंग्रेजी के एक कथा-संचयन में भी आई। मेरी लंबी कहानी 'टैक्सी ड्राइवर रामलाल दुआ की कहानी', याद पड़ता है, डॉ. माहेश्वर और श्रवणकुमार जैसे प्यारे लेखक-मित्रों के बीच हिंदुस्तान टाइम्स की कैंटीन में पढ़ी गई, तो कहानी सुनते हुए डॉ. माहेश्वर के आँसू छलछला आए थे। कहानी बीच में रोकनी पड़ी थी, और एक अंतराल के बाद वह फिर शुरू हुई। इस लंबी कहानी के पूरे होते-होते रात घिर आई

थी। मैंने डॉ. माहेश्वर और श्रवणकुमार दोनों मित्रों से क्षमा माँगते हुए कहा, 'माफ करें, कहानी बहुत लंबी थी। इस वजह से आपको देर हो गई।'

इस पर डॉ. माहेश्वर ने एक सीझी हुई हँसी के साथ कहा था, 'दोस्त, यही तो तुम्हारी अदा है कि जिस चीज का भी वर्णन करते हो, तुम उसके इतने बारीक से बारीक डिटेल्स देते जाते हो कि सुनने वाला ताज्जुब में पड़ जाता है। कितने लेखक हैं, जिनमें अपने पात्रों के भीतर इतनी गहराई में उतरने का धीरज है, तो तुम अपनी कहानी के लंबे होने से क्यों परेशान हो? प्रकाश मनु ऐसी कहानियाँ नहीं लिखेगा तो कौन लिखेगा?' इसी तरह 'अरुंधती उदास है', 'सुकरात मेरे शहर में', 'अपराजिता की सच्ची कहानी', 'कुनु', 'प्रतिनायक', 'जिंदगीनामा एक जीनियस का'—ये सभी अलग-अलग मूड्स की कहानियाँ हैं। कहीं न कहीं मेरी आत्मकथा के पन्ने इनमें फड़फड़ा रहे हैं और इन पर अब भी इतनी ऊष्मा भरी और अलग-अलग किस्म की प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं, तो पता लगता है, एक लंबे अरसे तक 'भूमिगत' रही, अंदर ही अंदर बहती मेरी कथा-यात्रा अकारथ तो नहीं गई। यों यह बात अपनी जगह सही है कि 'यह जो दिल्ली है', 'कथा सर्कस' और 'पापा के जाने के बाद' उपन्यासों की जबरदस्त चर्चा के कारण मेरे बहुत-से निकटस्थ मित्रों-लेखकों का ध्यान इस ओर न जाता, तो यह कथा-यात्रा अभी तक भूमिगत ही रहती। अलबत्ता इसे मैं अपनी खुशकिस्मती ही मानता हूँ कि जिंदगी की टूटन, तल्खी और हादसों के बीच अलग-अलग शक्लों में सामने आई मेरी इन कहानियों पर समय-समय पर पाठकों की बड़ी आत्मीय और भावुक कर देने वाली प्रतिक्रियाएँ मिलती रहीं। बहुत-से पाठकों का कहना था, 'आपकी कहानियों का अनौपचारिक अंदाज हमें पसंद है। आप अपने साथ बहा ले जाते हैं और एक बार पढ़ने के बाद आपकी कहानियाँ हमेशा के लिए हमारे साथ हो लेती हैं।'

ऐसे ही 'एक सुबह का महाभारत', 'कुनु', 'नंदू भैया की कहानी', 'एक बूढ़े आदमी के खिलौने' पढ़कर लिखे गए पत्रों में उस भावनात्मक संवाद के अक्स मिले, जिसमें आत्म और पर के बीच के फासले गायब हो जाते हैं। और कुछ अरसा पहले 'साहित्य अमृत' में छपी 'जोशी सर' कहानी पढ़कर जो भावुक कर देने वाले पत्र मिले, उनमें सभी का कहना था, 'मनु जी, आपने हमारे बहुत प्यारे अध्यापक की याद दिला दी!' कुछ ने तो बड़ी संजीदगी से अपने उन प्रिय अध्यापक के बारे में लिखकर भी भेजा, जिसे 'जोशी सर' कहानी पढ़कर उन्होंने बेतरह याद किया। मेरी बहुचर्चित लंबी कहानियों में 'मिसेज मजूमदार' भी है, जिसमें एक बंगाली स्त्री की विचित्र किस्म की रुक्षता और निर्ममता है, जिससे पड़ोस का परिवार करीब-करीब आक्रांत हो उठता है। उसे मिसेज मजूमदार एक ऐसी मोटी खाल वाली स्त्री लगती है, जिसके भीतर करुणा और संवेदना का नामोनिशान नहीं है। तिस पर उसकी अजीब सी सनकें और कर्कशता उसे मोहल्ले में लगभग सभी की घृणा का पात्र बना देती है। पर कहानी के अंत में उसकी दीनता और असहायता की जो अनचीह्नी छवियाँ उभरती हैं, उससे एक और ही मिसेज मजूमदार सामने आती है, जो सचमुच करुणा की पात्र हैं।

कहानी का अंत आते-आते मिसेज मजूमदार के दुख, करुणा और असहायता का चित्रण करते हुए, खुद मेरी हालत बहुत खराब हो गई थी, और किस पीड़ा और वेदना से भरकर मैंने डबडबाई आँखों से उसे आखिरी छोर तक पहुँचाया था, इसकी याद आज फिर मुझे भावुक बना रही है। 'गंगा चौकीदारनी की कथा' भी एक ऐसे स्त्री पात्र पर लिखी गई कहानी है, जिसको दर्जनों बार बहुत पास से देखा। हर बार कुछ न कुछ अलग और बदला हुआ उसका रूप। कुछ-कुछ अबूझ, रहस्यपूर्ण और मायावी भी। लेकिन कुछ ऐसा भी था, जो कभी नहीं बदला, और उसी के भीतर से उसकी तरह-तरह की शक्लें और अक्स प्रकट हो जाया करते थे। हर बार कुछ-कुछ विमूढ़ और हतप्रभ करते हुए। पर उसकी कथा में एक ऐसी अबूझ करुणा का बारीक सा धागा है, जो निरंतर चलता जाता है, और उसके साथ ही नए-नए पड़ावों से गुजरती गंगा चौकीदारनी की कथा नई-नई भंगिमाओं में आगे बढ़ती जाती है और एक 'अंतहीन अंत' तक पहुँचती है। यों उस स्त्री की जिंदगी में बहुत पड़ाव आए, अच्छे-बुरे सब तरह के। पर हर हाल में उसकी दीनता प्रकट हुए हुए बिना न रहती, और मेरी यह लंबी कहानी कमोबेश उसी से बावस्ता है। और उसी ने मन में यह कहानी लिखने की तड़प पैदा की।

'तुम कहाँ हो नवीन भाई', 'प्रतिनायक' और 'अंधी गुफा का मसीहा' कहानियाँ साहित्यिक दुनिया के भीतरी अँधेरों की कहानियाँ हैं, और अपने कुछ अलग और विशिष्ट ढंग से उन शक्लों को उजागर करती हैं, जो शायद बहुतों के लिए अनजानी और विस्मयजनक होंगी। थोड़ी चौंकाने वाली भी। स्वयं मेरे

लिए इन कहानियों को लिखना बेहद तकलीफ भरी, काली अँधेरी सुरंग से गुजरने जैसा मर्मांतक अनुभव था। जो दुनियादारी में कामयाब हैं, वे कैसे साहित्य और कलाओं की दुनिया में भी झटपट सफलताओं के शिखर पर पहुँचते हैं, और जीवन भर खुद से और हालात से जूझने वाले लेखक के हिस्से यहाँ भी उपेक्षा, असफलता और नाकामयाबी ही आती है। यह चीज एक मनुष्य और कहानीकार के रूप में बार-बार मुझे विदग्ध करती है। तब भीतर से जो एक अज्ञात कराह और हाहाकार सा फूटता है, उसे शब्दों का जामा पहनाना निस्संदेह बहुत दारुण पीड़ा भरे अनुभवों को फिर-फिर जीना था। जाहिर है, यह तकलीफ बहुत तोड़ने वाली थी, और इन कहानियों को बहुत अंदर तक टूट-फूटकर ही लिखा गया। लिहाजा इन कहानियों को पढ़ना आज भी मुझे भीतर-बाहर से थरथरा देता है।

'तुम याद आओगे लीलाराम' मेरी आत्मकथात्मक कहानी है, जिसमें गर्दिश के दिनों की ऐसी तकलीफें हैं, जिन्हें कभी किसी से कहा या बाँटा नहीं जा सका। मेरे समय और जीवन का बहुत कुछ जो अभी तक अनकहा है, वह न जाने कैसे इस कहानी में खुद-ब-खुद ढलता चला गया। और यह ऐसी कहानी है, जिसके बारे में मैं कह सकता हूँ, कि इसमें आपको मेरी आत्मकथा के बहुत करुण पन्ने फड़फड़ाते मिलेंगे। मेरी आत्मकथा का यह भाग अभी सामने आया नहीं है, पर 'तुम याद आओगे लीलाराम' में कुरुक्षेत्र के दिनों के दारुण कष्टों की तसवीर आप शायद बहुत विश्वसनीय रूप से देख पाएँगे। 'तुम याद आओगे लीलाराम' कहानी ही है, आत्मकथा नहीं। पर बेशक वह मेरी आत्मकथा से बहुत सटकर निकलती कहानी है। मेरे जीवन का यह वह दौर था, जब बहुत रोना आता था, और आप रो भी नहीं पाते थे। अंदर-अंदर रुदन दबाकर जीना और इस हालत में भी मजबूती से कलम पकड़े रहना, यह उस दौर की एक ऐसी खब्त है, जिसे मैं ताजिंदगी नहीं भूल सकता। उन दिनों इस हालत में भी जो कुछ लिखा गया, वह एक जलती भट्ठी के बीच बैठकर लिखने से कम न था।

अपने उस गर्दिशों भरे दौर को याद करता हूँ तो मानसिंह की काफी याद आती है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में शोध के दौरान हिंदी विभाग के पीयन भाई मानसिंह का प्यार, अपनत्व और दिलासे भरा साथ हमें निरंतर मिला। हमें, यानी मुझे और सुनीता को। रात-दिन काम और काम के बीच मानसिंह ने कड़क चाय पिलाकर हमें जीवंत रखा था। इससे भी अधिक उसके किस्से और कहानियाँ की अविरल वाग्धारा ने, जिनमें जीवन बोलता था। कहने को मानसिंह चपरासी ही था। ज्यादा पढ़ा-लिखा भी नहीं। पर उसकी चेतना मुझे बहुतेरे कथित भद्र जनों और दिन-रात किताबें धोंकने वालों पढ़ाकुओं से कहीं अधिक उजली नजर आई। ऐसे मानसिंह की एक उजली सी छवि मेरी कहानी 'तुम याद आओगे लीलाराम' में कहीं उतर आई है। कहानी में आते-आते बहुत कुछ बदल गया है। पर वह बुनियादी तौर से मानसिंह के चरित्र का विकास ही है, और कहानी में मानसिंह को पहचानना मुश्किल नहीं है।

हिंदी के जाने-माने लेखक और प्रोफेसर शशिभूषण सिंहल भी उन दिनों कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में ही थी। कोई तीन बरस पहले 'साहित्य अमृत' में यह कहानी छपी तो उनका फोन आया। कहानी की देर तक प्रशंसा करने के बाद उन्होंने कहा, 'मानसिंह को हमने भी देखा तो था। पर उसका चरित्र इतना बड़ा है, यह तो मनु जी, पहली बार आपकी कहानी पढ़कर ही पता चला।' अब मैं उनसे क्या कहता, और कैसे समझाता कि अगर वे मेरी जगह खड़े होकर देखते, तभी समझ सकते थे कि मानसिंह क्या था। उनकी नजर में वह एक पीयन था, और मेरी नजरों में सोने के दिल वाला एक खरा इनसान। देखने के अलग-अलग 'फ्रेम ऑफ रेफरेंस' ने सब कुछ बदल दिया। आज मानसिंह नहीं है, पर उसके लिए मन में जो गहरी कृतज्ञता का भाव है, उसे शब्दों में कैसे व्यक्त करूँ, मैं नहीं जानता। आज वह जिंदादिल शख्स नहीं है, पर उसकी स्मृति को तो मैं प्रणाम कर ही सकता हूँ। उसकी निकटता में मैंने जीवन के जो गहरे पाठ पढ़े, उन्हें आज भी भूला नहीं हूँ। और शायद कभी भूलूँगा भी नहीं।

'आप कहाँ हैं जित्ते सर' में मेरे मलोट के दिनों के अनुभव हैं, और जो मुझे थोड़ा निकट से जानते हैं, वे जित्ते सर की चिंताओं और कशमकश में कहीं न कहीं खुद मेरी व्यथा और बेचैनी ढूँढ़ ही लेंगे। कहानी का करुण अंत एक लेखक की उस त्रासदी को सामने रखता है, जिसमें एक ईमानदार, धुनी और जेनुइन लेखक अंत में एकदम अकेला होता जाता है। पूरी दुनिया में अकेला। और बेतरह प्रेम करने वाले कुछ निकटस्थ जनों और अंतेवासी लोगों के सिवा कोई नहीं जान पाता कि वह कैसी परिस्थितियों में निरंतर टूटता चला गया। हालाँकि उसकी खुद्दारी, जिद और स्वाभिमान तब भी कम नहीं होता। उसे टूट-टूटकर मरना पसंद है, पर बहुत से दुनियादार लेखकों की तरह दूसरों की शर्त पर जीना और सफल होना नहीं।

'एक और मोचीराम' मेरी लंबी कहानियों में शायद सबसे अलग है, जिसमें मोचीराम का चरित्र खासा दिलचस्प भी है, जिंदगी और जिंदादिली से लबरेज भी। इस कहानी के बारे में सिर्फ इतना कहना है कि जिस मोचीराम की यह कहानी है, उसकी भीतरी-बाहरी शक्लें मैंने बहुत करीब से देखी हैं। वह सिर्फ एक जूते ठीक करने वाला इनसान नहीं था, सच में एक कलाकार था, अभिनेता भी। इस कहानी में वह थोड़ा-थोड़ा उभरा है। यों 'एक और मोचीराम' सिर्फ लंबी कहानी ही नहीं है, बल्कि उसमें एक सुर है, भीमसेन जोशी जैसा शास्त्रीय संगीत का एक अलग सा और गहरा-गहरा सा सुर, जिसके आरोह-अवरोह और आलोपों में कहीं न कहीं मेरी अपनी जिंदगी और परिवेश की कशमकश भी जुड़ गई है। लिहाजा इस कहानी में भी स्वभावत: मेरी आत्मकथा के पन्ने बिखरे हुए नजर आ सकते हैं।

अंत में इधर लिखी गई अपनी ताजा कहानी 'भटकती जिंदगी का नाटक' की चर्चा करने का मन है। मेरे बहुत प्रिय कवि विष्णु खरे जब हिंदी अकादमी के उपाध्यक्ष बने, तो उन्होंने 'इंद्रप्रस्थ भारती' का कहानी विशेषांक निकालने की योजना बनाई। इस विशेषांक के लिए उन्होंने आग्रहपूर्वक कहानी माँगी तो मैंने उन्हें बताया कि 'मेरे पास अधलिखी कुछ कहानियाँ हैं। उनमें से एक कहानी मैं जल्दी ही पूरी करके भेजता हूँ।' विष्णु जी का आग्रह, 'प्रकाश जी, कहानी आज ही चाहिए।' उनके आग्रह की अवहेलना भला मैं कैसे कर सकता था? लिहाजा सुबह से लेकर रात कोई बारह बजे तक इस कहानी से जूझता रहा। तब कहीं यह पूरी हुई। रात में ही मैंने विष्णु जी को कहानी भेजी। और आश्चर्य, रात में ही उन्होंने इसे पढ़ भी लिया। और सुबह पाँच बजे मैं उठा तो देखा, मोबाइल में उनका संदेश था। कहानी उन्हें बेहद पसंद आई थी और बड़ी प्रमुखता से उन्होंने इसे 'इंद्रप्रस्थ भारती' में छापा। तब से दर्जनों फोन इस इस पर प्रशंसा के आ चुके हैं और इनमें नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से निकले तीन नाट्यकर्मी भी हैं। थोड़े-थोड़े अंतराल बाद उनके फोन आए और तीनों ने ही इस कहानी के नाट्य रूपांतरण की अनुमति देने की गुजारिश की। वे इसे रंगमंच पर लाने के लिए उत्सुक थे।

मेरे जीवन का यह पहला और विलक्षण अनुभव था कि किसी एक कहानी की नाट्य संभावनाएँ इतने संभावनाशील रंगकर्मियों को लगभग एक साथ ही नजर आई। मेरी कई कहानियों में खासा नाटकीय तत्व है, यह तो मैं जानता था, पर वे रंगकर्मियों को भी इस कदर मोह लेंगी, मैंने सोचा न था। मैं नहीं जानता कि यह अच्छा और वरेण्य है या नहीं, पर इधर मेरी कहानियों में आत्मकथा के हरफ ज्यादा से ज्यादा उतरते गए हैं। इसकी वजह क्या है, यह खुद मेरे लिए एक पहली से कम नहीं है। हालाँकि देश भर में फैले मेरे पाठकों ने इसे पसंद किया, और इन कहानियों के साथ एक गहरा नाता और जुड़ाव महसूस किया, यह स्वयं मेरे लिए कम सुकून और तसल्ली की बात नहीं है। पाठकों की अपरंपार स्नेहमय चिट्ठियाँ और फोन-वार्ताएँ मेरे लिए कितने बड़े सुख का खजाना हैं, मैं बता नहीं सकता। कई बार लगता है, मेरे पास यह ऐसी अकूत दौलत है, जिसका मुकाबला किसी से नहीं हो सकता। बड़े से बड़े अमीरों की अमीरी और राजे-महाराजाओं के सिंहासन भी इसके आगे थोथे हैं। और तभी लगता है, मैं एक फक्कड़ लेखक सही, पर ऐसा फक्कड़ बादशाह हूँ, जिससे बड़ी बादशाहत इस दुनिया में कोई और नहीं। देश में दूर-दूर तक फैले असंख्य पाठकों का यह अकूत स्नेह-सम्मान मैंने अपने रचे साहित्य के जरिए पाया, खासकर कहानियों और उपन्यासों के जरिए, यह उपलब्धि कोई छोटी उपलब्धि नहीं है। अपने बड़े से बड़े दुख और मुश्किलें तब मुझे हलके जान पड़ते हैं। लगता है, इन दुखों का हार पहनकर जीना भी कम गौरव की बात नहीं। आखिर यही तो एक सच्चे लेखक की विभूति हैं। एक शाश्वत, कालजयी और अपार्थिव विभूति! और मेरे साहित्य का तो उत्स ही यही है। क्या मैं बताऊँ कि ऐसे क्षण ही मेरे जीवन के सबसे बेशकीमती, यादगार और भावुक कर देने वाले पल-छिन हैं, जब मन में यह अहसास उपजता है कि शायद थोड़ा सा तो मैं अपनी इस यात्रा में सफल हुआ। और तब अनायास ही, अपने अंतर्मन में बैठे देवता के लिए हाथ जुड़ जाते हैं।

ये मेरे जीवन के ऐसे आनंद के क्षण हैं, जब आँखें भीगती हैं और आप नि:शब्द रह जाते हैं। इसलिए कि आखिर तो कोई भी कहानी, कहानी से पहले जिंदगी का एक टुकड़ा है एक धड़कता हुआ टुकड़ा, जो अपने आप में मुकम्मल भी है। सच पूछिए तो जीवन के बहुत से कोमल-कठिन अनुभवों और यातनाओं की गवाह बनी ये कहानियाँ मुझे जीने के मानी भी देती हैं। शायद इसीलिए उपन्यास, कविता, लेख, संस्मरण जैसी विधाओं में बहुत लिखने के बावजूद कहानियों से मेरा कुछ अलग रिश्ता है, जो कई बार संजीदा कर देता है। हो सकता है, इन कहानियों में कहीं न कहीं मेरा कवि, उपन्यासकार और संस्मरणकार भी छिपा हो, जो विधाओं की शुद्धता का कायल न होकर उनकी ताजगी और जिंदादिली में रस लेता हो!

अलबत्ता मेरी कोई पचास बरस की लंबी कथा-यात्रा में स्वभावत: लिखी गई इन कहानियों में मेरी कुछ गहरे सुर और लय-ताल वाली लंबी कहानियाँ भी शामिल हैं, जिनमें कहीं न कहीं मैं अपनी आत्मा का संगीत पाता हूँ। इनमें से एक-एक कहानी को लिखने में महीनों नहीं, कभी-कभी तो बरसों तक भटकना पड़ा। तब लगा कि हाँ, अब कुछ बना सा है। एक गहरी अंत:पुकार के साथ लिखी गई लंबी कहानियों को, जिन्हें आजकल 'लघु उपन्यास' कहने का चलन है, मैंने कहानी कहना ही पसंद किया। हालाँकि मेरी लंबी कहानियाँ सिर्फ आकार में ही बड़ी नहीं हैं, बल्कि इनमें कुछ ऐसी कसक और पीड़ा है जो मन में देर तक और दूर तक बहती है। दर्जनों बार इन्हें लिखना और काटना-छाँटना पड़ा, एक गहरी असंतुष्टि और व्याकुलता के साथ। ताकि इन कहानियों के अनुभव क्षणों में भीतर आत्मा की जो अकुलाहट थी, वह ठीक-ठीक उसी लय और अंदाज में शब्दों में उतर आए। इन्हें लिखने के बाद के तृप्ति-क्षणों में मुझे हमेशा लगा कि ये केवल लंबी कहानियाँ ही नहीं, कुछ अपेक्षाकृत गहरे सुर-ताल की कहानियाँ हैं, जो पढ़ते समय भीतर आत्मा को रोशन करती हैं और देर तक उनकी गूँज हमारा पीछा करती है। मैंने इन कहानियों के लेखक और पहले पाठक होने का सुख लिया है, और बता नहीं सकता कि हर बार इनके निकट आना मुझे कैसे अनचीह्ने शिखरों की ओर ले जाता रहा है। ये वे कहानियाँ हैं, जिनकी सतरों के बीच की खाली जगहों में मेरे जीवन की कही-अनकही वह मर्मकथा भी समाई है, जो शायद सीधे-सीधे कही ही नहीं जा सकती थी।

आज ये सतरें लिखते समय मुझे बेहद याद आ रहे हैं अपने कथागुरु सत्यार्थी जी, जिन्होंने पहलेपहल मेरी कहानियों को सुनकर दीवानगी की हद तक उनकी प्रशंसा की थी। मेरे भीतर अपनी कहानियों को लेकर आत्मविश्वास जगाने का काम सबसे पहले सत्यार्थी जी ने ही किया था, और बिना कुछ कहे, मुझे किस्सागोई के उस तार से जोड़ दिया था, जिससे मेरे तीनों बहुचर्चित उपन्यास 'यह जो दिल्ली है', 'कथा-सर्कस' और 'पापा के जाने के बाद' तो सिरजे ही गए, एक के बाद एक कहानियों का अनंत सिलसिला भी चल निकला। सत्यार्थी जी उन्हें सुनते तो आनंदित होते, और मीठे शब्दों की ऐसी थपकियाँ देते, जिससे भीतर की सारी टूटन, व्यग्रता और थकान काफूर हो जाती, और मैं एक अलग ही दुनिया में पहुँच जाता, जहाँ कहानियों की बारिश में भीगने का एक विरल और कुछ-कुछ अलौकिक सा अहसास मुझे हुआ।

अपने मित्र और वरिष्ठ कथाकारों डॉ. माहेश्वर, श्रवणकुमार और बल्लभ सिद्धार्थ, की भी इस समय बहद याद आ रही है, जिन्होंने मुझे और मेरे भीतर बैठे कथाकार को अपने अनन्य प्रेम से नहलाया। इनमें बल्लभ जी के विलक्षण उत्साह भरे फोन तो अब भी आ जाते हैं। डॉ. माहेश्वर और श्रवणकुमार अब नहीं रहे। पर मेरे भीतर तो वे अब भी उसी जीवंतता और जिंदादिली के साथ मौजूद हैं। हिंदुस्तान टाइम्स में उनके साथ हुई अनवरत मुलाकातें याद आती हैं, तो मन भीगता है। जब हम तीनों होते तो कहानियों, कहानियों और बस कहानियों की बारिश होती, और हमारे शब्दों की दीवानगी हवाओं पर भी तारी होने लगती। वे अजब कशिश भरे दिन थे, जब बहुत कहानियाँ लिखी गईं। और लिखूँ या न लिखूँ, हर वक्त कहानियों की एक दुनिया मेरे साथ चलती थी। मेरे अंदर-बाहर उसी का पसारा था, बल्कि हर पल वह मेरे साथ-साथ साँस लेती थी। बहुत से जाने-अनजाने पाठकों ने फोन पर या चिट्ठियों के जरिए गहरी तन्मयता के साथ मेरी इन लंबी और कुछ अलग लय-सुर में लिखी गई कहानियों की बड़ी शिद्दत से चर्चा और तारीफ की। पाठकों के ऐसे दीवानगी भरे फोन अब भी आ जाते हैं, और मेरा वह दिन कुछ अलग सा हो जाता है। उनके शब्दों का आवेग मन को रोमांच से भर जाता है। इनमें से एक उम्रदराज पाठक, जो पिछले चालीस बरसों से बड़ी उत्कटता से कहानियों को जी रहे थे—ने मेरी एक लंबी कहानी 'तुम याद आओगे लीलाराम' की चर्चा करते हुए, गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी से उसकी तुलना की और उसे हिंदी की कुछ महानतम कहानियों में शुमार किया तो कुछ देर के लिए मैं अवाक सा रह गया। बरसों तक उनके फोन आते रहे, और हर बार वे कुछ नए अंदाज में, मगर उसी शिद्दत से मेरी कहानी 'तुम याद आओगे लीलाराम' की चर्चा करते रहे। उनका कहना था कि 'मनु जी, आपकी कहानी 'तुम याद आओगे लीलाराम' पढ़ने के बाद इधर पढ़ी हुई तमाम कहानियों मुझे बहुत फीकी और बेजान लगती हैं। बार-बार 'तुम याद आओगे लीलाराम' उनके आगे आकर खड़ी हो जाती है। कोई महान कहानी तो ऐसी ही होती है। उससे मन को इतनी तृप्ति मिल जाती है कि बहुत अरसे तक फिर कुछ और पढ़ने का मन ही नहीं करता।' अपनी कहानियों के इन सरल और आवेगी पाठकों के प्रति आज भी मैं गहरी कृतज्ञता अनुभव करता हूँ। सच पूछिए तो आलोचकीय टीपों से कहीं अधिक पाठकों की सरल और निर्व्याज टिप्पणियों ने मुझे तृप्ति और रचनात्मक संतोष दिया।

545, सेक्टर-29,
फरीदाबाद-121008 (हरियाणा)
मो. 09810602327

प्रकाश मनु से श्याम सुशील की बातचीत

जन्म – 12 मई 1950।
शिक्षा – एम.एस.सी., एम.ए.।
रचनाएँ – नब्बे पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – हिंदी अकादमी के साहित्यकार सम्मान सहित अनेक सम्मानों से अलंकृत।

श्याम सुशील

जन्म – 28 अगस्त 1957।
शिक्षा – एम.ए.।
रचनाएँ – 10 पुस्तकें प्रकाशित।
विशेष – एनसीईआरटी की पाठ्यक्रम निर्माण समिति में अकादमिक सहयोग।

श्याम सुशील : – बाल पत्रिकाओं में ऐसा क्या होना चाहिए जिससे बच्चे उसमें रुचि लें?

प्रकाश मनु :– किसी भी पत्रिका की सार्थकता इसमें होती है कि उस दौर का सर्वश्रेष्ठ कृतित्व आए। यही सफलता और सार्थकता किसी बाल पत्रिका की भी है। जो रचनाएँ संयोगवश खुद–ब–खुद आ गईं, उन्हीं में से कुछ अच्छा–बुरा छाँटकर छाप दिया, यह तो कोई बड़ी बात नहीं है। संपादक की भूमिका इससे बहुत बड़ी है। उसे अपने समय की सर्वश्रेष्ठ मेधाओं को पत्रिका से जोड़ना चाहिए और उनसे आग्रहपूर्वक लिखवाना चाहिए। एक दौर में 'नंदन', 'पराग' और 'बाल भारती' ने हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकारों को बाल साहित्य से जोड़ा और उनसे बहुत आग्रहपूर्वक रचनाएँ लिखवाकर उन्हें बड़े सम्मान से छापा। वह बाल साहित्य का स्वर्ण काल था।...इसके साथ ही किसी बाल पत्रिका में भावपूर्ण चित्रों और सामग्री की सुरुचिपूर्ण, कलात्मक प्रस्तुति बहुत मायने रखती है, जिससे बाल पाठक उसे पढ़ने के लिए आकर्षित होंगे।

प्रश्न :– आज की पीढ़ी के बच्चों से आप क्या कहना चाहेंगे?

उत्तर :– हर बच्चे के भीतर कुछ बनने का सपना होता है। मेरा कहना है कि वे डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, किसी कंपनी के प्रबंधक या कंप्यूटर विशेषज्ञ कुछ भी बनें, पर पहले बेहतर मनुष्य बनें। एक सच्चे इंसान बनें।

प्रश्न :– आपका प्रिय लेखक?

उत्तर :– अगर बड़ों के साहित्य की बात करें तो कथा साहित्य में शैलेश मटियानी मेरे सर्वाधिक प्रिय लेखक हैं और कवियों में मुक्तिबोध और विष्णु खरे मुझे अच्छे लगते हैं। बच्चों के रचनाकारों की बात करें तो दामोदर अग्रवाल बड़े अद्भुत बाल कवि हैं। बच्चों के होंठों पर नाचने वाली ऐसी सुंदर और रसपूर्ण बाल कविताएँ किसी और ने नहीं लिखीं। आगे कोई लिख सकेगा, इसमें भी शक है। इसी तरह सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और डॉ. शेरजंग गर्ग मेरे बहुत प्रिय कवि हैं। आजादी के बाद के कालखंड में भूपनारायण दीक्षित ने बच्चों के लिए 'बाल राज्य' और 'नानी के घर में टंटू' सरीखे जबरदस्त उपन्यास लिखे। एकदम बाल मन से जुड़े अनूठे उपन्यास। 'पराग' के पूर्व संपादक आनंदप्रकाश जैन से कभी मिलना नहीं हुआ। पर मैं उन्हें गुरु मानता हूँ, और उनकी रचनाएँ पढ़कर मन ही मन प्रणाम करता हूँ। बाल कथाकारों में वे मुझे सबसे अधिक मोहते हैं। इसी तरह रेखा जैन ने बच्चों के लिए बड़े सुंदर और सरस नाटक लिखे। बाल नाटककारों में वे मेरी सर्वाधिक प्रिय लेखिका हैं।

प्रश्न :– आपको खाने में क्या–क्या पसंद है?

उत्तर :– घर की दाल–रोटी, सब्जी मुझे दुनिया का सबसे अच्छा पकवान लगती है। सुनीता जी बहुत सादा खाना बनाती हैं, पर उसमें बड़ा रस होता है। खाने में मुझे दिखावा या आडंबर पसंद नहीं। एक साथ बहुत सब्जियाँ परोस दी जाएँ तो मैं हकबका जाता हूँ कि क्या खाऊँ, कैसे खाऊँ? घर की बनी सिर्फ एक सादा सी सब्जी या दाल ही बहुत है। उसके आगे

किसी पाँच तारा होटल का खाना भी मुझे नहीं रुचता। और सच बताऊँ, कभी किसी दावत में खाना खाने जाना पड़े, तो मुझे यह भीषण यातना से कम नहीं लगता।

प्रश्न :- कौन सी मिठाई सबसे ज्यादा अच्छी लगती है?
उत्तर :- बचपन से ही मुझे रस से भरी गरम इमरती बहुत अच्छी लगती है, या फिर जलेबी। बूँदी के लड्डू भी, जो जरा देहाती ढंग से बने हों, सख्त और भुरभुरे, वे अच्छे लगते हैं। घर की बनी मिठाइयों में मुझे आटे के लड्डू यानी पिन्नी बहुत पसंद है। माँ बहुत अच्छी पिन्नियाँ बनाती थीं। बचपन में बहुत खाईं। सर्दियों में कभी-कभी अब भी हमारे घर में बन जाती हैं।

प्रश्न :- मनपसंद फल?
उत्तर :- केला...या फिर अमरूद। वही जो आम जन के फल हैं, मुझे सबसे ज्यादा पसंद हैं।

प्रश्न :- वृक्ष?
उत्तर :- मुझे छतनार बरगद सबसे अच्छा लगता है। उसे देखकर बाबा जी या दादा जी वाला भाव उभरता है। बच्चों के लिए लिखी गई मेरी बहुतेरी कहानियों में बरगद किसी महत्त्वपूर्ण पात्र या कथानायक की तरह उपस्थित है। गुलमोहर, शिरीष, अमलतास, पीपल और नीम भी मुझे पसंद हैं।

प्रश्न :- फूल?
उत्तर :-बरसों पहले जब कुरुक्षेत्र में रिसर्च कर रहा था तो अकसर घूमने के लिए ब्रह्मसरोवर जाया करता था। बारिशों में वहाँ बहुत बार कमल के फूल देखे। एक निगाह में पानी में लहलहाते सैकड़ों कमल के फूल...! पूरा वातावरण मीठी खुशबू से भर जाता था। वह झाँकी मुझे कभी नहीं भूलती। कुरुक्षेत्र में कुईं या कुमुदनी का भी निराला सौंदर्य देखा। मैं देखता था, बारिशों में सड़क के किनारे जहाँ भी कहीं कोई गड्ढा पानी से भरा, कुछ ही अंतराल में वहाँ शुभ्र सफेद कुमुदनी के फूल लहलहाते नजर आ जाते थे। पर यह सब तो आजकल मुझे स्वप्नलोक की बात लगती है। इधर जो फूल सहजता से देखने को मिल जाते हैं, उनमें गेंदा मुझे आम आदमी का फूल लगता है और वही सबसे अच्छा भी लगता है। आसानी से उग भी जाता है। खुद हमारे घर हर वर्ष गेंदे के फूलों की बहार आती है। और हाँ, याद पड़ता है, मैंने गेंदे के फूल की एक छोटी सी सरस कहानी भी लिखी है, जो मेरे कई पाठकों ने पसंद की है।

प्रश्न :- कौन सा पक्षी आपको अधिक पसंद है?
उत्तर :- पक्षियों में गौरैया मुझे सबसे ज्यादा पसंद है। वह एकदम भोली-भाली, घरेलू और दोस्त सरीखी लगती है। उस पर लिखी गई आपकी कविता भी मुझे खूब पसंद है, 'वह गौरैया कहाँ गई?' मोर और उनकी खूबसूरती भी बहुत लुभाती है। दिल्ली के चिड़ियाघर में बहुत पहले मैंने और सुनीता जी ने सामान्यत: मिलने वाले हरे-नीले गर्वीले मोर के अलावा एक बिल्कुल सफेद मोर भी देखा था। एकदम दूधिया मोर। दोनों अलग-अलग बाड़े में थे, पर एक-दूसरे को देख सकते थे। उन दोनों के बीच क्या अद्भुत नृत्य प्रतियोगिता हुई थी। उसे तो मैं जीवन भर नहीं भूल सकता।

प्रश्न :- नदी?
उत्तर :- कुछ बरस पहले सपरिवार हरिद्वार और ऋषिकेश जाना हुआ। वहाँ मैंने गंगा का उत्फुल्ल विस्तार देखा था। वह मुझे कभी नहीं भूलता। किसी नदी का अपरंपार वैभव मैंने वहीं देखा। यों बरसों पहले इलाहाबाद में त्रिवेणी पर गंगा-यमुना के मिलन का अद्भुत दृश्य देखा था। जहाँ तक नजर जाती, दूर-दूर तक फैली अथाह जलराशि, बड़ी-बड़ी लहरों की पछाड़ों के साथ। वह दृश्य भी अकसर याद आता है।

प्रश्न :-आपका मनपसंद रंग?
उत्तर :- हल्का गेरुआ या फिर मिट्टी वाला रंग। पहले कच्चे मकानों पर जो मिट्टी की लिपाई की जाती थी, उसकी हल्की पीली रंगत मुझे सबसे अधिक मोहती है। उसे देखकर लगता है, जैसे आँखों को ठंडक पड़ रही हो। इसी तरह हल्का बादामी रंग मुझे अच्छा लगता है, हल्का प्याजी भी। और हाँ, आसमानी रंग भी मुझे पसंद है।

प्रश्न :-शहर?
उत्तर :- कुरुक्षेत्र मेरा सबसे प्रिय शहर है। मैं अकसर कहता हूँ कि कुरुक्षेत्र आने पर मेरा पुनर्जन्म हुआ।...कुरुक्षेत्र मुझे छोड़ना पड़ा और मैं वहाँ रह न सका, इसे अपने जीवन का बड़ा अभिशाप मानता हूँ। हालाँकि बीच-बीच में कुरुक्षेत्र जाना होता

है। सुनीता जी का घर वहीं है। वहाँ ब्रह्मसरोवर के अपरिमित विस्तार और विशाल जलराशि को देखकर जो सुंदर अहसास होता है, उसे शब्दों में बता पाना मुश्किल है।

प्रश्न :-गाँव?
उत्तर :-किशोरावस्था में अपने एक बाल मित्र के साथ मैं गरमी की छुट्टियों में उसके गाँव गया था और दो-एक दिन वहाँ रुका था। गाँव का नाम तो अब याद नहीं, पर उसका सुंदर अहसास मन में है। इसी तरह मेरी पत्नी सुनीता की नानी जी का गाँव सालवन मुझे बहुत अच्छा लगा था। वहाँ कुछ समय रहा था, जब नानी जीवित थीं। पूरे गाँव ने जिस प्यार-दुलार से मेरा आतिथ्य किया था, उसे याद करके आज भी अभिभूत हो उठता हूँ। फिर गाँव के कुछ युवकों के साथ मैं वहाँ भ्रमण करने गया था और वहाँ के एक-एक स्थल के इतिहास-भूगोल की जानकारी बड़े अच्छे ढंग से उन लोगों ने दी थी। तब मुझे समझ में आया कि सालवन एक बड़ा ही सुसंस्कृत गाँव है। आज भी सालवन की बड़ी मीठी पुलक भरी याद मेरे मन में है।

प्रश्न :- आपका प्रिय खेल?
उत्तर :- कबड्डी और पचगुट्टी। शुरू में पचगुट्टी खेली, बाद में कबड्डी बहुत दिनों तक खेलता रहा। शायद हाईस्कूल में ही मुझे चश्मा लग गया था। कबड्डी खेलते समय बहुत बार चश्मा गिरा और फ्रेम या लेंस टूट गया। पर कबड्डी खेलने का जोश फिर भी कम नहीं हुआ।

प्रश्न :- आपका मनपसंद समाचार-पत्र?
उत्तर :- जनसत्ता। जब से शुरू हुआ, तभी से इसे पढ़ रहा हूँ। किसी और अखबार में यह बात नहीं, फिर चाहे वह कितना ही बड़ा और लोकप्रिय क्यों न हो।

प्रश्न :- आपका मनपसंद त्यौहार?
उत्तर :- होली। बचपन से ही होली के रंग और उत्साह में रँगना अच्छा लगता है। आजकल गीले रंगों से नहीं, गुलाल से होली खेलता हूँ, पर खेलता जरूर हूँ। भले ही दो-चार आत्मीय लोगों के माथे पर गुलाल का टीका लगाऊँ, पर सुख मिलता है। बचपन की होली कभी नहीं भूल पाता, जब पूरा शहर होली के रंगों में सराबोर हो जाता था और फिर पड़वा पर सभी लोग एक-दूसरे से गले मिलकर सारे गिले-शिकवे दूर कर लेते थे। वह आनंद, वह प्यार और आत्मीयता अब केवल सपने की बात लगती है।

प्रश्न :- आपकी नजर में सबसे बुरा काम?
उत्तर :- किसी को धोखा देना... या विश्वासघात।

प्रश्न :- आपकी प्रिय प्रार्थना?
उत्तर :- 'ऐ मालिक, तेरे बंदे हम, ऐसे हों हमारे करम,/ नेकी पर चलें और बदी से टलें,/ ताकि हँसते हुए निकले दम...!' मुझे यह इनसान और इनसानियत की सच्ची प्रार्थना लगती है, जो सभी धर्मों और मतवाद से परे है।

प्रश्न :- आपके लिए सबसे बड़ा सम्मान क्या है?
उत्तर :- मुझे लगता है, अपने अग्रजों, साथी लेखकों और पाठकों का प्यार पा लेने से बड़ा सम्मान कोई और नहीं हो सकता।

प्रश्न :- पूजा-पाठ में विश्वास करने या न करने का कारण?
उत्तर :- श्याम जी, पहले मैं खुद को नास्तिक कहता था, अब नहीं कहता। पर पूजा-पाठ में मेरी आस्था न कभी पहले थी, न अब है। मुझे लगता है, अपने मन और विचारों को सुंदर और निर्मल रखना चाहिए। अगर ईश्वर है तो वह आपकी आत्मा की उजास को जरूर देख लेगा, और अगर नहीं है तो भी आपने अपनी आत्मा को उजलाकर जो सुकून हासिल किया, वह इस जीवन का सबसे बड़ा प्राप्य है। और वह आपको ही नहीं, आपके निकट के लोगों के मन को भी आनंदित करेगा।...पर इसके लिए शोर-शराबे का बखेड़ा करना, ढोंग और आडंबर करना, यह तो बड़ी निरर्थक बात है। इसके बजाय आप किसी जरूरतमंद की मदद करें, या फिर समाज में निचली श्रेणी के या कमतर समझे जाने वाले लोगों से मीठी बोली में बात करें, उन्हें थोड़ी खुशी दें और बराबरी का अहसास कराएँ, तो यह ईश्वर की सच्ची पूजा होगी। इसलिए कि ईश्वर अगर कहीं है तो इनसानों में ही है, जीवधारियों और वनस्पतियों में है। उनमें उसे पहचानें, यही सच्ची पूजा है।

प्रश्न :- बच्चों से आपकी अपेक्षाएँ?

उत्तर :- वे नेक, संवेदनशील और समझदार हों। दूसरे के दुख और दर्द को अपने जैसा ही समझें। सुख के नकली साधन जुटाकर नहीं, बल्कि किसी की मदद करने में सच्चा सुख महसूस करें।

प्रश्न :- एक बेहतर दुनिया की कल्पना आप किस रूप में करते हैं?

उत्तर :- उसमें हर इनसान एक-दूसरे के प्रति संवेदनशील और करुणार्द्र होगा। छोटे-बड़े का भेद न रह जाएगा और कोई किसी के प्रति अन्याय न करेगा। ऐसी दुनिया निस्संदेह एक प्यार और हमदर्दी भरी दुनिया होगी, जिसमें बेशक साहित्य और कलाओं के लिए कहीं अधिक सम्मान होगा।

प्रश्न :- भारत एक विकसित और खुशहाल राष्ट्र कैसे बन सकता है?

उत्तर :- जब बाहरी विकास के साथ-साथ भीतर के विकास की बात भी की जाए। एक गाँधी नहीं, घर-घर में गाँधी हों जो लोगों को प्रेम, दया, समानता, स्वावलंबन और हमदर्दी का पाठ सिखाएँ।

प्रश्न :- समाज से ऊँच-नीच और अमीरी-गरीबी क्या कभी खत्म हो सकेगी?

उत्तर :- अभी तो श्याम जी, लग रहा है कि वह उल्टे और बढ़ रही है। इस देश में अरबपति-खरबपति अमीरों की संख्या लगातार बढ़ रही है, पर उसके साथ ही भूखे-नंगे, गरीब और बदहालों की संख्या भी बढ़ रही है और उनकी हालत बद से बदतर होती जा रही है। इसे देखकर कई बार लगता है, कि क्या बेहतर कल का हमारा सपना केवल सपना ही रहेगा?...पर तो भी हम सपना देखना कैसे छोड़ सकते हैं? हमारी पीढ़ी के बाद अगली पीढ़ी आएगी। फिर और-और पीढ़ियाँ आती रहेंगी। उनमें कोई न कोई तो इस सपने को पूरा करने के लिए अपनी आत्मा की समूची शक्ति और आवेश के साथ उठकर खड़ा होगा और जनता को साथ लेकर इस देश, समाज में भारी उथल-पुथल कर डालेगा। ताकि इतनी गैर-बराबरी न हो और गरीब आदमी भी इज्जत से जिए।

प्रश्न :- समाज में वैज्ञानिक चेतना लाने और सभी शिक्षित हों, इसके लिए हमें क्या करना होगा?

उत्तर :- यह काम किन्हीं दो-चार एनजीओ, सरकारी कार्यक्रमों, यूनिसेफ या ऐसी ही अन्य संथाओं के भरोसे छोड़ने से काम न चलेगा। हममें से हर पढ़ा-लिखा आदमी सीने में आग लेकर निकले और कंधे से कंधा मिलाकर काम करें, तो इस देश से अशिक्षा के भूत को भागते देर न लगेगी। और तभी वैज्ञानिक चेतना की नींव भी रखी जा सकेगी।

प्रकाश मनु
545, सेक्टर-29,
फरीदाबाद-121008 (हरियाणा)
मो. +91-9810602327

श्याम सुशील
ए-13, दैनिक जनयुग अपार्टमैंट्स,
वसंधरा एन्क्लेव, दिल्ली-110096।
मो. 09871282170

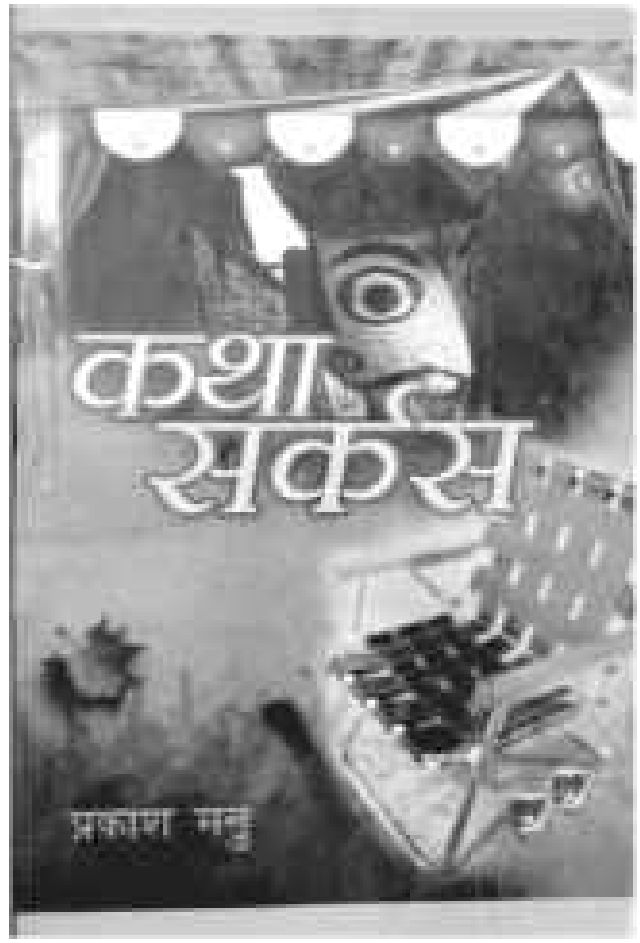

उम्मीद रोशनी की

– प्रेमकुमार गौतम

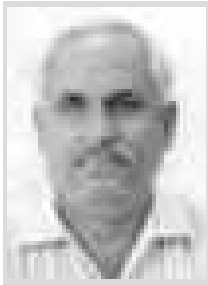

जन्म – 27 अगस्त 1964।
जन्मस्थान – झाँसी (उ.प्र.)।
रचनाएँ – एक पुस्तक प्रकाशित।

'तुम्हारा नाम?'

'जी, रवि'

'पिता का नाम?' कोई उत्तर नहीं, खामोशी।

'पिता का क्या नाम पूछ रहे हैं, सुनाई नहीं देता क्या?' फिर वही खामोशी, कोई उत्तर नहीं।

'अरे, अपने बाप का नाम बता, रजिस्टर में लिखना है।'

इस बार झुँझलाई शिक्षिका नीलम ने रजिस्टर से दृष्टि हटाकर सामने खड़े दुबले-पतले, साँवले बालक के चेहरे पर जा टिकाई। स्कूल में प्रवेश के लिए खड़े बालक की आँखें आँसुओं से भीगी हुई थीं।

'अरे, इसे क्या हुआ, इसकी आँखों में आँसू क्यों? कहीं मेरी डाँट या पूछने के तरीके से घबराकर तो इसका ये हाल नहीं हो गया?' नीलम ने पश्चाताप की सी मुद्रा में बालक के कंधे पर हाथ रखा और सहज होकर वही प्रश्न किया-घबराओ नहीं बेटा। हम तुम्हें डाँट नहीं रहे। जरूरी जानकारियाँ स्कूल रजिस्टर में लिखना पड़ती है न?'

'मैं बताती हूँ मैम जी! हमारे माँ-बाप नहीं हैं। बीमारी में दोनों मर गए। नानी के यहाँ यहीं पास में झोपड़पट्टी में रहते हैं। ये हमारा छोटा भाई है। मेरा नाम गुड़िया है।' इस बार बालक के साथ खड़ी उसकी बारह वर्षीय बहन ने खामोशी तोड़ी।

नीलम को बालक को डाँटने का पश्चाताप अब और अधिक महसूस हो रहा था। 'मैंने बेकार ही बिना माँ-बाप के बच्चे को डाँट डाला। देखो तो बेचारा कैसा दुखी हो रहा है। भगवान और इसके माँ-बाप जहाँ भी हैं, मुझे माफ करें।' बालक से नजरें हटाकर नीलम ने आसमान की ओर ताकते हुए हृदय पर हाथ रख लिया। बालक की आँखें अब भी नम थीं। स्कूल की शिक्षिका ने बालक के माता-पिता की याद फिर ताज़ा कर दी थी। वे तो पढ़ाई-लिखाई से नाता तोड़ ही चुके थे। माँ-बाप के रहते कुछ समय ही पढ़ाई कर पाए थे दोनों।

कुछ समय तक तो स्कूल ने फीस से राहत दी लेकिन जब बाद में फीस के लिए कहा जाने लगा तो दोनों ने स्कूल का बस्ता झोपड़ी के कोने में रख कबाड़ बीनना शुरू कर दिया। बूढ़ी नानी खुद सक्षम नहीं थीं कि फीस भर पातीं, सो वह चाहकर भी बच्चों को स्कूल भेजने की हिम्मत न जुटा पाईं।

अब चूँकि झुग्गी बस्ती में सभी का जीवन अभावग्रस्त और घर धन-धान्य से रीता था, सो कौन बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की फिक्र करता और क्यों करता? झुग्गी बस्ती के अधिकांश पुरुष कबाड़ बीनने, बारातों, विवाहघरों में लाइटें ढोने, जूठे बरतन धोने, बारात की रेहड़ी धकेलने या बेगारी में लगे थे। कुछेक औरतें, बच्चियाँ ऐसे कामों के लिए बुलाए जाते थे जिनमें पैसा तिनका भर और डाँट-मार टोकरी भर होती। कभी बचा-खुचा खाने को ज़रूर मिल जाता, साथ में पुराने-धुराने कपड़े भी।

ऐसा नहीं कि इस झुग्गी बस्ती में अशिक्षा, अभाव, बेकारी से जिम्मेदार लोग वाकिफ न हों, लेकिन सभी इनकी बदहाली को जानबूझकर अनदेखा कर देते। झुग्गी के गरीबों, बीमारों के लिए किसी का भी हृदय न पसीजता था। हालात के मारे बच्चों

की भूख-आह महसूस करने वाली मदर टेरेसा या चुपचाप गरीबों की भरपूर मदद करने वाले संत निकोलस सी एक भी सूरत झुग्गी बस्ती के कंगालों को दिखाई न देती।

होता ये कि स्कूल चलो अभियान की रैली, पोस्टर-बैनर लहराते हुए झुग्गियों के सामने से गुजर जाती। रैली में नारे लगाते सरकारी अफसर, शिक्षक, समाजसेवी झुग्गियों से झाँकते बच्चों को देखते और मुँह फेरकर फिर नारेबाजी में जुट जाते। कभी निकट का कोई जागरूक व्यक्ति या मीडियाकर्मी रैली के शिक्षकों से झुग्गी के बच्चों की उपेक्षा का सवाल करता तो एक रटा-रटाया जुमला शिक्षक बोल देता-अरे, ये गंदी बस्ती वाले कभी नहीं सुधरने वाले, इन्हें नशा, जुआ, अय्याशी से फुर्सत मिले तब तो पढ़ाएँ बच्चों को, देखिए खुद कबाड़ी और बच्चों को भी कबाड़ी बनाने पर तुले हैं। किसी को पढ़ने-पढ़ाने में कोई रुचि नहीं साहब। सारे जतन करके देख लिए, कोई नहीं पढ़ता। इन्हें इनके हाल पर छोड़ दें तो अच्छा है।

जबकि सच तो ये है कि झुग्गी बस्ती के अंदर कभी स्कूल चलो अभियान के सदस्य नहीं पहुँचते। निजी स्कूलों को झुग्गी के बच्चों से कोई सरोकार नहीं रहता, सरकारी स्कूलों की टीमें भी सरकारी मंसूबे पूरे करने की चिंता लिए झुग्गी के दरवाजे शिक्षा की पुकार न लगाती। मीडिया में गरीब अभावग्रस्त बच्चों की ही बेहतर शिक्षा की तमाम घोषणाएँ, गूँजती दिखाई देतीं किन्तु शिक्षा को स्वार्थ और सिर्फ नौकरी माननेवाले वेतनभोगियों की दृष्टि में झुग्गी का अंधकार, अशिक्षा कभी न आता।

सुबह की प्रार्थना में स्कूल से 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का मंत्र ज़रूर गूँजता लेकिन यह मंत्र झुग्गी बस्ती के बच्चों को शिक्षा का प्रकाश न दे पाता। बस्ती के बच्चों को शिक्षा का बुनियादी अधिकार बताने वाला कोई न था। यदा-कदा त्यौहारों, पर्वों, अगस्त, जनवरी, अक्टूबर में समाजसेवी आते, झुग्गियों में फल, मिठाई, वस्त्र बाँटकर जो गायब होते तो फिर वर्ष भर न दिखाई देते। 'हर डूबनेवाले पे साहिल के तमाशाई, अफसोस तो करते हैं इमदाद नहीं करते' किसी शायर का यह शेर इन समाजसेवियों पर सटीक बैठता है। कीमती गहनों, आधुनिक परिधानों से सजी सँवरी महिलाएँ झोपड़ियों के नंग-धड़ंग बच्चों को बैठाकार इनके साथ फोटो तो खूब खिंचवातीं लेकिन इन बच्चों को स्कूल ड्रेस, बस्ता देकर स्कूलों में दाखिला करवाने वाली कोई देवी समाज सेविकाओं की भीड़ से न निकलती।

खुद सरकारी स्कूल में पढ़ा रही नीलम को क्या कुछ मालूम नहीं था। सत्तर साल पुराने सरकारी स्कूल की टपकती छत, उखड़ा प्लास्टर, अँधेरे कमरों में पढ़ते बच्चे, बीच सत्र में आ पातीं आधी-अधूरी किताबें, भ्रष्ट अफसरों, नेताओं के खातों में जमा होता शिक्षा घोटालों का धन, नीलम सारी तस्वीर से परिचित है लेकिन क्या करे। वह चाहे भी तो कुछ नहीं कर पाती। अफसरों के सामने जायज आवाज उठाने का परिणाम वह देख चुकी है। विद्यालय के निकट शराब की अवैध दुकान का विरोध करनेवाली इसी स्कूल की शिक्षिका दामिनी का शिकायती पत्र फाड़कर फेंकते हुए शिक्षा अधिकारी ने शिक्षिका पर नेतागिरी का आरोप लगाकार ऑफिस से बाहर कर दिया था। शराब दुकान के विरुद्ध तुरंत एक्शन की आस लिए ऑफिस पहुँची दामिनी की चेतावनी सुनने को मिली थी।

'आप पढ़ाई पर ध्यान नहीं देतीं, शराब की दुकान, टूटी दीवार, सूखते पेड़, बाथरूम का अँधेरा, गंदगी के सिवा कुछ और दिखता है आपको। सरकार ने आपको किसलिए रखा है, पढ़ाने के लिए न? आपको दूसरी चीज़ों से क्या लेना-देना। शराब की दुकान सरकारी है, डी.एम. के आदेश पर उठा है ठेका। आप कौन होती हैं सरकारी आदेश पर सवाल उठाने वाली?'

'लेकिन सर! शराब का ठेका, स्कूल के ठीक पास में है, यह कानूनन गलत . . .

इसके पहले की दामिनी कुछ और बोल पाती अधिकारी ने बुरी तरह डपट दिया था उसे -

सुनो दामिनी तुम्हें नौकरी करना है या नहीं, बता दो'। अफसर आप से तुम पर आ गया था। 'शराब से सरकारी खजाने को भारी राजस्व मिलता है, शराब की दुकान न मैं हटवा सकता हूँ और न तुम। हाँ तुम्हारे साथ मेरी भी नौकरी जाना पक्का है। जानती हो ठेका पार्टी के नगर अध्यक्ष के भतीजे का है। जाओ, चुपचाप पढ़ाओ, और फिर कभी ऐसी फिजूल समस्याएँ लेकर यहाँ मत आना, समझ गई न?'

अपने ही अफसर से निराश और अपमानित दामिनी ने घर

लौटकर नौकरी से इस्तीफा दे दिया था और घर में ही बुटिक खोलकर बैठ गई थी, और उस दिन देश की ही एक पूर्व मुख्यमंत्री द्वारा राजधानी में शराब की दुकान पर पत्थर और कीचड़ फेंककर शराब के खिलाफ मुहिम शुरू करने की खबर अखबार में पढ़कर दामिनी ने हवा में मुट्ठी लहराई थी–शराब की सत्ता को सत्ता की ही एक नारी ने खुली चुनौती दे डाली है। दुष्यंत का कहा सच होकर रहेगा एक पत्थर तो तबियत से उछालो यारो; लो उछल गया पत्थर।'

'मैम जी, रजिस्टर में हमारा नाम लिख लीजिए, हम बगैर कुछ खाए स्कूल आए हैं। नानी नाश्ता बनाकर इंतज़ार कर रही होंगी। एक रोशनी संस्था वाले भइया आए थे। खाने का सामान दे गये थे। बस्ता, कॉपी, किताब, टिफिन, कपड़े, जूते सब दे गए हैं। उन्हीं भइया के दिए गए। सामान का नाश्ता आज नानी ने बनाया है। रोज तो हम मजार के लंगर पर जाकर खाते हैं। संस्था वाले भइया हमें स्कूल के गेट तक छोड़ गए थे। अभी ज़रूरी काम से अस्पताल गए हैं, आपके पास आएँगे।' झुग्गी के लाल की नम आँखें अब चमक उठी थीं। नीलम के प्यार भरे शब्दों ने उसको हिम्मत दी थी।

'हाँ, उनका फोन आया था कुछ देर पहले। चलो कोई तो है जो अँधेरा दूर करने तुम्हारे घरों तक पहुँचा है। जाओ, पहले जाकर पानी पी लो, प्यासे होगे तुम दोनों, फिर नाम लिंख लूँगी।' नीलम की आँखों की दया, ममता झुग्गी के बच्चों पर बरस रही थी। नंगे पैर स्कूल आए दोनों बच्चे पानी भरे घड़े की ओर जा रहे थे। नीलम को रोशनी की दो किरणें चमकती दीख रही थीं। शिक्षा की उम्मीद, उम्मीद रोशनी की?

द्वारा श्री एन.डी. जोशी (मास्टर जी),
म.नं. 1292, ट्यूबवैल रोड,
खाती बाबा, झाँसी-284003 (उ.प्र.)
मो.- 9453622701

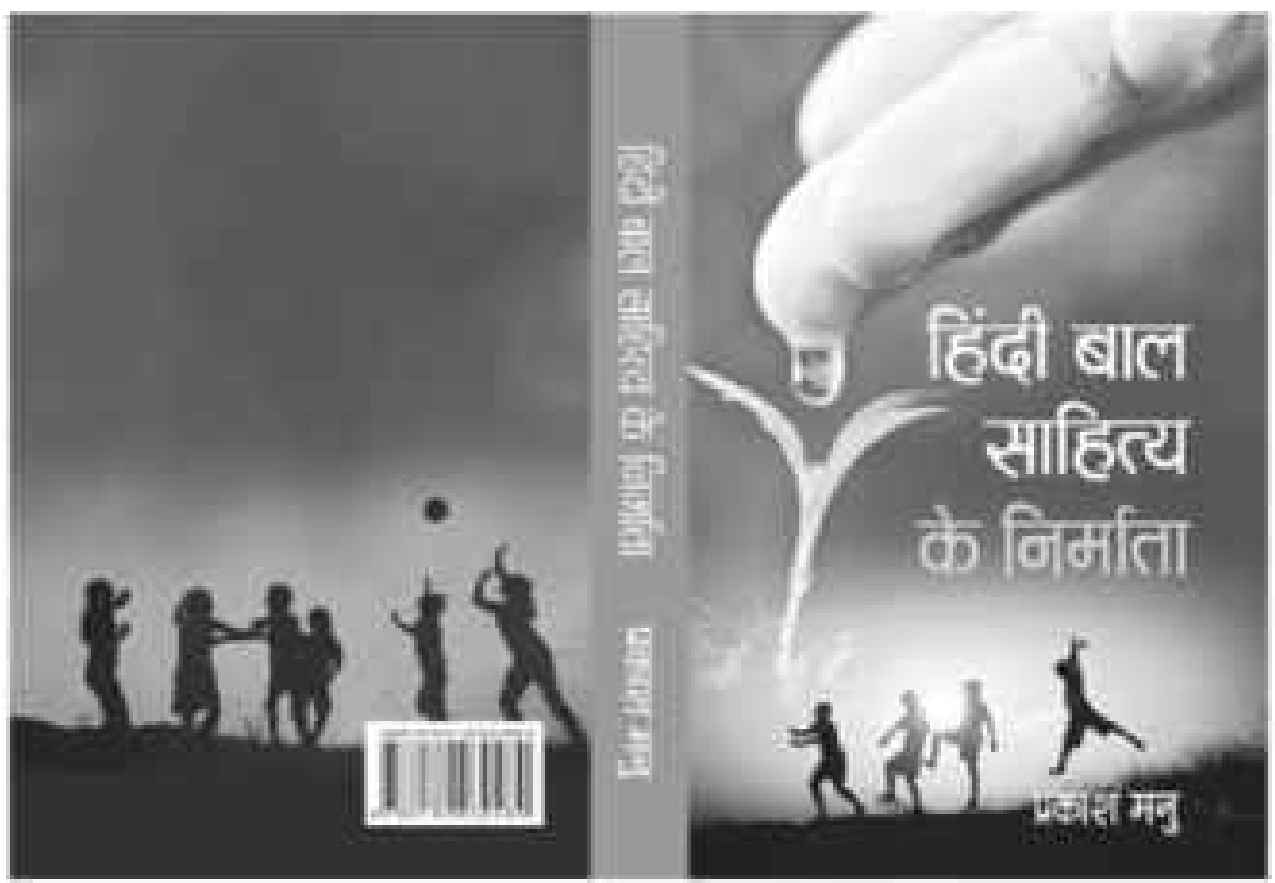

यादों की देहरी

– रंजना जायसवाल

जन्म – 18 मार्च 1976।
शिक्षा – एम.ए., पीएच.डी।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।
सम्मान – भारत उत्थान न्यास सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित।

ट्रेन अपनी मंज़िल मतलब स्टेशन पर पहुँचने को थी पर पटरियाँ तब भी न जाने किस मंजिल की तलाश में आगे बढ़ गई थीं। कभी-कभी जिंदगी भी रेल की पटरियों की तरह ही लगती है। एक-दूसरे को काटती आगे न जाने किस मंज़िल की तलाश में आगे ही आगे बढ़ती जाती हैं। इंसान ने हमेशा मान रखा है जिंदगी के सफर का और शिकायतें होते हुए भी आगे बढ़ता रहा है।

अनन्या ने खिड़की से झाँक कर देखा। ट्रेन प्लेटफार्म पर लग गई थी।वैसे तो वो हमेशा ए सी कोच से चलना ही पसन्द करती थी, भीड़-भाड़ से बच जाती थी पर भीड़ तो अब उसमें भी होने लगी थी पर स्लीपर कोच की अपेक्षा लोग थोड़ा कायदे के ही चढ़ते थे। सच पूछो तो माँ ने ही स्लीपर कोच से चलने की जिद्द की थी। जो माँ ए सी कोच में बैठते ही पर्दे खींच आँखें बंद कर शांति से बैठ जाती थीं। आज उसकी नजरें स्लीपर कोच की खिड़की से चिपकी हुई थीं।

अनन्या का इस रूट पर पहली बार आना हुआ था पर माँ! माँ को भी तो कभी जिक्र करते नहीं सुना था। पापा को इस दुनिया से गए तेरह दिन हो गए थे। पंडित जी ने कहा था पग फेरे के लिए माँ को मायके ले जाओ। अनन्या की दुनिया बहुत छोटी थी, इतनी छोटी कि बस जब से इस दुनिया में आँखें खोली थीं तब से रिश्तों के नाम पर माँ-पापा को ही जाना था। पड़ोसियों और पापा के ऑफिस के अलावा अनन्या की दो-चार दोस्तों के अलावा किसी को आते-जाते नहीं देखा था।

माँ की आँखें रास्ते में पड़ते शहर और गाँवों को देख कभी खिल जातीं तो कभी दर्द से भर जाती। माँ के दर्द की लहरें उसके मन से बार-बार टकरा रही थी। पता नहीं वह चाहकर भी माँ से कुछ बोल नहीं पाई थी।

कभी-कभी कुछ चेहरों को पढ़ना कितना आसान होता है बिल्कुल खुली किताब। माँ भी बिल्कुल वैसी ही थी पर आज वह न माँ को पढ़ पा रही थी और न समझ पा रही थी। उसने नज़र घुमा ली, जहाँ अर्थ न समझ आए वहाँ पर शब्द क्या जाया करना।

यात्री धीरे-धीरे गेट की ओर बढ़ रहे थे। कोच में अब सिर्फ़ दो लोग बाकी थे। अनन्या ने धीरे-धीरे करके सामान ट्रेन के गेट तक पहुँचा दिया। माँ वैसे ही बैठी हुई थीं, अनन्या ने धीरे से माँ के कंधे पर हाथ रखा।

'माँ! स्टेशन आ गया।'

होशियारपुर, माँ के होंठ धीरे से हिले। पीले रंग के बोर्ड पर हिंदी, अंग्रेजी और उर्दू में काले रंग के अक्षरों से लिखा नाम दूर से चमक रहा था। उस नाम को पढ़कर एक पल को माँ के चेहरे पर चमक आई और लालटेन की उस आखिरी लौ की तरह बुत गई जो अपने पीछे बहुत सारी कालिख छोड़ जाती है। यह शहर भी तो माँ के जीवन में बहुत सारी यादों की कालिख छोड़ गया था। अनन्या ने प्लेटफार्म पर एक भरपूर नजर डाली। शायद कोई कुली नजर आ जाए।

'अनु! यहाँ कुली नहीं मिलेगा।'

माँ ने धीरे से फुसफुसाया, इस पूरी यात्रा के दौरान माँ ने पहली

बार कुछ बोला था। अनन्या ने माँ की ओर पलट कर देखा, चेहरे पर थकान थी। शायद ये सफर की नहीं जिंदगी से जूझती एक औरत, एक लड़की की थी। माँ बोझिल कदमों से आगे बढ़ी, उनका एक-एक कदम भारी पड़ रहा था। मानो वह मीलों का सफर तय करके आई हों। माँ ने प्लेटफार्म पर भरपूर नजर डाली। उनकी आँखें कुछ ढूँढ़ रही थीं जो शायद वर्षों पहले कहीं पीछे छूट गया था। शायद वह वक्त था क्योंकि यादें तो फिर भी समेट ली जाती है पर वक्त मुट्ठी में बंद रेत की तरह सरकता ही चला जाता है। वक्त के साथ सब कुछ गुजर जाता है पर भुला भी दिया गया हो ये जरूरी तो नहीं!

माँ ने पापा से प्रेम विवाह किया था, कई बार पापा के मुँह से सुना था। काफी हो-हल्ला भी हुआ था, माँ के पिता जी यानी अनन्या के नाना जी गाँव के सम्भ्रांत आदमी थे। आस-पास के गाँव में उनकी बड़ी इज्जत थी। माँ उनका गुरूर थीं पर गाँव और परिवार के खिलाफ जाकर उन्होंने अपनी बेटी को शहर पढ़ने भेजा था। माँ-पापा के प्रेम में ऐसे पड़ीं कि न पिता की इज्जत दिखाई दी और न उनका प्रेम नाना जी ने उन्हें कभी माफ नहीं किया। पापा के जिंदा रहते वो कभी अपने मायके नहीं आ पाईं। जिन आँखों में प्रेम का सागर हिलोरें मारता था, आज उन आँखों में उग आए प्रश्नों का सामना वह कैसे करेंगी। दिल में एक अजीब सी मरोड़ उठ रही थी।

'कहाँ जाना है बिटिया?'

सिर पर गमछा, मटमैली सी शर्ट पहने एक अधेड़ व्यक्ति ने हमें देखकर कहा, अनन्या कुछ कहना चाहती थी पर उससे पहले माँ ही बोल पड़ी।

'बड़ी हवेली चलोगे भैया, बड़े ठाकुर साहब के घर जिनके यहाँ बड़ा सा पीपल का पेड़ है। उसके चारों ओर ईंटों की जगत, बायीं तरफ गौशाला और हवेली के दाहिने दरवाजे पर हैंडपम्प है।'

माँ दूसरी ही दुनिया में थी और अनन्या सोच रही थी अच्छा हुआ माँ ने बोल दिया आख़िर वह रिक्शे वाले से क्या कहती कि उन्हें कहाँ जाना है। सफर में चलने से पहले उसने पते के बारे में तो सोचा भी नहीं था जो न जाने कहाँ लापता था।

'ठाकुर बलदेव सिंह के यहाँ जाना है?'

माँ ने सपाट स्वर में कहा।

'जी!'

पता नहीं उस आवाज़ में ऐसा क्या था, अनन्या बहुत देर तक उसके मर्म को समझने का प्रयत्न करती रही। रिक्शेवाले ने सामान रिक्शे के पीछे वाले हिस्से में जमा दिया और बैठने का इशारा किया।

'पचास रुपये लगेंगे!'

'ठीक है चलो। भइया जरा पर्दा खींच दो।'

'माँ! इतनी अच्छी धूप हो रही है, जाने दो नकौन सा गर्मी लग रही।'

अनन्या ने ठंड से अकड़ती अपनी अँगुलियों को तेजी से आपस में रगड़ा और जैकेट की दोनों जेबों में छुपा लिया।

'बिटिया आगे बड़ी ढाल है, पर्दा लगाने से हवा कटती है। रिक्शा चलाने में बड़ी ताकत लगती है।'

माँ ने चुपचाप गुलाबी रंग की छींटदार साड़ी के आँचल को खींचकर सिर ढक लिया। शायद आज माँ अपनी परछाईं से भी डर रही थीं। शायद माँ नहीं चाहती थीं कि कोई उन्हें पहचाने। अनन्या उस साड़ी से झाँकती माँ के चेहरे को पढ़ने की कोशिश कर रही थी, माँ ने आँखें बंद कर लीं और एक गहरी साँस ली। वे समेट लेना चाहती थीं उस खुशबू को जिससे वे वर्षों बाद मिल रही थीं।

'अनु देख मेरा स्कूल?'

माँ ने धीरे से कहा, शायद स्कूल की छुट्टी हो गई थी। माँ उन बच्चों में अपना बचपन ढूँढ़ रही थीं।

'अनु देख वो कुआँ गाँव के लोग इसी से पानी भरते हैं।'

'बिटिया लगता है वर्षों बाद आ रही हो, ये कुआँ कब का सूख गया है। हर घर में नल लगा है, अब कोई कुँए का पानी नहीं पीता।'

रिक्शेवाले ने पूरी ताकत से पैडल मारते हुए कहा।

'बाबा यहाँ कुँए के पास एक मिठाई की दुकान हुआ करती थी वो?'

'वो राम दुलारे चलाता था, कुछ साल पहले पीलिया हो गया। बेचारा भगवान के घर चला गया।'

'ठाकुर बलदेव सिंह के घर उन्हीं के यहाँ से मिठाई जाती थी न'

माँ ने बुदबुदाया।

'ठीक कह रही हो, सुना था उनकी बिटिया को मिठाई बहुत पसंद थी। उसने शहर में किसी से प्रेम-विवाह कर लिया था। सुना था ठाकुर साहब जब तक जीते रहे, उन्होंने मिठाई को हाथ भी नहीं लगाया।'

सीट के दोनों तरफ मछली के आकार की पकड़ अचानक से माँ के हाथ से छूट गई, उनका शरीर काँप गया और चेहरा सफेद पड़ गया। आँखों से गंगा-जमुना बह चली। माँ की ख्वाबों की दुनिया आज पूरी तरह उजड़ चुकी थी। छूट तो बहुत पहले गया था पर शायद आज टूट भी गया। शायद उम्मीद का रिश्ता!

'लो बिटिया आ गई ठाकुर साहब की हवेली।'

सफेद चूने से पुती हवेली अपनी गरिमामय अतीत के प्रतीक के रूप में सिर उठाए खड़ी थी।

'भइया जाना नहीं, हम अभी आते हैं।'

माँ बदहवास सी आगे बढ़ती चली गईं। दीवारों पर जगह-जगह काई जम गई थी। झोपड़ीनुमा खंभे के बाईं तरफ सफेद रंग के संगमरमर के पत्थर पर ठाकुर बलदेव सिंह और दाहिने खंभे पर विद्या निवास लिखा था। माँ की आँखों से आँसू झर रहे थे। माँ ने आँसुओं को आँचल में समेट लिया और आँचल के उसी कोर से वक्त के कठोर प्रहार से मटमैले हो चुके पत्थर को साफ करने लगीं। पता नहीं क्यों एक पल के लिए अनन्या को ऐसा लगा मानो माँ अपनी गलतियों या समाज की नजर में अपने किए गए पाप को आँसुओं से धुल रही हों।

'अनु! विद्या मेरी परदादी का नाम था। बाबूजी ने जयपुर से पत्थर मँगवाया था।'

दोनों खंभों के सहारे लकड़ी के दो पल्ले का एक विशालकाय गेट लगा हुआ था जो अपने खूबसूरत अतीत का पर्याय बना हुआ था। अनन्या सोच रही, गाँव और शहरों में कितना फर्क है। गाँवों में दरवाज़े भी दो पल्ले के होते हैं जो साहचर्य का प्रतीक होते हैं, शहरों में सब कुछ होते भी इंसान की तरह दरवाज़े भी अकेले ही होते हैं। लकड़ी का दरवाजा वजन से लटक गया था और नीचे का हिस्सा दीमक ने जगह-जगह से खा लिया था। माँ ने बड़े भारी मन से दरवाज़े को खोला। बाईं तरफ एक विशाल बगीचा था जिसमें असंख्य खर-पतवार ने अपना ठिकाना बना लिया था। बगीचे के बीचों-बीच नीम के पेड़ से लटका लकड़ी के पटरे का एक झूला था जिसकी रस्सी का एक हिस्सा वक्त के झोंके के साथ टूट गया था जमीन पर लोट रहा था। अनन्या सोच रही थी झूला तो उसके घर में भी बालकनी में रखा हुआ था पर माँ को कभी उस पर बैठते नहीं देखा था। एक बार उसने जिद् भी की थी तब माँ ने कहा था, 'ये भी कोई झूला है जिसमें बैठे-बैठे हिलते रहो। झूला तो ऐसा हो कि पेंग मारो तो पैर जमीन पर सिर आसमान में रहे।'

आसमान के सपने देखने वाली माँ को जमीन कहा समझ

आती। माँ के चेहरे पर एक पल को मुस्कान बिखर गई, एक पल को लगा मानो अतीत का एक सुखद पन्ना खुलकर सामने खिल-खिला रहा था शायद उनके बचपन की तरह पूरा परिसर धूल, सूखी पत्तियों और झाड़-झंखाड़ से भरा हुआ था। दाहिनी ओर गोल चबूतरे के बीचों-बीच एक हैंडपंप लगा हुआ था। माँ ने कास्ट आयरन के हैंडपंप को चलाकर पानी खींचने का प्रयास किया पर शायद वक्त के साथ उसका पानी भी रसातल में चला गया था। हैंडपंप की बगल में लगा कनेर का पेड़ अपने जीवनदायक की मृत्यु के बाद दु:ख से ठूँठ हो गया था।

शायद माँ को पूर्वाभास था क्योंकि पापा की मृत्यु के बाद आते-जाते लोगों के मुँह से अस्फुट स्वर में उसने कई बार सुना था, परिवार से कोई नहीं आया। किसी को कहते हुए सुना था, पापा तो अनाथ थे और माँ के लिए परिवार और परिवार के लिए माँ जीते जी मर चुकी थी।

जब तक यह जीवन है शरीर में साँसें हैं। सुख और दुख बराबर मिलता रहेगा। जीवन में कुछ घटनाएँ होती हैं, सुख हमेशा खुशी देता है, उल्लास देता है और दुख असमय और अचानक होता है, कुछ दुर्घटनाएँ होती हैं। दुर्घटनाएँ हमेशा दुखद होती हैं, मन में दर्द पैदा करती हैं। लेकिन कुछ लोगों को ऐसे श्राप भी मिले होते हैं जिन्हें उन दुर्घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है और यह पूर्वाभास उन्हें तब तक सोने नहीं देता जब तक वे घटनाएँ हो नहीं जाती।

इन तेरह दिनों में माँ को रात-रात भर जागते देखा था उसने। माँ कभी फफक-फफक कर रो पड़तीं तो कभी बेचैनी से पसीने-पसीने हो जातीं। आज समझ में आ रहा था यह दुख, यह बेचैनी सिर्फ़ पापा का हमें यूँ अकेला छोड़ जाने की वजह से नहीं था। माँ को आभास था, इंसान एक मानसिक संत्रास, एक दीर्घ सफर से तब तक गुजरता रहता है जब तक वह दुर्घटना उनके सामने किसी न किसी रूप में आकर खड़ी नहीं हो जाती है। माँ का वह डर, वह पीड़ा आज उनके सामने खड़ी थी। शायद माँ ने भी कभी यह नहीं सोचा होगा कि उनके एक निर्णय से उन्होंने अपनी दुनिया कहीं न कहीं बसा भी ली थी और शायद उजाड़ भी!

घर के मुख्य द्वार पर सागौन के नक्काशीदार दरवाजे पर एक बड़ा सा ताला लगा हुआ था। ठकुराइन की मृत्यु बहुत पहले हो चुकी थी और बेटी के उठाए कदम ने ठाकुर साहब की परवरिश पर सवाल उठा दिए थे। गुड़ी-मुड़ी सी जिंदगी पाँव पसारने को तैयार थी पर वक्त ने मौका ही नहीं दिया। घर में दीया-बाती करने वाला भी कोई न रहा माँ के आँचल में बँधा यादों का पिटारा पिता की देहरी पर झर-झरा कर खुल गया।

माँ जार-जार रो रही थी, वक्त ने रिश्तों को बर्फ कर दिया था। आज सिर्फ़ दरवाज़े पर ताला नहीं लगा था, माँ की उम्मीद और सपनों पर भी हमेशा के लिए ताला लग गया था। एक ख्वाब था जो आँसुओं में बह गया था और माँ का दिल पहले से ज्यादा अकेला रह गया था। आँसुओं से धुला चेहरा पहले से ज्यादा सपाट और भावहीन था।

लाल बाग कॉलोनी
छोटी बसही, मिर्जापुर-231001 (उ.प्र.)
मो.-9415479796

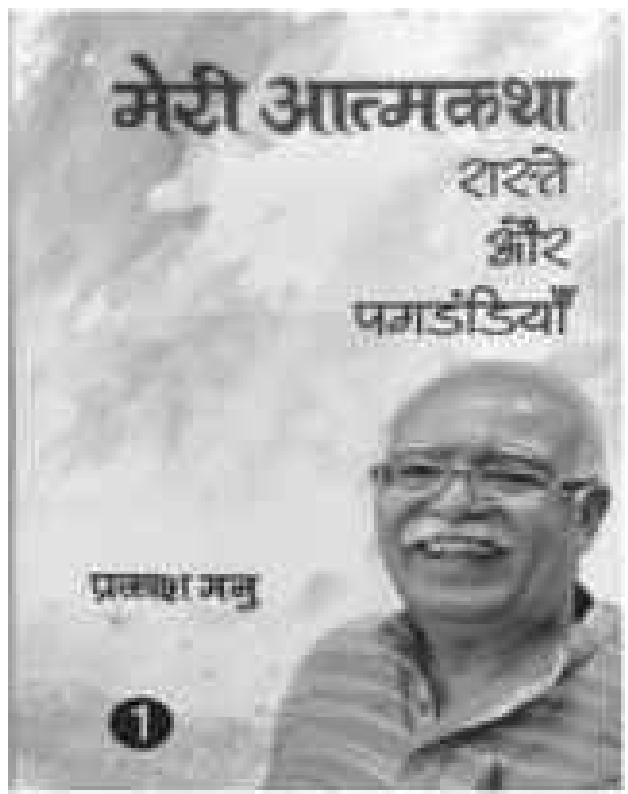

मंगतू की बकरियाँ

- संदीप शर्मा

जन्म – 25 अगस्त 1976।

शिक्षा – एम.बी.ए., पीएच.डी.।

रचनाएँ – चार पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान – कमलेश्वर स्मृति पुरस्कार।

मंगतू सुबह-सुबह बकरियों को बाँधने वाली जगह से काँटों को साफ कर रहा है। ये खैर के पेड़ों के काँटे हैं, जो बकरियों ने खैर की टहनियों से पत्तों को खाकर छोड़ दिए थे। मंगतू कोई पुराना पहाड़ी लोकगीत गुनगुना रहा है, 'भला सिपाहिया डोगरिया हो होरसलिया रसलिया धारा मिंजो बड़ा मंदा लगदा।' तभी गाँव की मैहरनी मंगतू के छप्पर के सामने की पगडंडी से निकली। उसकी नई नवेली बहू उसके पीछे-पीछे चल रही थी। मंगतू एकदम उठ खड़ा हुआ और मैहरनी को देखते ही बोला, 'पैरी पैणा करदा हाँ मैहरनी जी! कुताहं जो चली पए मैहरनी जी सवेरे-सवेरे?' मैहरनी जाते-जाते बोल पड़ी, 'ओ मंगतुआ! अजकल तेरे छप्पर में खैरों के बड़े मोटे-मोटे लकड़ू कट्ठे होणे लगी पए हैं, मोया! कहाँ से ला रहा है खैर काटकर?'

मंगतू ने झट से जवाब दे दिया, 'बस मैहरनिए, रोज ले आता हूँ धार से। 'मैहरनी थोड़ा गुस्से से बाली, 'मोया देखना! किसी दिन हथे मत आ जाणा, नहीं ताँ, तेरी बकरियाँ तेरे को रोएँगी, ओए मंगतूआ!' मंगतू कहाँ चुप रहता, 'बस मैहरनी जी, आप की दुआ रही, तो फिर मुझे कौन पकड़ सकता है?' मैहरनी मुस्कुरा दी और निकल गई। उसकी बहू घूँघट में क्या कर रही थी? किसे पता! मंगतू को मालूम है कि मैहरनी की नज़र बड़ी पैनी है। मैहरनी उस पर ज़रूर नज़र रखेगी और किसी दिन उसको खैर पर चढ़े हुए ही धर दबोचेगी। मैहरनी का दिल है तो बहुत अच्छा, पर अपनी ज़मीन से किसी चीज़ की चोरी उसे बर्दाश्त नहीं। गालियाँ फिर वह पूरे गाँव को सुनाती है। कोई न कोई उसके हत्थे चढ़ता ही रहता है, कभी -कभार। मंगतू फिर बकरियों को बाहर बाँधने लगा। उसकी बड़ी बकरी 'शम्मो' गर्भवती है। इस बार भी दो छेलू देगी, वो पंडित से भी पूछ आया था। सर्दियों के मौसम में लोग घास काटकर सुखा कर छप्परों में भर लेते हैं, बकरियाँ सूखा घास खाती नहीं और पेड़ों की हरी टहनियों के पत्ते कहीं भी बकरियों को मिलते नहीं।

बस खैरों की टहनियों के छोटे पत्ते ही बड़े चाव से खाती हैं। बेर के पेड़ की टहनियाँ अब कम ही बची हैं, और इन्हें काट कर लाना बड़ा मुश्किल है, पर इन पत्तों को भी बड़े मज़े से खाती हैं। हैं तो बकरिया, पर मंगतू ने उनके शौक बदल दिए हैं-खाने -पीने के। 'सोनू-मोनू' शम्मो बकरी के छेलू हैं। दो साल के होने वाले हैं। दूर-दूर से कसाई इन छेलुओं के पीछे पड़े हैं, पर मंगतू इन्हें 200-200 रुपये में बेचने पर अड़ा हुआ है। क्या छेलू हैं! लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ, पट्ठे हैं, पट्ठे! जब दोनों कहीं इकट्ठे निकलें तो ऐसे लगते हैं जैसे दो छोटे बैल चले आ रहे हैं।

मंगतू को इन्हें देखते ही सनक सवार हो जाती है। मंगतू ने दो साल पहले भी शम्मो के दो छेलू 100-100 रुपये में बेचे थे। भोलू और रोलू नाम थे उनके। उस साल वह उन्हें मेले में ले गया था। कई कसाइयों ने बोली लगाई थी। उस दिन मंगतू अपने आपको शहंशाह समझ रहा था। वह अपने आपको दुनिया का सबसे अमीर आदमी समझ रहा था। लम्बरदार के लड़के की उस महीने शादी थी, इसलिए लम्बरदार ही खरीद कर ले गया था भोलू और रोलू को। मंगतू को हमेशा यही दुख रहता है कि वह छेलुओं को अपने बच्चों की तरह पालता है। उनके नाम रखता है। उन्हें जी भर कर खिलाता है और फिर आखिर में उसे अपने ये बच्चे पैसों की खातिर बेच देने पड़ते हैं, पर वह और क्या करे? इन छेलुओं को बेचकर कुछ कमाई का लालच उसे ज़िंदगी में एक नई आस देता रहता है, और उसके इन छेलुओं की वजह से उसकी पहचान भी तो बन गई है, इलाके में। रही बात इधर-उधर से खैरों की टहनियों की चोरी की तो, अगर चोरी न भी करे तो खिलाएगा क्या इन्हें? ये बेचारे तो उसके लिए मरने को भी तैयार हैं, तो फिर वह क्यों कोई कसर छोड़े इनकी खुराक में। मैहरनी को क्या पता? खैरों को छाँगने से खैर और भी मोटे हो जाते हैं और अच्छी कीमत पर बिकते हैं।

रोज की तरह आज सुबह भी मंगतू तड़के ही उठ गया। पाँवों में चमड़े की पोलड़ियाँ; (जूते) डालीं, काला फौजी कम्बल ओढ़ा जो उसको किसी फौजी ने दिया था, हाथ में दराट उठाया और चल पड़ा उस टीले की ओर जिस पर मैहरों का अच्छा खासा खैरों का जंगल है। उस जंगल के साथ ही मंगतू के दो-तीन खेत हैं, बिन जोते और दस-बारह खैरों के पेड़ भी, पर कोई भी दो फुट से मोटा न होगा। एक-दो खैर हैं मोटे, पर वह उन्हें पहले ही छाँग चुका है। सुबह मैहरनी कहाँ आएगी इतनी दूर, इसलिए जंगल-पानी के बाद बिस्करमा का नाम लेकर चढ़ गया, सबसे मोटे खैर पर। छाँगता गया छाँगता गया। नीचे काफी ढेर लग गया था टहनियों का। उसे कोई दुख नहीं है चोरी का। उसे उसके बापू ने बताया था कि इन मैहरों ने उसके दादा से बहुत से खेत अपने नाम करवा लिए थे। जब दादा मैहरों से लिया कर्ज नहीं उतार पाया था।

यह तो अब मंगतू ही जाने कि वह कैसे खैर के पेड़ पर पौलड़ियाँ पहने चढ़ता है, क्योंकि हर टहनी काँटों से भरी होती है और कहीं एक टहनी भी कपड़ों या शरीर से उलझ गई तो फिर नानी याद आ जाती है। मंगतू का फौजी कम्बल अब तक लड़ता आया है, इन काँटों भरी टहनियों से, मैहर ने ही दिया था अपने फौजी बेटे का कंबल। मंगतू की अपनी कोई दस कनाल ज़मीन है, जिसमें 5.6 कनाल तो बंजर पड़ी है और दो-तीन खेत हैं, जिन्हें वह कभी-कभार ही जोतता है। जोतने का फायदा भी क्या? गाँव के कोने पर है ये खेत, सब-कुछ तो सुअर, सैल व गीदड़ ही खा जाते हैं। उधर मैहरों की ज़मीन में खैर, बांस, तुनी, चीड़ से भरी पड़ी है। मंगतू कभी-कभार इन वृक्षों पर हाथ चला ही लेता है। उसे मैहर का तो ज्यादा डर नहीं, पर मैहरनी ने कहीं पकड़ लिया तो फिर लम्बी व मोटी गालियाँ पूरे गाँव को सुनाएगी और साथ में उसे भी। वैसे तो पूरा गाँव ही कहीं न कहीं मैहरों की ज़मीन से कुछ न कुछ उड़ाता ही रहता है, मंगतू तो कभी-कभार ही। गाँव की रामो को वह सदा धार वाली ज़मीन से घास चुराते देखता है। थड़ी वाली माई तो मोटे वृक्षों को भी छाँग कर व काट कर ले जाती है।

मंगतू का दिल नहीं भरा। बड़ा मोटा खैर था। वह छाँगता रहा। कोई तीन मण का अच्छा खासा भारा बना है। उससे बड़ी मुश्किल से भारा उठाया गया। लम्बे पग तो भरता, पर तीन मण का भारा, टाँगें जवाब देने को हो गई हैं। उसे ऐसा महसूस हो रहा है कि जैसे वह दब रहा है एक-एक पाँव बड़ी मुश्किल से उठाया जा रहा था। गाँव के घर नज़र आए तो जान में जान आई। वैसे मंगतू है तो पुराना पट्ठा ही! गाँव में सबसे बड़ा पत्थर खड्डु से उठा कर लाने में उसका सानी अब तक कोई पैदा नहीं हो पाया है। कोई भार उठाने की बात करता, तो मंगतू का ही नाम सबसे पहले आता।

गाँव में सर्दियाँ खत्म होते ही जब गन्नों से गुड़ निकालने का काम शुरू होता, तो मंगतू को पहले से ही नयौता होता, मैहरों की ओर से। दस-बारह दिन पहले वह काँटेदार झाड़ियों को काटकर उन्हें बेलने के पास पहुँचा देता। बेलना शुरू हो जाता तो मंगतू झोंकी देने में लग जाता। बड़े कड़ाहे में गन्ने के रस को आग से पकाया जाता। तीन-तीन बैलों की जोड़ियाँ बारी-बारी गन्ने के बेलने को खींचती। कोई न कोई रस मुफ्त में पीने के चक्कर में बैलों को हाँकता रहता। एक आधा टीन गन्नों के रस निकलने तक बैलों को हाँकने के बाद एक-दो गिलास मिल जाते और गुड़ का बड़ा पेड़ा भी कभी-कभार, अगर मैहर वहाँ न हो तो, मैहर के आदमी तब दानवीर बन कर बड़ी आत्मिक खुशी प्राप्त करते रहते।

मंगतू भट्ठी में झाड़ियाँ डालता रहता। उसका शरीर आग से लाल हो जाता पर थकावट का कहीं नाम न होता। रोज सुबह मटका भर रस का पी जाता। मैहर हुक्का गुड़गुड़ाता रहता और मंद-मंद मुस्कुराता रहता। कोई आ जाता तो उसे काम पर लगा देता। लोगों का ताँता लगा रहता। बच्चे रस व गुड़ की शह में मँडराते रहते बेलने के आसपास। मंगतू गालियाँ बकता रहता उन्हें, 'पता नही कहाँ से साले मुफ्त का गुड़ चटकाने आ जाते हैं, बार-बार।' उन्हें क्या पता-गुड़ निकालने के लिए कितनी मेहनत होती है।

मैहर है तो अच्छा आदमी, पर पूरे गाँव की आधी से ज़्यादा ज़मीन उसके पास है। पाँच लड़के हैं उसके, एक पंजाब में कहीं खेती-बाड़ी विभाग में सरकारी नौकरी में लग गया है। मैहर ने खैर बेचकर उसका दाखिला करवाया था पंजाब में। बाकी लड़के भी अभी थोड़ा-बहुत पढ़ रहे हैं। दूसरे को फौजी भर्ती करवा दिया है। क्या ठाठ हैं उसके! गाँव वाले चाहे उससे कुछ भी माँगें, कभी न नहीं करता है, पर खेतों में फसल के वक्त चाहे दुगना काम करवा ले। कोई मर जाए तो मैहर के टेल्हे से ही पेड़ कटते हैं। किसी को घास चाहिए हो तो मैहर के टेल्हों से काट लो जी भर कर। शक्कर, गेहूँ, मक्की, सण और भी पता नहीं क्या-क्या? अब भला मैहर जो है गाँव का! मंगतू का मन करता कि वह भी इस जन्म ऐसे ही किसी गाँव का मैहर होता तो मैहर से ज्यादा बाँटता और सब उसे दुआएँ देते, पर एक बात है कि मैहर किसी गरीब की ज़मीन नहीं छोड़ता है, अपने नाम करवाने

से। कइयों के खेत उसके पास रेहन पड़े हैं और कई कर्जे में डूबे हैं। अगर उसके दादा से इस मैहर के बाप ने खेत अपने नाम नहीं करवाए होते तो वह भी इस वक्त छोटा-मोटा मैहर होता, पर छोटी जात वाले मैहर कैसे बन सकते हैं, यह सोचकर उसने सारे विचार मन से बाहर धकेल दिए और फिर चुपचाप पसीना पोंछकर झोंकी देने लग पड़ा। मंगतू का घर गाँव के कोने में है। घर क्या! घास से छाया हुआ छप्पर है! दो कमरों का छप्पर। चार-पाँच बकरियाँ एक कमरे में रहतीं। छेलू जब बड़े हो जाते तो बेच देता। लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि मंगतू के छप्पर में एक घड़ा पैसों से भरा दबा पड़ा है। पत्नी थी, पर वो भी बेचारी शादी के पाँच-छः साल बाद ही मर गई थी, उसका अभी कोई बच्चा भी नहीं हुआ था।

मंगतू ने दूसरी शादी के लिए बड़ी कोशिश की लेकिन उसकी बात न बनी। कई बार दूर गाँवों से लोग उसकी जायदाद देखने आए भी, पर उसका छप्पर देखकर और कुछ खेतों को देखकर फिर कभी वापिस नहीं आए। बस मंगतू ने इन्ही भेड़-बकरियों को पालकर ज़िंदगी गुजार दी। मंगतू आज सुबह फिर रोज की तरह तड़के ही उठ गया। सर्दी या गर्मी हो उसे कोई फर्क नही पड़ता। चारों ओर खेतों में पाला पड़ा हुआ है, कहीं-कहीं पाला जमकर सफेद बर्फ जैसा बन गया था। मंगतू फिर से मैहरों के खैरों पर हाथ साफ़ करना चाहता है। वह जैसे जी चलने को हुआ, एक गीदड़ पास के खेत से हुंकार दिया। मंगतू ने बकरियों के कमरे वाले दरवाजे की चिटकनी अच्छी तरह लगा दी। इन गीदड़ों का कोई भरोसा नहीं। मंगतू ने एक बड़े खैर को अपना निशाना बनाया। कोई 15-20 फुट ऊपर चढ़ कर वह टहनियों को जल्दी-जल्दी छाँगने लगा। मंगतू एक टहनी से अभी दूसरी टहनी पर पाँव टिकाने वाला था कि गीदड़ों की हुंकार उसके छप्पर के पास से फिर सुनाई दी। मंगतू ने एक मोटी गाली निकाली, 'सत्यानाश हो! तुम्हारा हरामियों! तुम्हारा प्यो, इधर काटों में फँसा है और तुम मेरे छेलुओं पर नज़रें टिका रहे हो।'

वह अभी दूसरी टहनी पर चढ़ा ही था कि पाँव फिसला और धड़ाम से एक पत्थर पर पीठ के बल गिर गया। उसे ऐसा लगा कि जैसे उसकी रीढ़ की हड्डी पर किसी ने दस मण का पत्थर मार दिया हो। उसके मुँह से 'ओ माई' के सिवा कुछ नहीं निकला। जब होश आया तब वह छप्पर के बाहर बाण के मंजे पर पड़ा था और उसके चारों ओर गाँव के दो-चार आदमी खड़े थे। मंगतू की रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। दूसरे गाँव के एक वैद्य ने यह अनुमान गाँव वालों को बता दिया था। वह पीठ पर जड़ी बूटियों का मलहम बनाकर कपड़े से बाँध कर लगा गया था। 5.7 दिन तक तो लोग उसकी बकरियों को थोड़ा बहुत घास डालते रहे। मैहरों का नौकर 'बलैतू' मंगतू को कमरे के अंदर-बाहर कर जाता था और थोड़ा बहुत खाना खिला जाता था। बड़े अस्पताल तक उसे कौन ले जाता। कइयों ने सलाह तो दी, लेकिन कोई लेकर नहीं गया। कुछ दिन बाद मंगतू के छप्पर तक आदमजात दिखाई देनी बंद हो गई। मंगतू मंजे पर पड़ा अपने छेलुओं को देखता रहता। उसकी इतनी हिम्मत नहीं कि वह अपनी बकरी 'शम्मो' के थनों में भर आए दूध को ही निकाल सके। उसका शरीर जवाब दे गया लगता है।

मंगतू को अब ज़िंदगी ख़त्म होती नज़र आने लगी है। उसे अपनी फिक्र नहीं, लेकिन इन बकरियों का अब क्या बनेगा? उसे लग रहा है कि वह कैसा बाप है, जो अब अपने बच्चों को भर पेट खिला भी नहीं सकता। जब उनकी मैं-मैं कानों में जहर घोलने लगीं तो मंगतू ने उठने की कोशिश की। लेकिन बिना रीढ़ की हड्डी के भला कोई इंसान चल सका है। बस चारपाई के नीचे ही पड़ा रहा। बड़ी देर तक कराहता रहा ठंड में। वो तो भला हो, उस मैहर का, जो पता नहीं किसलिए आ गया था, मंगतू के छप्पर तक। उसने मंगतू को चारपाई पर लिटा दिया। मैहर जाते-जाते मंगतू के हाथ में 200 रुपये रख कर चलता बना, लेकिन उसके साथ 'सोनू-मोनू' व शम्मो भी थी। मैहर कह गया-'मंगतुआ तेरा-मेरा हिसाब अब पूरा हो गया, तेरे सिर पर अब कोई कर्जा नहीं बचा है और साथ में किसी कागज पर मंगतू का अँगूठा भी लगवा गया था। मंगतू ने 200 रुपये अपने सिरहाने रखे और सोचा कि उसके क्रिया कर्म को बहुत हो जाएगा। वो कोई मैहर तो है नहीं, और न ही अब कोई रोने वाला बचा है। जो था वह मैहर ले गया है, पुराने कर्ज के बदले।

मंगतू ने अपनी पथरीली आँखों में अपनी शम्मो, सोनू-मोनू व न जाने अपने कितने बच्चों के ख्यालों में पाँच-छः दिन निकाल दिए। उसे लग रहा था कि अब उसके जीने का कोई मतलब नहीं रहा है। उसकी जान तो सोनू-मोनू व शम्मो के साथ मैहर ले गया है। गाँव वालों ने मंगतू का क्रिया-कर्म कर दिया। अब मंगतू के सिवा खैरों की टहनियों को चुराने वाले बहुत हैं, सिर्फ मंगतू ही नहीं है। कल मैहरों के छोटे लड़के की शादी में मंगतू के 'सोनू-मोनू' कटेंगे। उस जश्न में आप सब को निमंत्रण है, ज़रूर आना!

हाउस न. 618, वार्ड न. 1,
कृष्णा नगर, हमीरपुर-177001 (हि. प्र.)
मो.- 094181-78176

यात्रा

- हेमराज कुर्मी

जन्म – 1 सितंबर 1982।
शिक्षा – बी.एस.सी., एम.बी.ए.।
रचनाएँ – चार पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – श्री रामभाऊ कोपुलवार बाल साहित्य सम्मान।

हेलो कर्नल साहब, मैं योगेश बोल रहा हूँ।

हाँ भई योगेश, कैसे हो?

जी मैं बढ़िया हूँ। आप कैसे हैं?

मैं भी एकदम चुस्त दुरुस्त हूँ और सुनाओ कैसे याद किया?

बहुत दिनों से दोस्तों से मुलाकात नहीं की। कल मैंने घर पर करीबी दोस्तों की चाय पार्टी रखी है। आप भी आइयेगा।

धर्मवीर सिंह फौज में कर्नल थे। रिटायर हो गए थे, कर्नल साहब अपना अधिकतर समय समाज सेवा में ही बिताते थे। देश की सेवा करते-करते 'सेवा' का ऐसा नशा चढ़ा कि अब अपना पूरा समय समाज की भलाई के लिए देते हैं।

योगेश का अपना व्यवसाय है। एक बार यों ही सफर में योगेश का कर्नल धर्मवीर से परिचय हो गया और परिचय धीरे-धीरे दोस्ती की परवान चढ़ गया। दोनों अच्छे दोस्त बन गए। आज योगेश ने अपने घर पर बुलाने के लिए फोन किया था।

अच्छा योगेश मैं आता हूँ।

अगले दिन योगेश के चार-पाँच दोस्त उसके घर पहुँचे। कर्नल धर्मवीर सिंह भी पहुँच गए। सभी मित्र एक हॉल में बैठकर चाय नाश्ता करने लगे। फिर शुरू हुआ पुरानी बातों का दौर, सभी दोस्त कई दिनों बाद मिले थे, इसलिए बातों का सिलसिला बहुत लंबा चला। शाम हो चली थी कर्नल साहब बोले अच्छा अब हमें चलना चाहिए।

योगेश बोला अरे कर्नल साहब कितने दिनों बाद बैठे हैं और तुम्हें जाने की जल्दी है थोड़ी देर और बैठो। घर ही तो जाना है।

कर्नल ने कहा अरे नहीं योगेश अभी तो मुझे बहुत काम खत्म करना है फिर घर पहुँचूगा।

अच्छा! योगेश ने आश्चर्य से पूछा।

हाँ, योगेश। अरे बातों-बातों में, मैं तुम्हें बताना ही भूल गया कि अगले महीने की 18 तारीख को मेरा एक ग्रुप तीन दिन की वैष्णो देवी की यात्रा पर जा रहा है। यदि तुम्हें समय हो तो तुम भी चलो। वहाँ उपस्थित कुछ दोस्तों ने चलने में असमर्थता जताई, लेकिन योगेश और गगन यात्रा पर जाने को राजी हो गये। अच्छा योगेश मैं तुम दोनों की टिकिट बुक कर देता हूँ। तुम लोग तैयार रहना। अब हम यात्रा के दौरान बची हुई ढेर सारी बातें करेंगे।

'योगेश और गगन बोले जी ठीक है।'

'अच्छा अब मैं चलता हूँ।

'जी कर्नल साहब। सभी ने उनको विदा दी।'

उसके थोड़ी देर बाद योगेश के दूसरे दोस्त भी अपने-अपने घर चले गए। कर्नल साहब ने एक दुकान पर जाकर कुछ बैनर तैयार करवाए फिर ग्रुप के कुछ सदस्यों से मिलकर यात्रा पर

जाने वाले अन्य सदस्यों की जानकारी ली। उसके बाद अपने घर चले गए।

कर्नल साहब इस यात्रा की तैयारी ऐसे कर रहे थे मानो किसी मिशन पर जा रहे हों। उन्होंने ही इस यात्रा को लीड करने की जिम्मेदारी ले रखी थी। उनका सारा दिन बस तैयारियों में ही निकल जाता। यहाँ तक कि उनकी पत्नी सीमा को भी वक्त नहीं देते।

कई बार तो उनकी सीमा से तू-तू, मैं-मैं भी हो गई। पर कर्नल अपने लक्ष्य के प्रति अडिग थे जो कि सेना के एक जवान की पहचान होती है। आखिरकार उनकी पत्नी को ही हार माननी पड़ती। जब कभी उनकी पत्नी उनसे साथ में चलने का कहती तो वो मना कर देते और कहते तुम्हें अगली बार ले जाऊँगा।

धीरे-धीरे 18 तारीख भी आ गई। अगस्त का महीना था आसमान में घनघोर बादल घुमड़ रहे थे। हल्की-हल्की बौछार पड़ रही थी। सावन का महीना जिसमें हर कोई भीगना चाहता है। लोग बरबस ही भीगने को मजबूर हो जाते हैं पर योगेश आज नहीं भीगना चाहता था, हालाँकि योगेश को भी बारिश में भीगना बहुत पसंद है पर आज उसने बारिश से लुका-छुपी खेलते हुए एक टैक्सी पकड़ी और ड्राइवर से कहा भैया जल्दी से स्टेशन चलो मेरी ट्रेन का समय हो रहा है। ड्राइवर ने टैक्सी स्टेशन की ओर मोड़ दी।

योगेश ने अपने मित्र कर्नल साहब का नम्बर मिलाया। उधर कर्नल के मोबाइल की घंटी बजी उन्होंने फोन को रिसीव करते ही पूछा अरे भाई योगेश कहाँ रह गए हो? अभी तक स्टेशन नहीं पहुँचे। मैं कब से यहाँ तुम्हारा इंतजार कर रहा हूँ। ट्रेन का समय हो गया है वो तो ट्रेन आधा घंटे लेट है फिर भी तुम लोग जल्दी स्टेशन पहुँचो।

जी कर्नल साहब मैं टैक्सी में हूँ। बस मैं पाँच मिनट में स्टेशन पहुँच रहा हूँ। गगन और योगेश स्टेशन पहुँच गए। वे कर्नल के पास पहुँचे तो दंग रह गए क्योंकि कर्नल के साथ पूरी फौज थी। लगभग 150 लोग कर्नल के साथ थे।

योगेश और गगन को थोड़ा अजीब लगा, पर कर्नल के लिए तो ये आम बात थी। इससे पहले भी फौज की पलटन का नेतृत्व करने का अनुभव था, इसलिए कर्नल साहब बिल्कुल सहज लग रहे थे। 150 लोगों का जत्था और ये सब जा रहे थे माता वैष्णो देवी की यात्रा पर।

योगेश ने चुटकी लेते हुए कहा कर्नल साहब हम तीर्थ यात्रा पर ही जा रहे हैं या किसी जंग पर? आपने तो यहाँ पूरी फौज ही खड़ी कर दी। कर्नल धर्मवीर मुस्कुराते हुए बोले ये समझ लो हम जंग पर ही जा रहे हैं और फिर सभी ठहाके मारकर हँसने लगे। फिर कर्नल ने योगेश और गगन का उनके आस-पास खड़े लोगों से दोनों का परिचय करवाया।

ट्रेन आने तक हम लोग आपस में घुल मिल गए अभी तक केवल कर्नल से ही परिचय था पर अब कई लोगों से परिचय हो गया था। थोड़ी देर बाद ट्रेन स्टेशन पर आ गई। सभी अपना अपना सामान लेकर ट्रेन में सवार होने लगे। ट्रेन के पूरे दो डिब्बे कर्नल साहब ने बुक कर रखे थे सो सीट ढूँढ़ने की दिक्कत ही नहीं थी। लोग ट्रेन में चढ़ते गए और बैठते गए। थोड़ी ही देर में सभी को सीट मिल गई। कुछ देर बाद हमारी पलटन के नेतृत्वकर्ता श्री कर्नल साहब योगेश के पास आकर बैठ गए। कर्नल साहब ने ही इतने सारे लागों को इकट्ठा किया था और सबका नेतृत्व कर रहे थे। कर्नल साहब ने आर्मी की एक टी शर्ट और हाफ पेंट पहन रखी थी। अब जैसे ही ट्रेन के इंजन ने सीटी बजाई सभी लोगों ने माता रानी का जयकारा लगाया और यात्रा आरंभ हो गई।

दस से पंद्रह मिनट में सभी यात्री आराम से व्यवस्थित हो गए। लोगों की आवाजाही अब कम हो चुकी थी। सभी आपस में बातचीत करने लगे। थोड़ी देर बाद कर्नल ने एक डंडा निकाला फिर बैग से 'तिरंगा झंडा' निकाला तो सभी लोग बड़े ही आश्चर्य से कर्नल को देखने लगे और सोच में पड़ गए कि न जाने अब ये क्या करने वाले हैं?

तभी एक व्यक्ति बोला अरे कर्नल साहब हम लोग तीर्थ यात्रा पर जा रहे हैं या सच में सीमा पर जंग लड़ने के लिए?

कर्नल साहब ने एक मंद मुस्कान बिखेरी पर कुछ नहीं बोले।

फिर हमारे ग्रुप के एक और व्यक्ति ने कहा कर्नल साहब आप फौज से रिटायर तो हो गए पर देशभक्ति का जज्बा आज भी कायम है। इस पर कर्नल साहब ने कड़कती आवाज में कहा– 'मित्र देशभक्ति तो इस शरीर के कतरे–कतरे में बसी हुई है। फौज में होने या न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता।'

कुछ देर बाद ट्रेन का अगला स्टॉप आ गया धीरे–धीरे ट्रेन प्लेट फार्म पर लग रही थी। कर्नल साहब ने उनके बैग से दो बैनर निकाले जिन पर लिखा था 'स्वच्छ भारत, स्वस्थ भारत' उन्होंने दो बैनर, दो व्यक्तियों को थमाये और कहा स्टेशन आने वाला है और हमें यहाँ उतरना है, और सफाई करनी है।

सभी कर्नल की बात सुनकर आश्चर्यचकित थे। परंतु जैसे ही ट्रेन स्टेशन पर रूकी समूह के 50–60 सदस्य प्लेटफार्म पर उतर गए। कर्नल साहब तिरंगा झंडा थामे हुए थे। कुछ लोग बैनर पकड़े हुए थे और बाकी सभी लोगों ने प्लेटफार्म से प्लास्टिक की बोतलें, कागज के टुकड़े, पॉलीथीन, गुटके के पाउच आदि को उठाकर डस्टबिन में डाल। फिर सभी 'भारत माता की जय' बोलकर ट्रेन में सवार हो गए।

योगेश ने गगन से कहा यार ये कर्नल साहब भी अजीब आदमी हैं कहीं भी, कभी भी कुछ भी ऊटपटाँग करते हैं। हम लोग यात्रा पर जा रहे हैं या सफाई करने के लिए? समूह के कई लोग मेरी बात का समर्थन करने लगे। हाँ योगेश जी आप बिल्कुल सही कह रहे हैं। पर कर्नल धर्मवीर सिंह पर हमारी बात का कोई असर नहीं हुआ।

हमारे समूह के 150 लोगों में से कर्नल साहब के साथ केवल 50–60 लोग ही प्लेटफार्म पर उतरे थे। जबकि बाकी लोग ट्रेन में ही थे। 'हम सभी लोगों को ये सब करने में शर्म महसूस हो रही थी।' लगभग 45 मिनट के बाद फिर एक स्टॉप आया। कर्नल ने फिर अपनी फौज से कहा चलो उतरो स्टेशन आ गया। फिर से उनके साथ 60–70 लोग उतर गए। 'फिर कर्नल ने हाथ में तिरंगा थामा और जुट गये अपने अभियान में उस स्टेशन पर उतरे हुए अन्य यात्री भी इस दृश्य को रुककर देख रहे थे। वहाँ उपस्थित कई यात्री इस कार्य की जमकर प्रशंसा कर रहे थे। फिर जैसे ही इंजन ने सीटी दी सभी लोग फिर से भारत माता की जय बोलकर ट्रेन में सवार हो गए।

'प्लेटफार्म पर खड़े यात्रियों व स्टॉफ ने ताली बजाकर हमारा अभिवादन किया।' कुछ लोग हमारे समूह के इस कार्य को सेल्यूट कर रहे थे। यह देखकर योगेश, गगन और दूसरे लोग जो प्लेटफार्म पर इस बार भी नहीं उतरे थे। उन सबको मन ही मन ग्लानि हो रही थी। अब ट्रेन धीरे–धीरे स्टेशन से छूट रही थी और योगेश, गगन एवं दूसरे लोगों की शर्म भी।

योगेश, गगन और दूसरे लोग शर्मिन्दा भी हो रहे थे कि अभी तक हमने जो कार्य हमने नहीं किया था। पर हमें भी सम्मान मिल रहा था, लोग सेल्यूट कर रहे थे। हम सबने भी मन ही मन निश्चय किया कि हम भी कर्नल साहब के अभियान का हिस्सा बनेंगे।

एक घंटे के बाद जैसे ही अगला स्टेशन आया कर्नल ने फिर कहा कि चलो उतरो स्टेशन आ गया। उन्होंने गगन, योगेश व अन्य लोगों को इस बार भी मजबूर नहीं किया कि वे लोग भी उनके साथ उतरें। परंतु इस बार समूह के पूरे 150 लोग ही प्लेटफार्म पर उतर गए और देखते ही देखते पूरे स्टेशन पर फैल गए एवं अपने कार्य में जुट गए। पाँच मिनट में पूरे प्लेटफार्म की तस्वीर बदल गई। प्लाटिक की बोतलें, कागज के टुकड़े, पॉलीथीन, पाउच के पैकेट सभी कचरा डस्टबिन में था।

सच कहूँ तो क्या गजब का नजारा था। अभी तक लोगों ने ट्रेन से केवल यात्रियों को उतरते हुए देखा था। पर आज 'स्वच्छता ब्रिगेड' को देख रहे थे। जो कुछ मिनट में सफाई करके वापिस ट्रेन में सवार हो गई। हजारों लागों ने हमारा अभिवादन किया। के सभी लोग जोश से भर गये थे। सभी को इस कार्य को करने में आनंद आ रहा था। ट्रेन के अन्य डिब्बों में बैठे यात्री भी हमारे इस अभियान में शामिल हो गये। वे भी अब हर स्टेशन पर उत्तर कर हमारे साथ सफाई में हाथ बँटाते।

कर्नल साहब ने कहा चलो अब एक रैली ट्रेन के अंदर निकालते हैं। कर्नल साहब ने फिर से हाथ में झंडा उठा लिया और आगे हो गए और उनके पीछे थी पूरे 150 लोगों की कतार। हमने ट्रेन में 'पैदल मार्च' शुरू किया। भारत माता के नारे गूँज रहे थे, उत्साह चरम पर था। हमारे दल ने पूरी ट्रेन में आगे से पीछे, और पीछे से आगे तक पूरे दो चक्कर लगाये। लेकिन दूसरे डिब्बों में सवार

यात्रियों ने कोई असुविधा नहीं जताई वरन् कुछ यात्री हमारे साथ हो लिए और कई ने हमारा हौसला बढ़ाया।

जैसे-जैसे ट्रेन अपने गंतव्य की ओर बढ़ रही थी हम सबका हौसला व उत्साह भी बढ़ रहा था। चौबीस घंटे का सफर कैसे व्यतीत हो गया पता ही नहीं चला। कटरा स्टेशन आ चुका था सबने माता रानी का जयकारा लगाया और ट्रेन से उतर गए। सबने कुछ देर विश्राम किया फिर माता वैष्णो देवी के दर्शन के लिए पहाड़ी पर चढ़ाई शुरू कर दी। फिर से वही नजारा। कर्नल साहब सबसे आगे तिरंगा हाथ में थामे और दो लोग हाथ में बैनर थामे माता के जयकारे लगाते हुए पग-पग आगे बढ़े जा रहे थे। हजारों भक्त जो देश के कोने-कोने से पधारे हुए थे इस दृश्य को देखकर आश्चर्य चकित थे।

हम सबने दर्शन किए और वहाँ पूरे क्षेत्र में घूमे। हमारी ट्रेन का समय हो चला था सो सभी स्टेशन पहुँच गए। थोड़ी ही देर में ट्रेन भी आ गई। लौटते समय हर स्टॉप पर हमने वही अभियान जारी रखा। झाँसी स्टेशन पर ट्रेन 15 मिनट तक रुकी समूह ने सफाई अभियान चलाया तो वहाँ स्टेशन पर उपस्थित चाय की दुकान वालों ने खुश होकर हमें चाय-नाश्ते का प्रबंध किया और कोई पैसे नहीं लिए।

लगभग 24 घंटे की सुखद यात्रा पूरी करने के बाद पूरा ग्रुप भोपाल स्टेशन पर उतर गया। भोपाल स्टेशन पर उतरते ही हमारी यात्रा संपन्न हुई। सभी लोगों के चेहरों पर उत्साह की चमक साफ-साफ दिखाई दे रही थी। थकान कोसों दूर थी। सभी लोग एक-दूसरे से विदा ले रहे थे। आखिर में कर्नल धर्मवीर सिंह, योगेश और गगन स्टेशन से बाहर आए और एक जगह थोड़ा ठहरे। योगेश ने एक जोर की अँगड़ाई फिर एक गहरी लंबी साँस ली और गगन से कहा, यार गगन!

हाँ योगेश, बोलो।

योगेश बोला 'मैंने जीवन में कई यात्राएँ की हैं, पर यह यात्रा जीवन भर के लिए यादगार हो गई।'

गगन ने कहा, 'मित्र बिल्कुल सही कहा तुमने। हम जब भी किसी यात्रा पर जाते हैं तो हमारे सगे संबंधी, रिश्तेदार, परिवार वाले, यार-दोस्त सभी हमारी 'सफल और मंगल यात्रा' की कामना करते हैं पर सही मायने में तो यही सफल और मंगल यात्रा थी।'

सच मित्र 'सही मायनों में सफल और मंगल यात्रा' योगेश ने कहा।

कर्नल साहब भी अपने लक्ष्य प्राप्ति से गद्‌गद थे।

योगेश ने कहा 'कर्नल साहब आपका हृदय से बहुत-बहुत धन्यवाद जो आपने इस यात्रा का हमें सहयात्री बनाया। आपने न केवल हमें, बल्कि हजारों लोगों को जीवन की यात्रा में एक 'उद्देश्य' दे दिया।'

54, सिद्ध नगर कॉलोनी, अयोध्या नगर,
भोपाल-462041 (म.प्र.)
मो.- 7479514033

अक्षरा का अगस्त अंक मूर्धन्य साहित्यकार रामदरश मिश्र पर केन्द्रित किया जा रहा है। आप सभी रचनाकारों से संस्मरण, आलेख एवं उनकी पुस्तकों की समीक्षा आमंत्रित है। कृपया अपनी रचनाएँ 10 जुलाई 2023 तक भेजने का कष्ट करें। आप अपनी रचना ईमेल :- myakshara18@gmail.com पर भी भेज सकते हैं।

जीवन के पथ

- हरप्रसाद शर्मा

एक विद्यालय में दो मित्र पढ़ते थे। उनके नाम थे सोमनाथ और हुकुमचंद। सोमनाथ विनम्र, संयमी और अध्ययनशील था हुकुमचंद उग्र, उद्दंड और अध्ययन से 36 का संबंध रखने वाला। सोमनाथ अपने मित्र को बहुत समझाया करता था, अध्ययन के लिए प्रेरित करता रहता था, किंतु हुकुमचंद तो हुकुम चलाने के लिए था, हुकुम मानने के लिए नहीं। फलस्वरूप मैट्रिक की परीक्षा का परिणाम घोषित होने पर सोमनाथ का नाम प्रावीण्य सूची में था और हुकुमचंद का अनुत्तीर्ण में। अब दोनों मित्र एक-दूसरे से बिछुड़ गये। सोमनाथ ने अपना अध्ययन जारी रखा और अपनी स्नातकोत्तर परीक्षा भी विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त करते हुए उत्तीर्ण की तथा उसी विश्वविद्यालय में सहायक प्राध्यापक हो गया। फिर वह विशेष अध्ययन के लिए दो वर्ष के लिए अमेरिका चला गया।

इधर हुकुमचंद भी अनुत्तीर्ण होकर हताश नहीं हुआ। उसने अपने जैसे कुछ और साथियों को लेकर एक 'दल' बनाया। उसका काम था भले आदमियों की समय बे समय बेइज्जती करना, झगड़े वाली पार्टियों में, बिना पूछे बिना कहे, मिल जाना, उसकी मदद का आश्वासन देकर कुछ पैसे ऐंठना, अधिकारियों से मिलकर कार्यों में उनका एजेंट बनना और सट्टा खिलवाना। धीरे-धीरे वह 'लखपति' हो गया। देश में चुनाव होने का समय आया और उसने स्थापित राजनैतिक दल को चुनावी खर्च के लिए 50 हजार रुपये देकर अपने लिए भी 'सीट' प्राप्त कर ली जबकि वहाँ के कर्मठ तथा लोकप्रिय कार्यकर्त्ता शिव प्रसाद को धता बता दिया गया। शिवप्रसाद को पद का लोभ तो था नहीं, वह तो सिद्धांतों पर जीने वाला व्यक्ति था। पार्टी के लिए उसने हुकुम चंद के पक्ष में प्रचार किया और हुकुमचंद जीत गया तथा मंत्रिपरिषद् में उसे राज्य शिक्षा मंत्री का पद भी मिला। पद के परिणाम स्वरूप विश्व विद्यालय से 'मानद' डी. लिट् की उपाधि भी मिल गई। किंतु पद आते ही वह शिवप्रसाद का भी अपमान करने लगा (जनता से तो उसे पहले ही नफरत थी) परिणामस्वरूप शिवप्रसाद राजनीतिक कार्यों से उदास रहने लगा और दूसरे चुनाव में उसकी उदासीनता के कारण टिकट प्राप्त कर भी हुकुमचंद हार गया। किंतु उसकी पार्टी सत्तारूढ़ हुई और उसने हुकुमचंद को विश्वविद्यालय का वाइस चांसलर बना दिया। एक शिक्षा मंत्री को वाइस चांसलर का पद दिया जाना अनुपयुक्त भी नहीं समझा गया। यद्यपि प्राध्यापकों में कानाफूसी होती रही किंतु खुलकर किसी ने विरोध नहीं किया।

इसी समय सोमनाथ अपना दो वर्ष का अध्ययन पूरा कर लौटा। विभाग के प्राध्यापकों एवं छात्रों ने हर्षित होकर वाइस चांसलर श्री हुकुमचंद की अध्यक्षता में उसके सम्मान का आयोजन किया। कई लोगों ने उसकी प्रशस्तियाँ गाईं। विभागाध्यक्ष ने कहा-'श्री सोमनाथ जी की खोज का हमारे विषय में शाश्वत महत्त्व रहेगा। इनकी अध्ययनशीलता, श्रमशीलता और प्रतिभा के विषय में मैं अधिक कुछ नहीं कहना चाहता, इसके वे स्वयं प्रमाण हैं। दो वर्ष की अल्पावधि में अथक परिश्रम करके इन्होंने इस कार्य को पूरा किया है जिसका इनके स्वास्थ्य पर भी कुछ असर पड़ा। हमें हमारे विश्वविद्यालय को और हमारे देश को इन पर गर्व है। अंत में मैं श्रीमान उपकुलपति महोदय से अनुरोध करूँगा कि वे दो शब्द कहें।

हुकुमचंद जी खड़े हुए, खाँसा, खखारा, प्राध्यापकों एवं छात्रों की मंडली पर दृष्टि डाली फिर बोले 'विद्या का पढ़ना अच्छी बात है। सोमनाथ मेरा क्लास फेलो है। यह तब भी दिन-रात पढ़ता रहता था। उसी का परिणाम है जो आप सब देख रहे हैं। मुझे सोमनाथ की सफलता से अत्यंत प्रसन्नता है और उसके मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ। मेरी यही सलाह विद्यार्थियों को भी है कि मन लगाकर पढ़ें और सोमनाथ के समान बनें।' हुकुमचंद का एक-एक शब्द सोमनाथ के कानों में गूँजता रहा। वह हुकुमचंद के पिछले और वर्तमान जीवन का विचार करते हुए रात भर सो नहीं सका। सोचता रहा जीवन में उन्नति के कितने पथ हैं?

एम-21, निराला नगर, भदभदा रोड,
भोपाल -462044 (म.प्र.)

काँस फूलने के बाद

- नारायण श्रीवास्तव

जन्म - 20 जुलाई 1959।
शिक्षा - एम.ए.।
रचनाएँ - पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।
सम्मान - साहित्यिक सांस्कृतिक कला संगम अकादमी प्रतापगढ़ द्वारा सम्मानित।

किसी ने नजरें उतारकर
गेंद सौंप दी है उन्हें
खेलते रहने के लिये
कोई उनके पीछे-पीछे
पढ़ लिख गया है
नयी शिक्षण पद्धति से
किसी ने उतार दिये हैं
अपनी सोच के रंग
कागजों पर
समय-समय पर गाया है
आधुनिक वाद्य यंत्रों के सहारे
महीनों कैमरा साधे
भीड़-भाड़ अथवा
घने जंगलों में
छायांकन भी किया है
किसी ने
उनकी विकास यात्रा के
कदम-कदम का

बरसात बाद
आँगन को मिट्टी से छाप
लीपकर गोबर से
मंगल चौक सजाकर
कुसुमित चौकी पर
आसन दिया है उन्हें
माँ ने
दीप मालिका के बीच

किसी ने
सिलायी कढ़ायी बुनायी कर
पोशाकें पहना दी हैं
बदलते मौसम के अनुसार
अर्पित की हैं विभिन्न सुगंधें
चतुर्दिक वायुमंडल का
महक गया है कण-कण

नदी के आते ही
प्रवाह के थपेड़ों ने
प्रस्तर पर उकेरे हैं
महाकाव्य के महाकाव्य।

किसी-किसी ने बाँटकर
मित्रों के बीच
अपना संसार ही
रच लिया है रुचि पूर्वक
दीवार पर टँगी
तस्वीरों के बीच
उन अक्षरों को भी
सुसज्जित कर लिया है
अधीर मन से
जिनमें दृष्टव्य है
स्वयं की दार्शनिक छवि।

और मैं देखता हूँ
पन्नाई और पुखराजी
फसलों के
चमकदार अक्षर
अवलोकन करते
वीर किसानों की
प्रसन्न आँखों में
जो विशेष तौर पर
लहलहाते हैं
काँस फूलने के बाद।

222, 'सृजन', साकेत नगर,
करेली-487221 (म.प्र.)
मो.-9425815933

यह याददाश्त की कमजोरी नहीं है

- ललन चतुर्वेदी

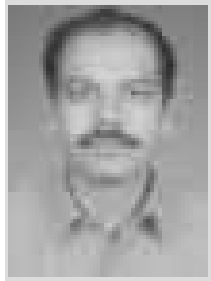

जन्म - 10 मई 1966।
जन्मस्थान - मुजफ्फरपुर (बिहार)।
शिक्षा - एम.ए., बी.एड.।
रचनाएँ - एक पुस्तक प्रकाशित।

याद रखने की गुंजाइशें दिन ब दिन
कम होती जा रही हैं
गैरजरूरी नंबरों की तरह
लोग डिलीट किए जा रहे हैं
जीवन और स्मृतियों से

कल जो लोग मिले थे
आज अपनी यादें छोड़ गए हैं
पर हम सहेज नहीं सके इस अनमोल थाती को
हम इस्तेमाल करो और फेंको वाली
नव संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा हैं
कृतज्ञता हमारे समय में मात्र किस्सा है

किसी की मुस्कान, किसी का स्नेह,
किसी का भरोसा, किसी के साथ बिताए अनमोल पल
उसके विदा होते ही हम बुहार देते हैं

अब उन्हें ही याद रखने का है चलन
जो मरने के बाद भी हमारे काम आएँ
उन्हीं तस्वीरों, प्रतिमाओं पर रहते हैं
पुष्प अर्पण जो पूर्ति करती हैं हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ

जरूरत हो तो मृत के भी जीवित होने की हो जाती है घोषणा
और जरूरी नहीं तो
जीते जी ही मार डाले जाते हैं कुछ लोग
यह कृतघ्नता शातिराना है
जिसे जानबूझकर
समकालीन वैद्यों ने याददाश्त की कमजोरी करार दिया है।

सी एस टी आर आई, सेंट्रल सिल्क बोर्ड
तृतीय ताल, हिन्दी अनुभाग, बी. टी. एम. लेआउट
मडिवाला, बेंगलूर-560068(कर्नाटका)
मो. -9431582801

जो भी बोलेगा खिलाफ

- आलोक रंजन

जन्म – 15 अगस्त 2003।
शिक्षा – स्नातक।
रचनाएँ – दो पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान – बिहार युवा साहित्यकार सम्मान सहित अनेक संस्थाओं से सम्मानित।

जो भी बोलेगा खिलाफ
मार दिया जाएगा
जान से बिना किसी परवाह के।

सरकार की फाइलें
सच नहीं होती
और झूठ नहीं होते विद्रोही
उनके भीतर जलती है कहीं आग
आग लगाने के लिए
और यह बहुत ही जरूरी है
जमाने के लिए।

प्रदर्शनकारियों
का कोई रंग नहीं होता
न कोई धर्म जाति
सिर्फ उनके पास होता है एकता
और एकता में होती है बल।

जब-जब भी

जब-जब भी
मुझे मारा गया है
जातिगत मामले के तहत
कभी नहीं आया सही निर्णय
उसे रख दिया जाता है रैगिंग के रैंक में

संस्था अपने आप को बचाती फिरती है
कागजातों में
वह नहीं चाहती आवाजें
क्योंकि आवाजें परिवर्तन चाहती हैं।

लेकिन कब तक छुपाया जाएगा
बचाया जाएगा अत्याचार को शिष्टाचार से
कभी तो खत्म होगी अधिकारियों के
कलम की स्याही
और उन्हें भी समय मिलेगा सोचने का सच।

34, प्रथम तल, नानक पुरा
मोती बाग, नई दिल्ली-110021
मो.- 9155113056

विशेष अनुरोध

सम्मानित सदस्यों से विनम्र अनुरोध है कि सदस्यता शुल्क मनीआर्डर, आर.टी.जी.एस / एन.ई.एफ.टी, आदि ई-बैंकिंग माध्यमों से भेजने के पश्चात् एक पोस्ट-कार्ड पर अपना पूरा नाम-पता, पिन कोड नम्बर सहित लिखकर 'अक्षरा' कार्यालय को अवश्य सूचित करें। ताकि पत्रिका प्रेषित करने / मिलने में होने वाली असुविधा से बचा जा सके।

बैंक, खाता संख्या निम्नवत् है-
Ac/ No. 50413818696, IFSC- IDIB000T610
इंडियन बैंक, हिन्दी भवन शाखा, भोपाल

यादों के हंस

– गिरिमोहन गुरु 'नगरश्री'

जन्म – 1 जुलाई 1942।
जन्म स्थान – ग्राम गनेरा, होशंगाबाद।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशन।

स्वप्न आते हैं तुम्हारे इस तरह
आ रहे हों हंस पर्वत पार से उड़-उड़ . . .

बोझ बन दीवानगी के क्षण
रोकते हैं चेतना के द्वार,
झुलसती आती तुम्हारी याद
एक लू सी देह का संसार।

जिन्दगी भोगे हुये क्षण को
नव वधू सी देखती मुड़-मुड़ . . .

सरसराहट पीर की पाती नहीं
ठहरने का कहीं भी नव स्थान,
दौड़ता था जो कि तन में प्रेम बन
रक्त वह होने लगा निष्प्राण।

कौन है जो आज भी भीतर
कसमसाता टूटता जुड़-जुड़ . . .

**नर्मदा मंदिर, गृह निर्माण कॉलोनी,
होशंगाबाद-461001 (म.प्र.)**

दौड़

- राधेलाल बिजधावने

जन्म - 1 जुलाई 1937।
शिक्षा - एम.कॉम।
रचनाएँ - इकत्तीस पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - बागीश्वरी सम्मान सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

हमने पूरी ताकत और उम्मीदों के साथ
दौड़ना शुरू किया और दौड़ते ही रहे
हमने भाषा और शब्दों की दौड़ दौड़ी
और हार गये।

हमने चिंता और चिंतन की दौड़ दौड़ी
और थक गये।

हम पहले सड़कों पर दौड़े
फिर नदियों, नालों, पहाड़ों, घाटियों की दौड़ दौड़े
और जंगली संवेदनों में जाकर फँस गये।

हमने अपनी दौड़ के लिए
भाषा शब्द और आचरण के सूरज ठीक किये
और उजाले की दौड़ दौड़ी
पर अँधेरे की झाड़ियों में उलझकर रह गये।

इस बार हम वक्त की सड़कों पर
इरादों उम्मीदों इच्छाओं आकांक्षाओं
और संभावनाओं की दौड़ दौड़ते गये
और थककर चुपचाप निराश हो बैठ गये।

हम गाँव शहर कस्बों की दौड़ दौड़े
और पगडंडियों पर पीछे छूट गये।

हम दौड़ते हुए उपभोगतावाद के रास्ते गये
और ग्लोबल संस्कार संस्कृति की बस्तियों में प्रवेश किया
और कुंठाग्रस्त हो गये।

हम इच्छाओं आकांक्षाओं और संभावनाओं की दौड़ दौड़े
और बीच सड़क पर औंधे मुँह गिर गये।

गिर गये औंधे मुँह
आकाश में परिन्दों की दौड़ दौड़ते हुए।

हम बार-बार अपने मनोरथ वक्त की धूप में दौड़ाते रहे
जो ठंड और बारिश में अपने सूत्र समीकरण भूल गये।

दौड़ तो हमने चींटियों हाथियों
और दहाड़ते शेरों की भी दौड़ी
पर हर बार फिसड्डी ही घोषित होते गये।

इस बार हमने सोचा
ऊँचे पदों, मीनारों की भी दौड़ दौड़ी जाये
भ्रष्टाचार अत्याचार अतिवाद की ऊँचाइयाँ नापी जाएँ
पर हमारे विचार विवेक के सभी पुर्जे
इस दौड़ में शामिल होने से नकार गये।

हमने पेड़ों के हरेपन की दौड़ दौड़ी
छाया नटों की दौड़ में शामिल हुए
हम ऊँचे घोड़ों और सियारों की दौड़ भी
दौड़ने की गंभीरता से सोचते रहे
पर हम अपनी दौड़ दौड़ने की कोई पहचान नहीं बना सके।

नहीं बना सके अपने चरित्र चेहरों की पहचान
वक्त की दौड़ में
हमारे जिस्म की कमीज पैंट जूते फट गये
फट गये सांस्कृतिक हालातों के कपड़े
हर बार हमने हार के लिए ही दौड़ें दौड़ीं
जीत का विचार
और बिम्ब हमारे मन के आइनों में कभी नहीं आया।

**ई-8/73, भरत नगर,
शाहपुरा, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462039 (म.प्र.)
मो.-9826559989**

धूल में साने पसीना

- अनूप अशेष

जन्म - 7 अप्रैल 1945।
जन्म स्थान - सतना (म.प्र.)।
रचनाएँ - बारह पुस्तकें प्रकाशित।
सम्मान - म.प्र. साहित्य अकादमी सम्मान सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित।

दोपहर पी धूप बैठे
कौर मुँह का रहा छीना
धार्मिक आशीष देते
और मालिक भीख,
आँतों खौले
अदहनों में

चुर रही हर सीख।
लौट आना रोज होता
धूल में साने पसीना
गाँव यह दो धरम वाला
कोख में दो गाँव,
पेट दोनों के
हवा है

प्रार्थना दो पाँव
खेत में जलती-जुड़ाती
उम्र की गीता अमीना
माँग कर खाए नहीं
हाथ वाले दिन,
आँख के
बादल रहे
असाढ़ों को गिन
बाढ़ में सूखा लिए
हर साल कटता रहा जीना

ताल-भर पुकारा

आज दोपहर उसने
ताल-भर पुकारा
बाहर तक आई एक
सारसी-केंकार
हवा में हिली

पूरी दोपहर
बरगद की पाकड़ की डार।

आस-पास जैसे
रुमाल-भर निहारा
पीपल-पत्ते काँपे
टूट कर उड़े,
चिड़ियों के पर
कटकर

पास से मुड़े।
आहत-धुन जल में
जाल-भर पसारा।
बाँह को छुआ मन ने
ताप से भरा,
टूटे किन
सपनों के मोड़ से डरा

धूप-लगीं मेंड़ पर
गाल-भर दुलारा।।

मैं वहाँ का हूँ

मैं वहाँ का हूँ
रहता जहाँ कोई नहीं।
गर्म मिट्टी
शीत मिट्टी
जहाँ की सोई नहीं।।

रेत-फाँकी हवा
अनमन-सुबह की कुछ बोलती-सी है,
घाघरा खोले हुए अपना
वहाँ कुछ
डोलता-सा है।

हरी पत्ती वाली लौंची
कभी की
धोई नहीं।।

नदी बनती रही नाली
कौंध-बुझती हुई रातें,
ऊसरों की
फसल लेकर
जहाँ रोती हुईं बातें।

ऊपलों-सेंकी अँगाकर
हाथों ने
पोई नहीं।।

मृतक-सी हर वस्तु
बाँधी धूप की एक अलगनी है,
पुआलों की आँच-सी
यह भूमिका

कब की बनी है।
गाय की-सी आँख मुर्दा
नाँद भी
मोई नहीं है।।

अतुल मेडिकल स्टोर,
हॉस्पिटल रोड,
सतना-485001 (म.प्र.)
मो.-9981163680

जन्म – 3 मार्च।
जन्मस्थान – इंदौर (म.प्र.)।
शिक्षा – एम.एस.सी., बीएड., बी.जे. एम.सी.।
रचनाएँ – पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

-सीमा सुशी

दुनिया की दिन भर सही, काँटों वाली धूप।
मेरी शीतल झोपड़ी, घर आकर मैं भूप।।

जो डोली में बैठकर, गई भिगोए नैन।
लौटी जब हँसती हुई, दिल का लौटा चैन।।

वह वीभत्सी भाव था, ओढ़े प्रेम लिबास।
टुकड़े-टुकड़े कर गया, सब कोमल एहसास।।

जाकर बैठा तीर पर, जब मन हुआ उदास।
अब जब नदी उदास है, बैठूँ किसके पास।।

नाजुक सी गुलदावदी, सभ्य और अभिजात।
आँखों-आँखों में करे, शीत लहर से बात।।

कट-फट जाती कोर से, बन बिगड़ी हर बार।
सुघड़ बनी न जिंदगी, जैसे रोटी ज्वार।।

वह जो नीची हो गई, रूप हुआ बेरंग।
वाणी भी है देह का, बहुत अमोलक अंग।।

राहों में ललचा रहे, तरह-तरह के स्वाद।
पर जेबें ठुकरा रहीं, सख्ती से फरियाद।।

जीवन रस सोख किया, रेशा-रेशा कोर।
प्रेम नदी में जा पड़ा, मेरा आँचल छोर।।

जाते-जाते साँझ तू, क्यों छू लेती गात।
अँधियारा करके गगन, बैठे सारी रात।।

हो कितने भी पुत्र तो, सबका है सत्कार।
जो पुत्री हो एक ही, तो भी जीवन भार।।

जितना कम महसूसिए, उतना कम हो भान।
इक हद तक एहसास हैं, ठंड और अपमान।।

थोड़ी सी करे हिम्मत, अतिशयता को खण्ड।
देह कहे स्नान से, लोटा भर थी ठण्ड।।

जिस पर धारा लक्ष्य बस, उस पर सीधा वार।
प्रेम और सद्भाव हैं, बहुत बड़े हथियार।।

माँ की खन-खन चूड़ियाँ, जीवन की आवाज।
मैंने भी अब हाथ में, पहन लिए ये साफ।।

बाहर बदले देह ने, कितने रूप हजार।
भीतर बैठा कौन था, न बदला इक बार।।

मुझ माटी की देह से, बस हो इतना नेह।
परम अगोचर सत्य के, पहुँचा पाऊँ गेह।।

कुछ किस्सों में थी हँसी, कुछ किस्सों में ताव।
चौपालों पर कहकहे, सुनते रहे अलाव।।

कम्बल और लिहाफ से, हुआ नहीं सत्कार।
शीत कोंचती नींद को, रात हुई लाचार।।

बरसों करके अनसुनी, कहीं रखी थी बात।
यादें लाई खोजकर, अनायास सौगात।।

तुमसे हमें गुरेज था, हमसे तुम्हें गुरेज।
पन्नों को रंगते रहे, हम थोथे रंगरेज।।

दाने पलते कोख में, जीवन का अवदान।
झूमी गेहूँ बालियाँ, करें ओस स्नान।।

माँ ने ली डिग्री नहीं, पर प्रबंध का ज्ञान।
अनायास आये हुए, तृप्त गए मेहमान।।

मान रही है झोपड़ी, चूल्हे का आभार।
बुझा शीत में भूख को, नींदें रहा सँवार।।

जोड़े रखने के लिए, हाथ रखी मुस्कान।
कदम-कदम पर टूक दिल, पग-पग पर अपमान।।

अपने-अपने द्वीप हैं, अलग-अलग साम्राज्य।
कविता के खेमे कहें, तू भी चुन आराध्य।।

जितने भी व्यंजन रहे, सब के सब नाराज।
बस जेबों पर खुश रहे, रोटी, चटनी, प्याज।।

**113/62 एकता परिसर,
शिवाजी नगर,
भोपाल-462016 (म.प्र.)**

जन्म – 20 दिसंबर।
शिक्षा – बी.ए., एम.बी.ए.।
रचनाएँ – एक पुस्तक प्रकाशित।

– मनीष बादल

(1)

वो जो ख़ार अभी दिखता है इन रंगीन बहारों में,
इक दिन उसके चर्चे होंगे सूरज चन्दा तारों में।

गिर-गिर कर उठना कैसे है, सीख रहा वो शिद्दत से,
देर-सबेर गिनेगी दुनिया उसको शाह-सवारों में।

उसकी रेशम जैसी बातों से इक खुश्बू आती है,
शायद वो अब बैठा करता है अदबी फ़नकारों में।

जुगनू जैसा कम चमकेगा, जल्दी ही मर जायेगा,
किंतु न माथा टेकेगा वो सामंती दरबारों में।

मंजिल के पानी का प्यासा, कब रुकता है पड़ावों पर,
बस इस खातिर वो न रुके है राहों की जयकारों में।

नाक़ाबिल को ताज मिले जब, 'बादल' होता है बेचैन,
और खड़े दिखते जब क़ाबिल, सबकुछ हार कतारों में।

(2)

मकाने-जिस्म के अंदर किरायेदार जैसा था,
मेरा होना मेरे भीतर किसी इक़रार जैसा था।

कहानी में यूँ डूबा मैं कि पन्नों पर थे मेरे अक्स,
कि नायक उस कहानी का मेरे किरदार जैसा था।

मेरी हर शर्त पर उसकी जुबाँ ने 'हाँ' कहा केवल,
मगर मजबूर चेहरे पर दिखा इन्कार जैसा था।

मेरा जब हाथ छोड़ा था, मेरे अपनों ने दरिया में ,
तुम्हारा 'मैं हूँ ना' कहना, मुझे पतवार जैसा था।

लिखा मैं ग़म के आँसू से, कभी खुशियों के आँसू से,
मेरे जीवन का हर पन्ना किसी अखबार जैसा था।

मैं उसकी बे-रुखी से भी नहीं नाराज हो पाया,
न मानूँ प्यार इसको मैं, मगर ये प्यार जैसा था।

जिन्हें माना था मैं अपना, उन्हें परखा न जीवन भर,
उसूल इक ये मेरा 'बादल' मेरे दस्तार जैसा था।

(3)

तभी छोटे-से बच्चे की रुलाई छूट जाती है,
वो अपना शौ? जब पकड़े, पढ़ाई छूट जाती है।

पिता-माता की सेवा में, हुआ अक्सर है ऐसा भी,
कि बेटे की ही 'बीपी' की दवाई छूट जाती है।

तभी दफ्तर के 'बाबू' भी बहुत बीमार हो जाते,
अगर उनकी सब 'ऊपर की कमाई' छूट जाती है।

कभी है बाढ़ ने रोका, कभी सूखा बना कारण,
कभी सरकारी योजन से जुताई छूट जाती है।

भले हो नींव 'सॉलिड' पर, मकाँ कमजोर है तब भी,
अगर दीवार की अच्छी तराई छूट जाती है।

हाँ, जूता जब पिता का पाँव में बच्चे के आए तो,
पिता द्वारा तभी उसकी पिटाई छूट जाती है।

दिसम्बर, जनवरी और फरवरी में है सहारा ये,
मगर जब मार्च आता है, रजाई छूट जाती है।

जरा सेहत पे भी कुछ ध्यान दो 'बादल' वगरना, फिर ,
बुढ़ापे में, नमक के सँग, मिठाई छूट जाती है।

फ्लैट नंबर-टॉप – 3, नर्मदा ब्लॉक, अल्टीमेट कैम्पस,
शिर्डीपुरम, कोलार रोड,
भोपाल – 462042, (म.प्र.)
मो. 8823809990

- जया केतकी

पुस्तक : - चन्द्रकिरण
लेखक : -चन्द्रशेखर गोस्वामी
प्रकाशक : -साहित्य केन्द्र प्रकाशन, आर-2/29, गुरुद्वारा रोड, रमेश पार्क, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092
मूल्य : 200/- रु.

रसायन शास्त्र के अध्यक्ष डॉ. चंद्रशेखर गोस्वामी की साहित्यिक कलम से निकली कविताओं की पुस्तक चंद्रकिरण हस्तगत हुई। उनकी संवेदना से भरपूर रचनाओं को पढ़कर उनकी हिंदी साहित्य के प्रति रुचि सहज ही 104 पृष्ठ की लघु पुस्तिका में उनकी 42 कविताएँ संग्रहित हैं। मधुर रस से पगी इन कविताओं में जो विषय चयन किए गए हैं वह बहुत ही सामान्य हैं। माँ को लेकर चार पाँच कविताएँ हैं जो उनके मातृ प्रेम को उजागर करती हैं। माँ नर्मदा से संवाद, भारत माँ, तुलसी माँ, नर्मदा उद्गम अमरकंटक माँ को नमन आदि।

पुस्तक : समय की शिला पर
लेखक : हरिशंकर शर्मा
प्रकाशक : दीपक प्रकाशन, 930-31, गज-कृपा कॉम्पलैक्स, भारतीय स्टेट बैंक के पीछे चौड़ा रास्ता, जयपुर
मूल्य : 395/- रु.

समय की शिला पर हरिशंकर शर्मा द्वारा लिखित एवं दीपक प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित पुस्तक अनेक मूर्धन्य रचनाकारों एवं महापुरुषों की रचना कर्म की पड़ताल सी करती दिखाई देती है। 23 शीर्षकों के अंतर्गत 128 पृष्ठों में श्री शर्मा ने समाज की उन बातों का मूल्यांकन किया है, जिन्हें दृढ़ता से स्थापित होना चाहिए था। अपनी बात का समर्थन करने के लिए उन्होंने कथ्य के साथ तथ्य भी प्रस्तुत किए हैं। यदि भाषागत त्रुटियों को नजरअंदाज कर दिया जाए तो पुस्तक महत्त्वपूर्ण बातें करती है।

पुस्तक : -चिंतन
लेखक : -चन्द्रशेखर गोस्वामी
प्रकाशक : -साहित्य केन्द्र प्रकाशन, आर-2/29, गुरुद्वारा रोड, रमेश पार्क, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092
मूल्य : 150/- रु.

चिंतन डॉ. चंद्रशेखर गोस्वामी बदलते समाज की कहानियाँ इस शीर्षक के अंतर्गत प्रमोद भार्गव जी कहते हैं शासकीय सेवा में रहते हुए जो कहानियाँ नहीं लिखी जा सकती थी उनका लेखन श्री गोस्वामी ने सेवानिवृत्ति के बाद किया है। इस संग्रह में उनकी 12 कहानियाँ हैं जिनमें अपने कार्यकाल के दौरान घटित विसंगतियों की चर्चा है। 3 या 4 पेज की इन कहानियों में लेखक ने भरपूर रोचकता लाने का प्रयास किया है। इन कहानियों का साहित्य जगत में किस तरह मूल्यांकन होगा यह तो पाठक ही बताएँगे।

पुस्तक : जंगल की सैर/लेखक : सुरेश पटवा
प्रकाशक : सर्वत्र द्वितीय तल, उषा प्रीत कॉम्प्लेक्स, 42 मालवीय नगर, भोपाल-462003 (म.प्र.)
मूल्य : 150/- रु.

सुरेश पटवा जी की सद्य प्रकाशित मुन्ना बाघ की दास्तान जंगल की सैर पुस्तक बच्चों को सहज आकर्षित करने के लिए है। अंतिम आवरण पृष्ठ पर मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी के निदेशक श्री विकास दवे कहते हैं -जंगल की सैर जैसे बाल उपन्यास बच्चों को जल, जंगल, जमीन और जानवर से जोड़ने का काम करेंगे। इनके बगैर पर्यावरण की कल्पना करना भी दूभर होगा। इस तरह के उपन्यास निश्चित तौर पर नई पौध को प्रकृति के निकट लाने में मदद करेंगे। मैं उनकी बात से शब्दश: सहमत हूँ। बाल साहित्य शोध केंद्र के अध्यक्ष श्री महेश सक्सेना जी कहते हैं कि उपन्यास शैली में लिखी गई यह अद्भुत पुस्तक है।

इस बार उनके लिए

- अनीता सक्सेना

मीना सिंह अपना नया कविता संग्रह लेकर आई हैं 'इस बार उनके लिए।' यह है किनके लिए यह पता चलता है उनकी एक पंक्ति से जो इस पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर है-'समय के थपेड़ों से जूझते इंसानों को।' आपने यह कविता संग्रह समर्पित किया है। पुस्तक में लेखिका का कोई आत्मकथ्य नहीं है कविताओं के माध्यम से ही आपने हर बात कही है। मीना जी कहती हैं कि मानव जनम बहुत कठिन है और इंसान के जीवन में तरह-तरह के दर्द हैं, तकलीफें हैं। इनमें से कुछ मानव निर्मित हैं और कुछ समय के फेर से पैदा हुई हैं। आप कहती हैं कि जीवन एक मरुस्थल के समान है जिसकी गरम रेत में पाँव धँसते हैं, जलते हैं। रेगिस्तान में पानी की प्यास को बहलाने वाली, दूर से पानी जैसी दिखने वाली मृगमरीचिका मन को भरमाती भी है और भटकाती भी है। ऐसी धोखा देने वाली मृगमरीचिका सिर्फ रेगिस्तान में ही नहीं दिखती, यह हर एक के जीवन में भी होती है और सब जगह होती है। चाहे वह राम का वनवास हो या अंग्रेजों द्वारा निर्मित कानून हो, सब जगह जिन्दगी को ऐसे ही छला जाता रहा है। रेत के मरुस्थल में पानी को तलाशती लेखिका मरुस्थल की कड़वी सच्चाई को कविताओं में उतारती है जो कई जगह बहुत मार्मिक है-'**अंततः मरुस्थल के प्यासे साथी ऊँट को, / खोम कर तीखे चाकुओं से / उन घावों में खोंसकर / बाँस की फूँकनी उसके रक्त से कर रहे थे / अपने गले तर।**'

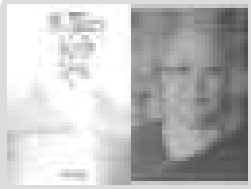

पुस्तक : इस बार उनके लिए
लेखक : मीना सिंह
प्रकाशक : हंस प्रकाशन
मूल्य : 495/- रु.

इसी तरह कालाहारी के हृदयविदारक दृश्य को भी कविता में उतारते हुए लिखती हैं-'**आदमी जब/ भूख से व्याकुल हो/ तो सभ्यता से/ कितना दूर हो जाता है/ आदमी और जानवर की व्याकुलता/ साझा होती है भूख में।**'

और लेखिका की कलम दर्द से पिघल कर लिखती है-

'**कालाहारी की मरुभूमि पर/ जंगल में घुसते हुए अपने / पाँवों के निशान देख / मैंने उस काली चमड़ी वाली मानवता को अपनी ममता की गोद में उठा लिया था।**'

कविताएँ दर्द में पिरोई हुई हैं, दिल को दहला देने वाली रचनाएँ भी हैं। इन कविताओं में नारी मन की व्यथा है, युद्ध की विभीषिका है। युद्ध के परिणाम क्या होते हैं, उनका परिवार और समाज पर क्या असर होता है, खास कर के लड़कियों और औरतों पर होने वाले अत्याचारों का मार्मिक वर्णन है। उन लोगों की कथा-व्यथा है जो अकेले रह गए। दलितों पर अत्याचार हैं, गरीबी है, गरीबों की जर्जर झोपड़ी है-'**कहीं बिखर रही थी गंधाती पुरानी रजाई / कहीं चिर रहे खोल की सीवान सिसक रही थी / गरीब की आँख का पानी बह रहा था नाक से। एक टुकड़ा रजाई।**'

जन्म से मृत्यु तक की/ यात्रा में/ अनेकों बार धँसता है आदमी / बार-बार निकलने की कोशिश में / टूटता है आदमी' माँ-बाप का दर्द झलका है/ जीवन एक दलदल है।'

आपकी कविताओं में गहराई है, शब्द विन्यास बहुत बढ़िया है, गहन चिंतन है। आतंकवाद के घिनौने चेहरे को आपने कविता में उतारा है-'**और औरत मर गई/ जीते हुए दबाने लगी/ भ्रूणों को/ कसाइयों के फर्श के नीचे।**

आगे आप लिखती हैं-'**नीचे जमीन के मिलने लगे/ छोटे रंगीन मौजे, टोपियाँ/ दूध की टूटी बोटल/ और कुचले हुए निपल।**'

आतंकवाद और युद्ध की विभीषिका के परिणाम इनमें नजर आते हैं। छोटी-बड़ी कुल सतत्तर कविताएँ इस पुस्तक में समाहित हैं। संग्रह की प्रथम कविता एक मोरनी की चाह से प्रारम्भ हुई है, मोरनी का कहना कि अब तो बादल भी बदल गए हैं, उनकी आँखें अब पसीजती नहीं। चाहे पौधे सूखें या भर बारिश में मोरनी की नाचने की चाह बादल रीते ही चले जाते हैं। कांक्रीट का जंगल बन गया है यहाँ जो सूखा है। एक तरह से यह कविता मानव मन की इच्छाओं को दर्शाती है, मानवीय संवेदनाओं को दर्शाती है। आप कहती हैं कि यह दुनिया अब ऐसी हो गई है जहाँ राजनीति के रेत के बवंडर जब उड़ते हैं तो आँखों के समंदर को सुखा डालते हैं -

बदलते समय को शब्दों में और / 'हम' सब बदलकर 'मैं' हो गए 'मैं' से दूर भागते-भागते / 'तू' बन गए / सूखना नहीं था / आँखों के सरोवर को / यदि पढ़ जाती / दवा की बूँद कोई।'

एक और उदहारण -

'काले बादलों की थेगली लगे आँचल में/छुपाये हुए चेहरे को/आसमान की ओरी के नीचे/बैठी कोई विरहन' शब्द विन्यास 'क्यूँ इस कदर फट गए बादल/ और मैं भीगती हूँ / आकाश की / ओरी के नीचे।'

जैसे दर्द ही बह कर आ रहा है।' पुस्तक की भूमिका में ओम निश्चल जी लिखते हैं कि यह कविता संग्रह यथार्थ की निर्मम पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर एक भावुक कवयित्री की कलम से लिखा गया है। सत्य है कि मीना जी की यह पुस्तक आम इंसान के लिए नहीं है यह उनके लिए है जिनकी तकलीफ सबने देखी नहीं, जिनका बलिदान सबने देखा नहीं, जिनका समर्पण सबने देखा नहीं। बहुत बढ़िया संग्रह है, मीना जी को बहुत-बहुत शुभकामनाएँ।

बी- 143, न्यू मीनाल रेसीडेंसी
भोपाल - 462023 (म.प्र.)
मो.- 9424402456

सहसा कुछ नहीं होता

- शिवकुमार शर्मा

कविता किसी विषय को दिल से दिलों तक पहुँचाने की अन्यतम विधा है। कविता सामाजिक विषयों का दर्पण है, कविता दर्शन और रचनात्मक विचारों का लोकार्पण है। कवयित्री रक्षा के 168 पृष्ठीय संग्रह में एक सो ग्यारह कवितायें संकलित हैं। कविता संग्रह में नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं को उनके आयतन, क्षेत्रफल, जड़त्व, गुरुत्व का विश्लेषण करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से परिभाषित ही नहीं किया अपितु नारी की नियति और नारी जीवन के बाह्य-अभ्यंतर सत्य को दृढ़ता पूर्वक उद्घाटित किया गया है। एक ओर उनकी कविताओं में औरत की दशा को चिंतन का विषय बनाकर सामाजिक पटल पर रखा गया है तो वहीं दूसरी ओर पाशविक व्यवहार की पराकाष्ठा के पार जाकर स्त्री की पीड़ा को घनीभूत करने वाली विडंबनाओं को भी उकेरा गया है। रक्षा जी की कविताएँ नारी के प्रति नृशंस व्यवहार पर सीधे मिसाइल की तरह से प्रहार करने वाली है।

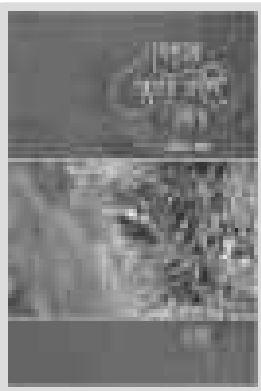

पुस्तक : सहसा कुछ नहीं होता
लेखक : रक्षा दुबे
प्रकाशक : बोधि प्रकाश, सी-46, सुदर्शन पुरा इंडस्ट्रियल एरिया एक्सटेंशन, नाला रोड, 22 गौदाम, जयपुर-302006
मूल्य : 175/- रु.

रचनाकार अपनी कविताओं में संसार की कोमल भावनाओं, करुणाशीलता और सहनशीलता की कथा कहतीं दृष्टिगोचर होती हैं तो वहीं दूसरी ओर विकसित कहे जाने वाले समाजों में स्त्री के ठगे जाने की व्यथा को प्रकट करने से भी नहीं चूकती हैं। उनकी कविताएँ प्रकृति, मानव प्रवृत्ति, राजनीति, लोकनीति, बहुत से विषयों को छूतीं है तो रीति-नीति का विश्लेषण करतीं तथा कुरीति और अनीति के समापन का सुझाव देती हैं। कविता 'प्रोडक्ट' में उपभोक्तावाद और नारी की दशा तथा 'व्यथा' में कन्या भ्रूण हत्या एवं 'कुवेराक्षी' में जिस्मफरोशी का दर्द उजागर हुआ है। शीर्षक 'अच्छी औरतें' और 'चरित्रहीन औरतें' स्त्री के प्रति सोच और व्यवहार पर करारा तमाचा है। औरत के हिस्से में आया 'अधूरी नींद का पूरा सपना' तथा अपने ही उत्सव में शाम तक श्री हीन हो चुकी होती घर की लक्ष्मी दर्द का भरा यथार्थ है। स्त्री लता है। कवयित्री अपेक्षा करती है-

'पेड़ की मजबूती किसी और लता के लिए थी, खुद क्यों नहीं हो जाती है पेड़' वह कविता दियासलाई में दुनिया को बताना चाहती है कि 'वह मोमबत्ती और दियासलाई जो रोशन करने के साथ-साथ माद्दा रखती है दुनिया को खाक कर देने का भी।'

'जीवन की साँझ' जेंडर इक्वलिटी पर लिखी गई टीका है। कविता 'सवामणी' गरीबशास्त्र का सार संक्षेप है। प्रोडक्ट, मिक्सर, सिंफनी, ग्रे शैड नेल कटर, कवर, फेसबुक कपल, ब्रांडेड बार, स्वीट कॉर्न जैसे आंग्ल भाषा के शब्दों का समरसता पूर्वक किया गया प्रासंगिक प्रयोग भी भाषाई दृष्टि से पाठकों को खटकने वाला नहीं है, वहीं दफ़्तर इंतेहाई, खूबसूरत, तरबियत, बेतरतीब, महबूब, शातिर, खफ़ीक, मुतमइन जैसे अरबी तथा आबाद, जुम्बिश, शोख जर्द गुलिस्ता, दरमियान, खुशहाल, पेशानी, पेशीदगी आदि फारसी शब्दों का प्रयोग भी माकूल ढंग से किया गया है। भाषा का भाव के साथ अप्रतिम साम्य देखने को मिलता है। 'मुट्ठी में बंद वर्फ की मानिंद' तथा 'मुट्ठी में बंद रेत सा सरकना' जैसी उपमाएँ दृष्टव्य है। कविता काव्य की कसौटी पर कैसी है यह मुतबहिरर या कृतमुख का विषय है।

'जहाँ मुस्कान आभूषण हैं और ठहाका वर्जित' ऐसे हालातों में औरत परवरिश और परिवेश के बीच संतुलन साधती नजर आती है। कठोरता से 'न' को कहने के लिए समूचे नारी जगत का आह्वान करतीं कविताएँ स्त्री-पुरुष समानता का अनुष्ठान पूरा करने के लिए मूल मंत्र हैं। कविता 'उस दिन' की पंक्तियाँ-

'जब स्त्री की देह नहीं बल्कि उसका परिश्रम, पसीना बने, कविता के लिए सौंदर्य का उपमान, उस दिन धरती का अपनी धुरी पर संतुलन सबसे ज्यादा होगा।'

शक्ति तत्व की महत्ता प्रतिपादित करती हैं। शिव और शक्ति का एकाकार स्वरूप, प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता सृष्टि का आधार है। शक्ति तत्व को भिन्न करके देखना नासमझी ही है। स्त्री को पुरुष का आखिरी उपनिवेश समझा जाना अनर्थ कारक है। समाज में स्त्री के प्रति सोच में अपेक्षित बदलाव की दिशा का निर्धारण स्त्री पुरुष समानता के मानदंडों की स्थापना में रक्षा जी की कविताएँ नींव की ईंट साबित होंगीं।

23, दीपक नगर, सागर रॉयल विलाज,
आशिमा मॉल के पास, होशंगाबाद रोड,
भोपाल-462026(म.प्र.)
मो.-9425047329

समय ही ऐसा है

– मीरा गौतम

समय ही ऐसा है काव्य–संग्रह की कविताएँ हालिया समय का ताज़ा बयान नहीं अपितु ये, समसामयिकता की अन्योक्तियाँ हैं। समय की इन विद्रूपताओं में कवि ब्रज श्रीवास्तव बेहद चिंतित, आशंकित और संशयग्रस्त नजर आ रहे हैं क्योंकि, समय के अनवरत नागवार हमलों में मानवता सुरक्षित नहीं है। वह उसे बचा लेना चाहते हैं। संग्रह की हर कविता अपने मिजाज़ में कुछ कहना चाह रही है। गुनबुनकर पूरा करने में पाठकों की भूमिका भी अहम होती है। पाठक भी इनमें गहरे गुजरें। इन्हें गुनें और समझें। यह तो तय है कि कविता मनुष्यता को बचाती है।

कविता रचने के क्षण हों या पाठकों के हाथों में सौंप देने की जिम्मेदारी। जवाबदेही पाठकों की भी बनती है। इन कविताओं में यह दम है इसीलिए हम ऐसा कह रहे हैं। सामाजिक परिवेश में साहित्यिक विधाएँ अपने स्वरूप का निर्माण करती हैं। इनके सर्जनात्मक आयामों के बदलाव के कारण भी यही हैं। अपने लघु और दीर्घ कलेवर में गुँथी ये कविताएँ प्रगतिशील रुझान की ओर इशारा कर रही हैं। जनवादी विचार–दृष्टि का इनमें गहरा स्पर्श है। समय और काल की नब्ज पर हाथ रख रही ये कविताएँ समय का लेखाजोखा पाठकों के सामने रखकर सोचने पर विवश कर रही हैं कि ऐसे संक्रांति पूर्ण समय में क्या करना चाहिए।

पुस्तक : समय ही ऐसा है
लेखक : ब्रज श्रीवास्तव
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, सी–46,सुदर्शन पुरा इंडस्ट्रियल एरिया एक्सटेंशन नाला रोड, 22 गोदाम, जयपुर–302006 (राज.)

हालाँकि सबकुछ हमारे हाथ में नहीं होता पर हम अपनी सहमति – असहमति तो दे ही सकते हैं। हिन्दी में जनवादी सोच इसलिए दीर्घजीवी रही है कि इसने जीवन और यथार्थ के बीच एक ऐसे पुल का निर्माण किया है जिसमें जर्जर मूल्यों और वंचित तबके के पक्ष में अपनी आवाज को बुलंद किया है। आज कविता जिन पड़ावों से गुजरती हुई यहाँ तक पहुँची है उसमें आवश्यकता उसकी सही भूमिका और लक्ष्य को पहचानने की है। सारे प्रश्न मतभेद और सहमति के बिन्दु पर आकर ही टकराते हैं।

कवि ब्रज श्रीवास्तव इस परिप्रेक्ष्य में समग्रता की बात करते हैं। कविताओं में भीतर आग है। लावा है। लेकिन उसे, ठंडी हवा और भाप में तब्दील कर देने की ताब भी है। यही संग्रह की कविताओं में उनकी रचनात्मक उपलब्धि है।

कवि की अन्तर्दृष्टि और उनके 'विज़न' से साफ दिखायी दे रहा है कि वह हर हाल में 'धरती के मनुष्य' को सुरक्षित कर लेना चाहते हैं, इसे बचा लेना चाहते हैं। 131 पृष्ठों में टंकित, इन 73 कविताओं में कवि ब्रज श्रीवास्तव धरती पर पाँव जमाए खड़े हैं और, धरती की बारीक से बारीक परतों की कलौंस को बाँचते–झाड़ते हुए कदम–दर–कदम आगे बढ़ रहे हैं। उन्होंने खगोल पर भी गहरा दृष्टिपात किया है।

समय इसकी गवाही दे रहा है। यह समय दिखता नहीं है और देखिये कि कवि ब्रज की क़लम इसके अदृष्ट को किस तरह खींचकर दृश्य पटल पर ला रही है। यह कमाल भी कवि ब्रज की गहरी निगाहों ने कर दिखाया है कि समय की विद्रूप और गूढ़ छवियाँ पारदर्शिता से हमारी चेतना में गहरे उतर आती हैं। इसे सामने रखने की कूवत ब्रज के गहरे 'विज़न' का ही हासिल–ए–कमाल है।

समय की इस विद्रूपता के कारण क्या हैं– 'कूटनीति की राजनीति, मीडिया, समाज में अनवरत हो रही सांस्कृतिक पिछड़, पर्यावरण के संकटों में मानवजनित हस्तक्षेप, निरन्तर घट रही सम्बन्धों की ऊष्मा, कृत्रिमता, द्वैधता और कागजी संवेदनहीनता 'या कुछ और जो आँखों से ओझल हो रहा है।'

'समय ही ऐसा है' शीर्षक कविता में राजनीति की कूटनीतिक अवसरवादिता और चाटुकारिता पर गहरा कटाक्ष किया गया है। कबीर के नाम का चमत्कारिक प्रयोग राजनेताओं की पोल खोलने के लिए पर्याप्त है।

'समय ही ऐसा है' तानाशाह के विरोध में '**सभा में बोलते थे जो वे अब तानाशाह के चापलूस बनकर समय गुज़ार रहे हैं।**' बात यहीं ख़त्म नहीं होती। इन अवसरवादियों की कमर तानाशाह के सामने इतनी लचक और झुक गयी है कि वे दासभाषा में बोलते हुए कबीर की चुगली पर उतर आते हैं।

'तानाशाह के सामने/झुककर कहते हैं
आज की ख़बर ये है कि/एकबार फिर कबीर ने
ख़राब कहा/आपके काम को
तानाशाह खुश होकर/उन्हें एक इनाम देता है।'

और, इनाम यह होता है कि तानाशाह कबीर पर कठोर व्यवहार की बंदूक चलाकर उसके सच की आवाज़ को दबाने की कोशिश करता है कि सच सामने नहीं ही आना चाहिए। चापलूस बेशर्मी को चुनता है। यह राजनीति का वीभत्स और क्रूर चेहरा है और यही समय का सच है।

'समय ही ऐसा है : फ़ोन' कविता में फ़ोन पर बनाए गये अस्थायी संबंधों पर गहरा सवाल खड़ा करती है कि क्या फ़ोन महज़ समय काटने या मनोरंजन के लिए बनाए जाते हैं। घुलना-मिलना, आना-जाना और एक दिन ऊब जाने पर संवाद के रास्ते बंद कर देना, सामाजिक संबंधों की गरिमा का पटाक्षेप ही कहा जा सकता है, **'इस तरह भी / ख़त्म हो रहे हैं घनिष्ठ रिश्ते' समय ही ऐसा है।'**

'समय ही ऐसा है : गर्व' शीर्षक की तीसरी कविता ने गर्व के मायने बदल दिए हैं कि गर्व अब अनुभव नहीं रहा कि किसी उपलब्धि पर मन उमग पड़े। इसके प्रदर्शन को तामझाम की ज़रूरत नहीं है, अब समय ही ऐसा है-**'अब टाई में /टोपी और पोशाकों में लहराया जा रहा है/यह शब्द/लगभग दंभ को गर्व/समझा जा रहा है।'**

'पूजनीय' कविता मनुष्य को निष्क्रियता से सक्रियता की ओर उन्मुख कर रही है। 'काम वाली बाई' कविता घरों में काम करने वाली मेहनतकश स्त्रियों के लिए राहत की ख़बर की तरह है जहाँ, मालकिन की संवेदना में उसकी देखभाल का उदार दृश्य सामने आता है कि उसकी देखभाल के साथ-साथ मालकिन उसे चाय, पराँठा और दर्द की गोली तक स्वयं मुहैया कर रही है। यहाँ कवि की मानवीय करुणा और सदाशयता कविता में गहरे उतरकर आयी है।

यह कवि का स्वप्न है कि मेहनतकश स्त्रियों के प्रति मानवीय और उदार दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। यह जनवादी सोच कविता को उदात्तता प्रदान कर रही है। 'मैं क्यों चाहता हूँ' कविता एक अच्छे शख़्स का साथ देना ज़रूरी समझती है क्योंकि, अच्छा शख़्स सबके लिए ज़रूरी है।

'दु:ख का क्या है' में दु:ख सुख को पटखनी देते हुआ, आलपिन चुभाता हुआ, देश की राजनीति से जुड़कर दु:ख रुका हथियार ही बन चुका है। दु:ख में सराबोर करता दु:ख यहाँ नया ही मुहावरा गढ़ रहा है।

'ये सब' कवि उस परिवेश के प्रति कृतज्ञ हैं जिसने उसे दिल जीतने, माहौल की चुप्पी तोड़ने, विपरीतताओं में सामंजस्य बैठाने के संस्कार दिए हैं। निष्ठा निभाने का क्या अर्थ होता है यह कवि ने बादलों, पौधों, रूमाल, एक जोड़ी चप्पल और एक बिछड़े दोस्त ने बताया-कैसे शुरू की जा सकती है/**दोस्ती अरसे बाद/ये सब मेरे गुरु हैं।**

'आदिवासी' कविता आदिम विकास के विभिन्न चरणों को अभिव्यंजित कर रही है। यह एंथ्रोपोलॉजी; मानवशास्त्र से जोड़ती हुई आदिमानव की जीवनशैली, सभ्यता और आने वाली संततियों के नये रास्तों की नींव रख रही है। कवि अपने पहले पुरखे के प्रति कृतज्ञ है जिसने धरती पर पहली सुबह में आँखें खोलीं हैं और जीवन को मुक्ति के लिए नहीं जीने के लिए चुना है। इसने आग का आविष्कार किया, रहने का जंगल चुने, पहनने को पत्ते और सभ्यता के विकास में, आने वाली संततियों के **रहने के लिए /जंगल चुने और अपनी संतानों के लिए/ गाँव और शहर के सपने / देखे। उनके कारण यह जीवन आज,** यहाँ तक पहुँच पाया और जीवन की राह आसान हुई।

ये कविताएँ तिलिस्म की तरह पाठकों के सामने आ रही हैं। इनमें से क्या छोड़ दें कि, कुछ भी नहीं छोड़ते नहीं बन रहा है। ये कविताएँ, चुप-चुप बतकही करके ही आगे बढ़ने देती हैं। ये तो बात कहे बिना नहीं मानेंगी और, आपको सुनना ही होगा। देखते हैं कि आगे क्या ये कह रही हैं, चूक मेरी ही थी' कविता का यह सच क्या कह रहा है देखें-**'दिन गुजरा महामारी के मरीज की तरह/खाँसता हुआ और प्रार्थना करता हुआ इस व्यर्थता बोध का कारण क्या है।** कवि में अन्तर्द्वन्द्व है।

'तरस आता है' कविता एक व्यंग्य है जिसमें आँख, कान, जिह्वा और सही समझ के होते हुए भी मनुष्य अन्याय के पक्ष में कौरव बन जाता है। 'ऐसे शब्द' में माफीनामे के लिए सही शब्द ढूँढ़ता कवि, 'श्रद्धांजलि' में गला दिये गये अख़बार, कटे वृक्षों, बाँध में डूबे लोगों, किसी नस्ल के आख़िरी पक्षी, आक्सीजन के अभाव में मरे गये या यकायक मर गये लोगों के प्रति भावुक और आहत कवि ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

'समय एक स्थान है' कविता में समय एक मँहगे स्थान का प्रतीक है जहाँ ईश्वर को जगह नहीं होगी। यह एक ऐसा भूखंड है जिसे कवि जगह नहीं देना चाहता पर समय अपनी जगह बना ही लेता है।

'ख़राबियाँ' कविता मनुष्य के बुरे स्वभाव को जगह नहीं देना चाहती कविता में, 'ओह उसे नहीं आना चाहिए था कविता में खलनायक होकर/उसे नहीं आना चाहिए था।' यहाँ कविताओं को खलनायक नहीं नायक चाहिए मगर, कविता समय के सच के रूप में इनकी

चालाकियों को सनद के रूप में दर्ज़ भी कर लेना चाहती है। 'गौरवबोध' प्रसिद्धि को भीख की तरह माँगते लोगों को कतार में खड़े हुए देखा जा सकता है।

'दुनिया का बदन' कविता में पृथ्वी मानवीकरण करके उसे रोगग्रस्त दिखाया गया है। वह ज्वरग्रस्त हैं। पहाड़, समुद्र, नदियाँ सब थके हुए हैं। बुज़ुर्ग को संगीत की दरकार, रेगिस्तान को योग, और बीमार दुनिया के गुमसुम बेटों को हँसाने की चाहत रखने वाले कवि ब्रज को दरक रहे विश्व की चिंता है कि हों ऐसे चिकित्सक और सहृदय मनुष्य भी जो सुनें–

'दुनिया के बुदबुदाने की आवाज़/अगर वे हृदय के कानों से सुनते होंगे।'

दुनिया को खुशहाल देखने वाले कवि का यह विराट स्वप्न पूरा हो।

'अगले जन्म में' कवि फल के रूप में आम, कोई विधा हो तो कविता, पक्षियों में गौरैया, पशु में हिरन, फूल नहीं पत्थर बनने की चाह की। फूल तो कुचल दिया जाता है। पत्थर सह सकता है।'

'पत्थर बना देना मुझे/जो होगा सो होगा
देखा जायेगा/सह तो पाऊँगा
हर तरफ की मार/काम तो आऊँगा
लोगों के/हर मुकाम पर।'

कवि मज़बूत होना चाहता है कि वह समय की मार को सह सके। 'हम शिक्षक' कविता एक शिक्षक के दायित्व को पूरा करती हुई आश्वस्त कर रही है कि ज़िम्मेदार शिक्षक के हाथ ही में देश का भविष्य सुरक्षित रह सकता है। कवि स्वयं एक ज़िम्मेदार शिक्षक है। कविताओं में भी देश और समाज के प्रति उसकी चिंता का होना स्वाभाविक रूप में सामने आया है। यह आश्वस्ति सुक़ून दे रही है।

'हमारी छाप को 'कविता में भीम बैठका के माध्यम से यह तथ्य सामने रखा गया है कि पुरातन गुफाओं के हज़ारों साल पहले के भित्ति-चित्र मानव की पहचान का मुख्य स्रोत रहे हैं। कवि चिंतित है कि मनुष्य की पहचान का ये जरिया भी सुरक्षित बच पायेगा या नहीं, 'समय हमारी छाप को/कब तक बचाएगा जिस पर लिखा होगा/मैं यहाँ हूँ।'

'स्कूल और विषाणु' में शिक्षण संस्थानों के रखरखाव पर बेपरवाही से कवि आशंकित है, 'सच में विषाणु बहुत संवेदनहीन होते हैं' क्योंकि, जो लोग बेपरवाही करते हैं वे स्वयं विषाणु का पर्याय हो जाते हैं और उनसे भी ज़्यादा ख़तरनाक है उनकी बेपरवाही। यह दायित्वबोध की कविता है। कोरोना महामारी पर केन्द्रित कविता 'एक दौर आया था' उस समय की दारुण स्थितियों का चित्रण है जो मर्माहत करता है।

'वह चला गया' कवि मुस्तफा ख़ान की मृत्यु पर विलाप करता कवि भीतर तक व्यथित है कि जीवन दायित्व पूरा करते हुए कवि अधूरे में ही चला गया। 'हर वृक्ष को बचायेंगे' पर्यावरण-संरक्षण से जुड़ी हुई कविता है। बरगद का पेड़ ही बचाना है जैसे प्रेमी अपनी प्रेमिका को सुरक्षित रखता है। 'अकेला खड़ा सच' में कवि यथार्थ की भूमि पर खड़ा होकर देख रहा है कि न स्त्री, स्त्री के साथ है। न शोषित, शोषित के साथ। और यह भी विचित्र है कि एक क़लमकार भी अकेला ही खड़ा रहा। या उसने भी अन्याय का ही साथ दिया।

'अक्सर अकेला खड़ा रहा सच-सदी बदलने तक का भरोसा रखकर।'

यह भी तथ्य है कि सच और न्याय का साथ कोई नहीं देता। यदि सब एक-दूसरे का साथ सच और न्याय को मज़बूत करने में दें तो आततायी का साहस अट्टहास करने का नहीं हो सकेगा।

संग्रह की आख़िरी कविता विशुद्ध प्रतिरोध की कविता है जिसमें समय का क्रूर सच दर्ज़ हुआ है–

'घर-घर में चौंक-चौंक कर/देखी जा रही हैं/जुल्मों की तस्वीरें / जायज झण्डे नाजायज दण्डों/के द्वारा फाड़े जा रहे हैं।'

और जहाँ कहीं विरोध की आवाज़ें उठ रही हैं, महज चिंगारी ही उम्मीद के नाम पर बची हुई है। यह ऐसा समय हैं कि स्वाभिमान और संघर्ष के कलेजे पर गोली दागी जा रही है। उनका सीना छलनी कर दिया गया है क्योंकि, सदी बदलने से क्रूरताएँ कम नहीं हुआ करतीं। और यही समय का कड़वा सच है।

यह ऐसा समय हैं जो ठहर गया है। कवि को उम्मीद है कि तारीखें बदलेंगी क्योंकि, अभी ऋतुओं की मृत्यु नहीं हुई है। अभी भी समय की लहरों में ताब बाकी है। समय के विचलन, विस्थापन, आत्मनिर्वासन और उद्वेलन के बीच में कविताएँ राहत की ख़बर की तरह हैं। यह कवि का अन्तर्लोक है जहाँ कवि ने समय की गहराई और विस्तार को पकड़ा है। कुल मिलाकर कहें तो यह धरती पर मनुष्य को बचाने की इबादत है जिसमें मानवता साँसें ले रही है।

89, सिल्वर सिटीएक्सटेंशन जीरकपुर,
(चंडीगढ़-अम्बाला हाईवे)
जिला- मोहाली-140603 (पंजाब)
मो.-98886 19956

रानी कमलापति

– गिरिजेश सक्सेना

बहुत अर्सा बीता एक बार में आद्योपांत पढ़ने की आदत थी ,समय ने टुकड़ों में पढ़ने की आदत डाल दी। उस दिन दुष्यन्त संग्रहालय में बलराम जी ने पुस्तक रानी कमलापति भेंट की अच्छा लगा। जन्मजात भोपाली हूँ लोभ संवरण न हुआ। घर आकर भोजनोपरान्त आँख बन्द होने तक आधी कर सोया, सुबह के सन्नाटे में इतिश्री।

कहाँ कम्पूटर साइन्स, कहाँ एम. ए. अंग्रेजी, पटवारी से शुरू, जीएसटी की गड्डमड्ड, कुछ तारतम्य बैठ नहीं रहा था। कहते हैं करने वाला बुरा होता है, अपनी पर आये तो वो कुछ भी कर गुज़रता है, ऐसा ही लगे अपने बलराम जी भी। यूँ तो मैं भी इतिहासकार नहीं हूँ पर इसी भोपाल की मिट्टी में पला बढ़ा हूँ। आठवाँ दशक गुड बाय मूड में है। कुछ तो पढ़ा सुना है तो सोचा कुछ लिख दूँ।

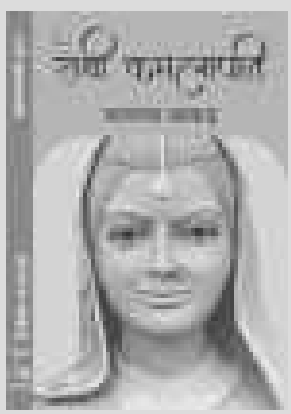

पुस्तक : रानी कमलापति
लेखक : बलराम धाकड़
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लेक्अ, बस स्टेण्ड, सीहोर-466001 (म.प्र.)
मूल्य : 350 /- रु.

लेखक का ज्ञानाधार उतना उथला नहीं जितना प्रथम रचना पर अक्सर सोचा जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है लेखक ने पूर्वाध्ययन पर पर्याप्त ज़ोर दिया है तभी हर दृश्य परिदृश्य का चित्रण इतना सटीक हुआ है। बावीसवीं सदी के प्राणी का सत्रहवीं सदी के घटनाक्रम का ताना–बाना बुनना आसान नहीं है। यदि यह इतिहास होता तो सपाट बयानी से काम चल जाता पर ऐतिहासिक उपन्यास में समयानुकूल वातावरण निर्माण, युगानकूल अस्त्र–शस्त्र वस्त्र–विवरण एवं चित्रण पूर्णरूपेण लेखकीय दायित्व बन जाता है, लेखक ने उसे यथेष्ट निभाया भी है।

उपन्यास में, चूँकि ऐतिहासिक है, राजा–रजवाड़ों का माहौल है तो सुरा, सुन्दरी तथा युद्ध की परिणिती अवश्य होगी और है भी। युद्ध के महौल का निर्माण भली भाँति किया गया है। तलवारबाजी के पैंतरों को बखूबी निभाया है। विशेष रूप से निज़ाम शाह की हत्या और कमलापति द्वारा आलमशाह के वध के समय, इनके शब्द चित्रों में अवश्य किसी का वरद् ?हस्त रहा होगा। लेखक युवा हैं सौन्दर्य चित्रण स्वाभाविक है। रानी के रूप चित्रण, नखशिख वर्णन में कहीं न कहीं जायसी और आचार्य चतुर सेन की आत्मा प्रवेश करती है। अति रूपमति होना हर युग में अभिशाप ही रहा है (मैं इस कथन को सत्यापित नहीं करता पर सत्य को नकार भी नहीं सकता) कमलापति, पद्मावती क्लियोपेट्रा आदि अनेक नाम आदि काल से हर समय समाज में रहे हैं जिनने मानव मात्र को उद्वेलित किया है। आज भी रूपसी से एक तरफ़ा प्यार, जिसकी अक्सर रूपसी को ख़बर भी नहीं होती, में हत्या, आत्म हत्या, एसिडकांड आदि, पराकाष्ठा है जब पुत्र अपनी माँ से कहे 'किन्तु हम अगले जन्म में इतनी सुन्दर माँ कदापि नहीं चाहते हैं, जिसका रुप ही पति की मृत्यु का कारण बन जाये।' रूप लावण्य हमेंशा वांच्छित है पर किस मोल पर। नारी का शाश्वत स्वरूप है–नारीत्व और ममता–पर कुत्सित मन माने तब न।

रानी की जल समाधि भी रूप और अस्मिता के कारण एक जौहर था जो हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। उपन्यास यूँ तो पूर्ण चंद्र है श्लाधा के अतिरिक्त कुछ भी लिखना उचित नहीं होगा पर यह मात्र उपन्यास नहीं ऐतिहासिक उपन्यास है। उपन्यास में लेखक की कल्पना प्रथम एवं अन्तिम सूत्र है वह पाठक को जो चाहे परोसे, स्वतंत्र है, स्वच्छंद है। परन्तु ऐतिहासिक में यह थोड़ा भिन्न होता है। पात्र काल घटनाक्रम सभी कुछ हो चुका है। आप अपनी कलम से सौन्दर्य छटा बिखेर सकते हैं, रस माधुर्य घोल सकते पर तथ्यों से छेड़छाड़ विसंगति है, न्यायोचित नहीं है। एकाधिक स्थानों (उम्र के सातवें दशक में खान, पृ.116 तथा अन्यत्र भी 66वर्ष निरूपित किया है जबकि इतिहासकारों क्रमश शहरयार ख़ान, वर्तुल सिंह, मिलन नायडू के अनुसार जन्म 1672 मृत्यु 1728 यानी कुल आयु 56वर्ष रही।

आगे, यूँ तो दोस्त मोहम्मद नर पिशाच, नाम के अलावा कभी किसी का दोस्त नहीं हुआ परन्तु उसने मंगलगढ़ की रानी और कमलापति के राखी के बंधनों को निभाया। मामा कंस का कलयुगी एडीशन, ये भी समानता रही रानी के मरते ही मंगलगढ़ को लील गया, वैसे ही कमलापति ने दोस्त मोहम्मद को राखी बाँध आलम शाह से बदले के लिए आमंत्रित किया था। आलम शाह के मरने के बाद (1713)

कमलापति ने दस वर्ष करीब निष्कंट, राज किया, दोस्त उसका पैरोकार रहा। रानी के मरते(1723) ही उसने डोली कहार का प्रपंच कर सैनिक गिन्नौर गढ़ भेजे और नवल शाह को गिन्नौर गढ़ में कैद किया और वही सता-सता कर मार डाला। भोपाल पर अब एक छत्र उसका राज था।

दोस्त की तीन बीवियाँ थीं, पहली मेंहराज जिसके लिये उसने अपने ही चचेरे भाई का कत्ल किया था। दूसरी फ़तेह बीबी जो मंगलगढ़ राज घराने से थी। तीसरी बीवी भी मंगलगढ़ की ही राजपुत्री थी न कि दोस्त के मंत्री वज़ीर खाँ की बेटी जैसा उपन्यास में निरूपित किया है। एक और बात जिक्र के काबिल है, जहाँ-तहाँ लेन-देन, करारनामें आदि में विनिमय मुद्रा 'रुपया-रुपये' लिखी है। उस समय विनिमय मुद्रा अवश्य मुग़लशाही रही होगी। रुपया ब्रिटिश काल की प्रचलित मुद्रा है यथा उस काल में रुपया था ही नहीं।

सभी तर्कों से परे अन्ततः स्वीकारोक्ति है एक उत्कृष्ट रचना ने हिन्दी साहित्य में पदार्पण किया। मैं लेखक प्रकाशक और अंततोगत्वा अंतहस्त यानी पाठक (एन्युज़र दि एंड यूर) सभी को बधाई शुभकामनाएँ।

मेरे मंतव्य में कमलापति नाम अपभ्रंश है। जैसे शीलवती (शील धारक) भाग्यवती, पद्मावती, आदि यह नाम भी कमलावती (कमलदल सी रूपवती) होना चाहिए पर सदियों से चल रहा है तो यही सही। कमलापति की जल समाधी के बारे में एक और किंवदंती है। रानी की रूप लालसा ने औरंगजेब के मालवा सूबेदार होशंगशाह की रातों की नींद भी हराम कर रखी थी। उसने रानी के नाम का निकाहनामा बनवा कर रानी के पास मंजूरी के लिये भेज दिया। साथ में भोज ताल बाँध की तराई में अपनी हज़ारी फ़ौज लगा दी। रानी ने दोस्त को उसे निपटाने के लिये भेजा। एक बार तो दोस्त भी हिल गया, निराश-हताश सा लगा, होशंगशाह की हज़ारी फ़ौज के सामने। उसने येन-केन-प्रकारेण तिकड़म कर उस भोजताल बाँध को ध्वस्त कर तो दिया जिससे होशंगशाह की सेना कुछ तो पानी में बह गई कुछ मैदान छोड़कर भाग गई। पर जाने कैसे उसका नैराश्य उसकी विजय के समाचार से पहले रानी तक पहुँच गया। जितने और जैसे कमलापति के रूप के किस्से थे वैसे ही होशंगशाह के वहशीपन के भी किस्से थे। रानी भी अब तक अपने आपदाकारी रूप से तंग आ चुकी थी। उसने दीवान कँवरशाह को बोला-बाबा अच्छा है नवल यहाँ नहीं है आप और दोस्त उसका ध्यान रखना मैं चलती हूँ, कह कर वह निचली मंज़िल के तलघर की ओर चल पड़ी। थोड़ी ही देर में भूकंप जैसा जलनाद सुनाई दिया।

पूरन जल रक्षाधिपति ने घबराये हुए कक्ष में प्रवेश किया-दीवान साहब! रानी साहिब! त्राहि माम त्राहि माम। जल प्रलय आ जायेगी, किसी ने जल विपल्लव के सातों तवे खोल दिये हैं। महल के सातों तल डूब जायेंगे तब तक दुलारी (परिचारिका) दौड़ी आई-रानी साहिबा को अभी मैंने तल घर की ओर जाते देखा। दीवान कँवरशाह चीख़ा-रानी साहिबा ये आपने क्या किया। पूरन कुछ करो न।

'क्या कर सकता हूँ मैं, पाँच तल तक तो डूब चुके हैं बाकी रोक दिया मैंने।' पुरन बोला।

'बाकी बचा ही क्या है? प्रलय तो रानी साहिबा कर ही चुकीं हैं।' दीवान सिर पकड़ कर बैठ गया।

'मिटा दिया, नेस्तनाबूद कर दिया।' चीख़ते हुए दोस्त ने कक्ष में प्रवेश किया। माहौल ग़मगीन देख बोला-'क्या हुआ आप लोग चुप क्यों हैं? रानी साहिबा की खैर, मैंने होशंगशाह को तबाह कर दिया। रानी साहिबा कहाँ हैं?'

दीवान-'रानी साहिबा ने जल समाधि ले ली आपको नवलशाह की तख्त नशीनी का फ़रमान 'दीवान! राखी वफ़ात हमारी रानी के साथ थीं, कहते हुए वह तेज़ी से पल्टा, तलवार हवा में लहराई और दीवान का सिर ज़मीन पर था। अगले ही पल वह खून चूती उल्टी तलवार की नोक ज़मीन पर टिकाए रानी के तख़्त पर बैठा गरज रहा था-'अब हम आज़ाद हैं तख्त हमारा है।

दूसरी ओर होशंगशाह ने जब ज़मीन से आसमान तक पानी की खड़ी दीवार अपने फ़ौजी केम्प की ओर आती देखी समझ गया क़यामत ही आ रही थी। वह अपना आपा खो बैठा 'भागो क़यामत! भागो क़यामत' चिल्लाता अपने घोड़े की ओर दौड़ा। फ़ौज में कौन जिया कौन मरा उसने पलटकर भी नहीं देखा। घोड़ा दौड़ाते वह नर्मदा नदी के बुधनी घाट पहुँचा, पाट शायद कम रहा होगा, उसने घोड़े को एड़ लगाई। घोड़े ने नदी एक कूद में पार तो कर ली पर दूसरे किनारे पर जो गिरा तो उठा ही नहीं। (मैं 1960 से 1968 तक होशंगाबाद रहा हूँ वहीं से हाई स्कूल तथा बीएससी किया)। 1980 तक ज़िला अस्पताल से ज़िला अदालत वाली कोठी बाज़ार रोड पर उस घोड़े की मज़ार 'घोड़ा फ़सील' के नाम से मौजूद, आज भी ऐतिहासिक घटना की सत्यता की साक्षी खड़ी है। टूटे ताल को ख़ाली होने में तीन माह और सूखने में तीन साल लगे। वह इलाका सीहोर जिले का सबसे उर्वरक क्षेत्र ताल परग़ना के नाम से जाना जाता था।

जी-1, इन्द्रप्रस्थ, एयरपोर्ट,
भोपाल-462030 (म.प्र.)
मो. - 9425006515

मेरा झूला बहुत ही न्यारा

- मधुलिका सक्सेना 'मधुआलोक'

सोचती हूँ जिंदगी यादों का मेला है और बचपन की यादें.. उनका तो कहना ही क्या, एक से बढ़कर एक खट्टी, मीठी, तीखी, सुखद, दुखद। जी हाँ साथियों आज मैं समाज के सबसे महत्त्वपूर्ण धड़े यानी बच्चों के लिए लिखी गई एक उपयोगी और मनोरंजक काव्य-पुस्तक की समीक्षा लेकर उपस्थित हूँ। हम सब जानते हैं कि वातावरण व्यक्तित्व के विकास में महती भूमिका अदा करता है। वातावरण का एक अंश मैं अच्छे साहित्य को भी मानती हूँ।

आवारा बादल सा बचपन / उड़ता फिरता यहाँ वहाँ,
चाहे ठिठक बरसना हरदम / मिले यार बस चार जहाँ।

अगर बचपन में ही यारी अच्छी पुस्तकों से हो तो जीवन आसान होता है। हमारी पीढ़ी को बचपन में बड़ों का साथ मिला, साथ ही अच्छी किताबें मिली लेकिन हम महसूस कर रहे हैं कि आज बच्चे 'पैरंट हंगर' से जूझ रहे हैं। मतलब उन्हें एक-दूसरे के लिए समय नहीं है और न ही घर में बड़े बुजुर्ग हैं। ऐसे में मार्गदर्शक, मनभावन और शिक्षाप्रद पुस्तकों की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। बाल मनोवैज्ञानिक कहते भी हैं कि बचपन के 5 साल तक का परिवेश बच्चों पर बहुत अधिक असर डालता है। हम देखते हैं कि इस उम्र में बच्चे लोरियाँ, कविताएँ, कहानियाँ सभी बड़े ध्यान से सुनते हैं। उन्हें याद भी रहती हैं और उनके भावी जीवन पर, सोच पर असर डालती हैं। यह सारी बातें मुझे सुधा जी की पुस्तक 'मेरा झूला बहुत ही न्यारा' को पढ़कर याद आ गईं।

पुस्तक : मेरा झूला बहुत ही न्यारा
लेखक : सुधा दुबे
प्रकाशक : अपना प्रकाशन,
मूल्य : 185/- रु.

'अपना प्रकाशन' द्वारा मुद्रित बाल कविताओं की यह पुस्तक बहुत ही आकर्षक कलेवर में है। उसका आकार, रंगों की बनावट और मुखपृष्ठ बहुत ही चित्ताकर्षक है। कहते हैं कि बच्चों की किताब 20 से 40 पृष्ठों की होना चाहिए। आपकी पुस्तक भी मुखपृष्ठ मिलाकर कुल 38 पृष्ठों की है। 4 किताबों की भीड़ में से कोई भी उसकी तरफ सहज ही आकर्षित हो जाएगा। मूल्य भी कुल 185/- है। इसमें बालमन की मंशा के अनुरूप बातों-बातों में संस्कार, सद्गुण, मनोरंजक और सरलता से मिलने वाले पात्रों की बात है।

सुधा दुबे जी के शैक्षिक जीवन ने इन सभी आवश्यक तत्वों का समावेश अपनी पुस्तक में करने की अंतरबुद्धि उन्हें दी है। हमारे संस्कारों के अनुरूप सबसे पहली कविता माँ सरस्वती की वंदना है। पहली बार शाला जाने से पहले माँ सरस्वती की अर्चना वंदना हमारे यहाँ की जाती है। जो बच्चों की शिक्षा के अनुरूप है -

माता सरस्वती देना सहारा, / हमने थामा है दामन तुम्हारा।

ये एकदम सरल शब्द हैं। साथ ही अंत में भी संस्कार गीत ही है। जिसमें दिए संस्कार आज की जीवन चर्या से संबंधित हैं। जैसे मोहल्ले की सफाई, साबुन से हाथ धोना, पानी व्यर्थ नहीं बहाना, खूब पेड़-पौधे लगाना, और पिज्जा बर्गर छोड़कर हरी सब्जी, फल खाना। यह पुस्तक बाल मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर बनी है। नैतिक शिक्षा और मूल्यपरक साहित्य बचपन में देना बहुत जरूरी है जो उनके कोमल भाव तंत्र को मजबूत करे।

यह पुस्तक भी परिवार और समाज से जोड़ने में सहायक है। बड़ों का आदर सिखाती -

मेरी दादी भोली भाली और/ मेरे प्यारे दादाजी
सबसे न्यारे दादाजी।

इन्हें बच्चे सहज ही कंठस्थ कर सकते हैं नानी के लिए है-

नानी थी बाजार में/ भीड़ थी हजार में,
नानी थी उल्लास में/ बादल थे आकाश में।

देखिये कविता में लय और गेयता दोनों हैं। उनके पति सुनील दुबे वृक्ष-मित्र हैं। उनके साथ सुधा जी में भी पर्यावरण प्रेम सहज ही समाया हुआ है। हम देखते हैं उनकी कविताओं में पर्यावरण के प्रति चिंता और शिक्षा खूब उभरकर आई है। अपने संकलन की दूसरी कविता में देखिए वे क्या कहती हैं-

उठ मुन्नी उठ मुन्नी संभाल ले अपनी चुन्नी,
सूरज किरने बिखरा रहा दिखा रहा बिखरी पन्नी।

इसे पढ़कर किसी को भी सड़क पर, झाड़ी में, कचरे के ढेर पर पड़ी सैकड़ों पालिथीन याद आ जाएँगी। यह आज की वैश्विक समस्या है। पॉलीथिन/ पन्नी से कैसे छुटकारा पाएँ इस पर सरल भाषा में उन्होंने बाल कविता लिख दी है। पर्यावरण के लिए ही उनकी एक और

कविता भी वैश्विक संदेश है –

'हाँ जी हाँ मैं बोल रहा हूँ जल,
मुझ में है जीवन का कल।'

भविष्य की भयावहता उन्होंने बाल मन में रोपित करने की पूरी-पूरी कोशिश की है –

'दिखूँगा मैं अब बन कहानी / सुनाएँगी तुम्हें दादी नानी,
न दो सब मेरी कुर्बानी / कहेंगे थी धरा, था कभी उस पर पानी।'

बहुत मार्मिक, संदेश पूरे विश्व के लिए। बालरुचि के साथ बदलते समाज के अनुसार बालक बनकर लिखना वाकई कठिन है।
पर्यावरण के अंश, वृक्ष कविता में, वृक्षों की उपयोगिता तो है ही साथ में वृक्ष के नहीं होने पर क्या होगा उसकी बानगी देखिए –

'खत्म हुई जो वृक्ष की छाया/ खा जाएगी काल की काया।'

बालमन को लुभाने वाले विषय की कविताएँ तितली, भालू, आलू, चंदा, वर्षा, दोस्त, रेल, और मेला, के अलावा मुझे कुछ विशेष विषयों पर कविताएँ अच्छी लगीं जैसे 'आओ चलें पक्षी बन जाएँ' इसमें वे कहती हैं –

'जबरन हम ज्यादा न खाएँ / थोड़ा खा कर खुश हो जाएँ,
आज करना जो अभी करें / संचय करके घर न भरें।'

बहुत बड़ी बात समझाने की कोशिश की है। आज के समय में क्रिसमस का त्यौहार भी वैश्विक त्योहार बन चुका है। वह मुझे अच्छी लगी उसमें भी पर्यावरण का संदेश है कि घर-घर हरियाली लाने के लिये क्रिसमस के पेड़ लगाओ। एक मजेदार कविता है 'काश अगर ऐसा हो जाए' इसकी कल्पना हमारे बचपन से चली आ रही है जिसमें शरबत की नदी, पेड़ पर लटकते सिक्के (जिसे उन्होंने गिन्नी कहा है) की बातें हैं।

छुक-छुक रेल कविता सभी प्रमुख शहरों की विशेषताएँ बच्चों को आसानी से कंठस्थ करा देगी। जैसे भोपाल का गुटका और सुरमा, झाँसी की लक्ष्मीबाई और झलकारी बाई, ग्वालियर की गजक, आगरा का ताजमहल और दालमोठ, मथुरा के पेड़े, दिल्ली का लाल किला, संसद भवन, चाँदनी चौक की चाट, बच्चे को बचपन से ही पता है किन शहरों में उसे क्या-क्या मिलेगा। 'स्वच्छता' कविता में घर, शहर, पर्यावरण, गाँव गली सब की सफाई की बात बच्चों को बताने की कोशिश की गई है।

ये कविताएँ हमारी नई शिक्षा नीति की भावना के अनुरूप भी हैं। मूलभूत कौशल का निर्माण करने में सहायक हैं। नैतिकता और मूल्यों की स्थापना भी करने में सहायक हैं। आज के प्रसंगों से भी जुड़ी हुई हैं। कुछ कठिन शब्दों के प्रयोग की बात को छोड़ दें तो मेरे विचार से अपने कलेवर में यह एक वैश्विक स्तर की पुस्तक है।
लेखिका को बहुत बधाई और अन्य समाजोपयोगी पुस्तक लेखन के लिये शुभकामनाएँ।

656-ए, अरविंद बिहार, बागमुगलिया,
भोपाल-462043 (म.प्र.)
मो. - 9406516683

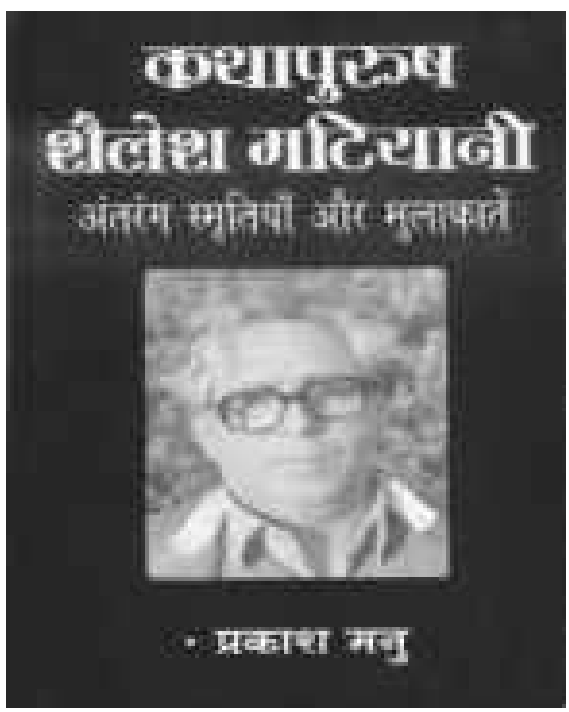

कल की शक्ल

- लता अग्रवाल 'तुलजा'

डॉ. कमल चोपड़ा नाम लघुकथा के क्षेत्र में बहुत ही सम्माननीय है। कारण वे जितने अच्छे लघुकथाकार हैं उतने ही अच्छे इन्सान भी हैं। लघुकथा को लेकर उनकी मौन साधना कोई तीन से चार दशकों की है। लघुकथा को ऐसे मौन साधकों की महती आवश्यकता है। मुझे यह कहते हुए खुशी होती है कि आदरणीय चोपड़ा जी कि जब भी कोई नई किताब आती हैं वह मुझे अवश्य भेंट स्वरूप देते हैं इस कारण उनकी अधिकांश लघुकथाएँ मेरे द्वारा पढ़ी हुई होती हैं।

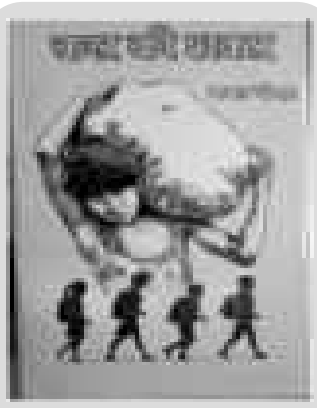

पुस्तक : कल की शक्ल
लेखक : कमल चोपड़ा
प्रकाशक : किताब घर
मूल्य : 144 /- रु.

भूमिका के रूप में वरिष्ठ समीक्षक बीएल आच्छा जी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर के साथ; संग्रह की प्राय: सभी लघुकथाएँ निम्न वर्ग के बच्चों को लेकर रची गई हैं। जिसमें उनके जीवन का संघर्ष अलग-अलग दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अनेक स्थानों पर उनकी कुंठा विद्रोह का रूप धारण कर लेती है तो कहीं उनका आत्मविश्वास बोल जाता है, कहीं वर्षों से बँधी बेड़ियाँ तोड़कर वे स्वयं को मुक्त करने में सफल हो जाते हैं। अगर विषय और लघुकथा की बात करूँ तो लघुकथा का जन्म ही विसंगतियों की कोख से हुआ है। इस दृष्टि से संग्रह की लघुकथाएँ अपनी सार्थकता सिद्ध करती हैं।

लघुकथा असर व 'जात' समाज के उस वर्ग की पीड़ा है जो आज नहीं है किंतु साहित्य इतिहास की धरोहर होता है। इस दृष्टि से इसकी उपयोगिता बनती है। जमादारिन के हाथों लड्डू खाने भर से धर्म भ्रष्ट हो जाता है। कितनी कमजोर शृंखला थामे बैठे हैं हम धर्म की। अबोध बालक का तर्क इतना ही मीठा था जितना लड्डू। 'लड्डू गंदा नहीं था, अम्मा भी गंदी नहीं।' कारण बच्चे की दृष्टि में गंदी चीज छूने योग्य नहीं होती। 'फुहार' जातिगत कट्टरता को थोड़ा सा विवेक कैसे तिरोहित कर देता है इसे देखा जा सकता है, 'सॉरी ताऊ जी अब आप जिस वक्त सूर्य को जल चढ़ा रहे होंगे न उस वक्त बॉल नहीं खेलूँगा।' जब बच्चे में इतनी समझ है तो जात-पाँत के नाम पर फसाद करने वाले क्यों नहीं समझ पा रहे? सवाल उठती लघुकथा।

'आप कहाँ हैं' लघुकथा में बच्चे के परीक्षा परिणाम की खुशी जुड़ी है पिता के द्वारा साइकल का प्रॉमिस पूरा करने में। जब पिता की तंग जेब अपने प्रॉमिस को पूरा नहीं कर पाती तो गरीबी के रूप में बालक की समझदारी बोलती है, 'सॉरी पापा छोड़ो साइकल के बिना भी काम चल सकता है।' आर्थिक विषमता और उन विषमताओं से उपजी व्यवस्था किस तरह समय से पूर्व उन बच्चों को बड़ा बना देती है, बच्चों का बचपन खोना है यानी जीवन के एक बड़े हिस्से को खो देना है। कभी-कभी बच्चे भी बहुत गहरी बात कह जाते हैं-'वह भगवान का घर नहीं है वहाँ तो बस गुंडे रहते हैं।' (लघुकथा भगवान का घर।)

लड़की होना आज भी कई परिवारों में तथाकथित संभ्रांत परिवारों में भी 'बड़ी गाली' माना जाता है। खौफ, लिंग भेद को दर्शाती लघुकथा है कि आज भी यह चिंता है कि 'बेटी, बेटी कहते-कहते छोटी बच्ची को अकेला देखकर कब टूट पड़े और नोंच खाएँ।' यह बात लोगों के दिलो-दिमाग में घर कर गई है। दूसरी ओर 'फ्रॉक' लघुकथा मुझे बहुत पसंद है। आज समाज में जिस तरह की घटनाएँ बच्चों के साथ हो रही हैं, उसने हमारे दिमाग में संदेह का कीड़ा भर दिया है। लघुकथा में एक छोटी बच्ची को रामपाल के द्वारा साइकल पर देखकर लोगों ने आव देखा न ताव और उसे पीटना शुरू कर दिया जबकि वह तो बच्ची की मदद कर रहा था।

जिस तरह समाज के दो हिस्से किए गए हैं शोषक और शोषित वर्ग,

यद्यपि आज वह स्थिति तो हमें देखने को नहीं मिलती जो प्राचीन काल में हुआ करती थी। फिर भी कहीं न कहीं इन स्थितियों से इंकार भी नहीं किया जा सकता। कभी अपनी लाचारी में वे बलात्कार की शिकार भी होते हैं। यह दर्द उनके सम्पूर्ण वजूद को ही मिटा देता है। 'नकेल' बढ़िया लघुकथा है पिता के ऋण को चुकाने बच्चे से बेगारी ली जा रही है। बच्चे की चेतना जागती है। उसने अपने गले को छूकर देखा वहाँ कोई लोहे की सीकर नहीं थी, फिर उसने अपनी नाक को छूकर देखा वहाँ कोई नकेल भी नहीं थी। नंदू एकाएक मुड़ा और तेजी से स्टेशन की ओर भाग खड़ा हुआ।

दरअसल यही परिस्थितियाँ उनके व्यक्तित्व को गढ़ती हैं, उनके सामाजिक, आर्थिक, मानसिक परिदृश्य को प्रभावित करती हैं। बार-बार मिलने वाली उपेक्षा उनके मन में विद्रोह का भाव भर देती है। इस तरह वे प्रतिकार के रूप में समाज के समक्ष आकर खड़े हो जाते हैं। लघुकथा 'मैं नहीं जाता' अबोध मन अपनी माँ द्वारा झूठे आडंबर का विरोध करता है। 'कसूर किसका विडंबना है' उस बच्चे की जो पढ़ना तो चाहता है किंतु स्टेशनरी के अभाव में स्कूल में टीचर से पिटाई घर में पिता के सामने अपनी माँग रखने पर पिता द्वारा पिटाई। बच्चा असमंजस में है, कुसूर किसका है।

'खेल' लघुकथा गहरा चिंतन देती है समाज को जो मानते हैं कि बच्चे अबोध होते हैं, कुछ समझते ही नहीं 'यह बाबूजी अच्छे थे न माँ तुम्हारे साथ खेलने आते हैं न जिस तरह मैं लछमी के घर जाता हूँ खेलने।' बच्चों में भी आजकल ऊँच-नीच और अपने पराए का भाव पनपने लगा है। उनकी अपनी टोलियाँ बनने लगी हैं जिसमें वे अपने स्तर के ही बच्चों के साथ खेलना पसंद करते हैं। यहाँ पर बबुआ जो उनके समूह में नहीं आता उनकी नजर में उपेक्षा का शिकार है, वही बबुआ अपनी उपेक्षा से आक्रोशित है। कहते हैं न 'मैं भी खेलूँगा नहीं तो खेल बिगाड़ूँगा' यही काम बबुआ करता है। पर्यावरण को लेकर बच्चे की सूझबूझ की कथा है 'एक पेड़' वैल्यू में भाषा की आंचलिक मिठास, 'मिनी की सजा' जुर्म कोई और सजा किसी और को। रामजी का खेत, गुस्से में आकर दीपू द्वारा गोभी का फूल टिंकू से छीन लेना और कहना हम भी राम जी के बंदे हैं, जो अब आएगा वह भी तो खाएगा।

अवचेतन मन में समाहित वह बातें जिन्हें हकीकत में पूरा नहीं किया जा सकता बबलू जानता है इसीलिए सारी मुरादें वो सपने में देखता है। यथा-'मैं इंस्पेक्टर बन गया हूँ, मैंने ठेकेदार और मालिक को पकड़कर जेल में बंद कर दिया है।' इसे हम भले ही अबोध मन की कुंठा कहें किन्तु कहीं न कहीं उनकी अनदेखी इसके लिए जिम्मेदार है। 'पुरस्कार' और 'बहुत बड़ी लड़ाई' दोनों लघुकथा अपने अधिकार हेतु प्रतिकार दर्ज कराती हैं। 'इनको भी तो पता चले मन मार कर रह जाना कितना कष्टप्रद होता है।' एक माँ का अपने बच्चे के पक्ष में खड़े रहना स्वाभिमान की लड़ाई है। 'तैसा' शानदार लघुकथा है, एक और गरीब माँ के पैरों में ममता की बेड़ियाँ हैं जो बेटे से काम कराने को विवश है तो दूसरी ओर उसी गरीबी ने बेटे को कितना साहसी बना दिया। 'जरा मेज साफ करा दो। दो थाली लगवा लो। ठंडा पानी भेजो।' इस लघुकथा को पढ़कर हर पाठक के चेहरे पर मुस्कान की एक रेखा खिंच ही जाएगी। 'कसूर किसका' बहुत बड़ा सवाल, कौन देगा उत्तर?

एक लघु कथाकार की विशेषता होती है कि वह अपनी लघुकथा को आम पाठक की सोच से विपरीत दिशा की ओर ले जाए। 'सोशल' इसी तरह की लघुकथा है जिस पति पर पत्नी अपनी कामवाली लड़की को लेकर संदेह करती है वहीं पति, पत्नी द्वारा उस कामवाली पर अत्याचार होते देख उसके पीटे जाने की फोटो अपने मोबाइल से खींची और कहा 'आज के बाद मल्ली को पीटना या जलाना तो दूर अगर तुमने उसे डाँटा भी तो मैं तुम्हारी यह करतूत सोशल मीडिया पर डाल दूँगा।' यहाँ बाल शोषण के साथ सोशल मीडिया की ताकत भी दिखाई देती है।

हम कह सकते हैं कि चोपड़ा जी की ये तमाम लघुकथाएँ विसंगतियों की कोख से जन्मी हैं जिसमें संत्रास है, उपेक्षा, अवहेलना है, समाज द्वारा नकारे जाने की पीड़ा है, सदियों से रिसते घाव की कसक है, कुंठा से उपजा आक्रोश है, प्रतिकार के स्वर हैं। यही सब तो लघुकथा का स्वभाव है। अत: ये लघुकथाएँ अपनी कसौटी पर खरी उतरती हैं, समाज को आत्ममूल्यांकन हेतु बाध्य करती हैं।

30, सीनियर एम.आई.जी.,
अप्सरा काम्प्लेक्स, इंद्रपुरी भेल क्षेत्र,
भोपाल-462022 (म.प्र.)
मो.- 9926481878

एकांत का इकतारा

- मुजफ्फर इकबाल सिद्दीक़ी

'मन मस्तिष्क को झंकृत करती कविताएँ' यह सच है कि कविता हमारी संवेदना के निकट होती है। वह हमारे मन को छू लेती है। कभी-कभी झकझोर देती है। कविता के मूल में संवेदनाएँ होती हैं, यह संवेदना, सम्पूर्ण सृष्टि से जुड़ने और उसे अपना बना लेने का बोध है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा की कविता कवि हृदय की वह पीड़ा है जो वह अपने परिवेश में समाज में देखता हैं वहीं पीड़ा शब्द संयोजन के द्वारा बाहर आती है।

पुस्तक : एकांत का इकतारा
लेखक : शिरीन भावसार
प्रकाशक : बोधि प्रकाश, सी-46, सुदर्शन पुरा इंडस्ट्रियल एरिया एक्सटेंशन, नाला रोड, 22 गौदाम, जयपुर-302006
मूल्य : 150/- रु.

जयशंकर प्रसाद की ये पंक्तियाँ बरबस ही स्मरण जो आती हैं जो कवि की पीड़ा को दर्शाती हैं-

'जो घनीभूत पीड़ा सी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।'

शिरीन भावसार की कविताएँ भी ऐसा प्रतीत होता है कि 'एकांत का इकतारा', कविता संग्रह के माध्यम से संवेदनाएँ बन कर बरसी हैं। इन्हें पढ़कर लगता है कि ये सारी हमारे आसपास की ही बयानीं हैं। हो सकता है कि ये आपकी आवाज़ भी हों। कुछ कविताएँ तो ठंडी हवा के झोंके जैसी लगती हैं। इसका आवरण पृष्ठ बहुत ही सुन्दर है। इस पर बनी आँखें मुँदी हुई छवि अपनी धुन में पूरी तरह से डूब कर इस वाद्य यंत्र को बजा रही है और आसपास की रंग-तरंगें मानो भावनाओं की स्वरलहरियाँ हों।

जैसे ही किताब के वर्क पलटे लफ्ज़ धुन बन कर बोलने लगे। स्वर बन कर बात करने लगे। ये वहीं अल्फाज़ हैं जिनसे ये लड़ती रहीं हैं। लिखती हैं-

'रोज़ ही लड़ती हूँ मैं साथ
इन अल्फाज़ के
कभी मैं इनमें नहीं समाती
कभी ये मुझ में नहीं समाते।'

आप अपनी बात में लिखती हैं कि, 'मानव मन संवेदनाओं को बहुत तीव्रता से ग्रहण करता है किंतु भावनाओं को शब्द देना कठिन हो जाता है, कई बार। यदि शब्द साथ न दें तो भाव अन्य रूप में प्रकट होने लगते हैं और न हो पाएँ तो घुटन दे जाते हैं किंतु जब वेदना-संवेदना की उथल-पुथल शब्दों का रूप लेने लगती है तब हौले से यादों की किताब खुलती है और जीवन के रंग पन्नों पर बिखेरने लगती है। इन्हीं रंगों की सुन्दरता, नमी व शुष्कता को समेटे हुए हैं यह कविताएँ।' जब कविताओं को पढ़ते जाते हैं तो यह बात सच साबित हो जाती है।

कविता 'यादों की किताब' से वे बहुत हौले से मन पर दस्तक देती है वे कहती है-

धुँधले पड़े हर्फों पर
कुछ स्पर्शों का
कुछ अश्क़ों का
और
स्याही का मरहम लगा रही हूँ।

दूसरी कविता 'अधूरापन' है। 'अधूरापन', एक ऐसा शब्द है जो अपने आप में नकारात्मकता, कुछ कमी, कुछ पछतावे का प्रतीक है। लेकिन कवयित्री ने इसे भी सकारात्मक बना दिया। जब मैंने भी इनके तर्क को गंभीरता से सोचा तो पूरी तरह सहमत हो गया कि पूरा होने में कुछ नए की तलाश खत्म हो जाती है। वे लिखती हैं कि -

'कुछ अधूरा
मुझे असीमित
कल्पनाएँ देता है
मेरी सोच को
विस्तृत आकाश देता है
और
शब्दों को सँवारने की वजह भी।'

इसी कुनबे की एक और कविता है 'कोहराम।' यह शब्द भी नकारात्मक है और परेशानी का सबब भी। लेकिन यहाँ भी ज़िन्दगी की तलाश जारी है। शुरुआती पंक्तियों में ही इन्होंने अपना मंतव्य स्पष्ट कर दिया है। इससे जान पड़ता है कि ये बड़ी पक्की मिट्टी की बनी हैं। बदलते मौसमों का इन पर कोई असर नहीं होता -

'वो ज़िन्दगी ही क्या / जिसमें तूफान और
झंझावत न हो / कुछ कोलाहल
भागमभाग और / कोहराम न हो।'

'धागा', शीर्षक से इनकी एक बहुत प्यारी-सी कविता है। इसने व्यक्तिगत तौर पर मुझे बहुत प्रभावित किया। वैसे तो धागा शब्द अपने आप में प्रतीक है बंधन बाँधने का। रिश्तों को जोड़ने का रेशम की एक पतली-सी अदृश्य डोर ही तो है जो प्यार भरे रिश्ते को बाँधे रखती है उम्र भर। लेकिन यहाँ धागा एक अपेक्षा है, एक उम्मीद है। तभी तो एक विनम्र आग्रह है कि –

'एक डोरी रेशम की
जो मन से मन तक गुजरती है
उलझे चाहे जितनी भी वो
थामे एक सिरा तुम
धीमे-धीमे ही सही
मुझ तक चले आना
एक धागा मन्नतों का
नाम मेरे भी बाँध आना ताकि वह
रिश्तों की डोर और मज़बूत हो जाये।'

पिता के अस्तित्व को व्यक्त करती 'अहसास' एक सुन्दर कविता है 'पिता नहीं है मेरे पास' इस एक पंक्ति ने सारा दर्द बयान कर दिया है और इसके बाद ही माँ को संबोधित करती एक ऐसी कविता है जिसका शीर्षक है, 'अब तुम मुझ को माँ नहीं लगतीं' शीर्षक पढ़ने पर कुछ असमंजस सा लगता है मन में किंतु कविता का अंतिम पैराग्राफ़ स्त्री के भावों के व्यक्त करता है देखें –

'देहरी से तेरी कदम बाहर रख
हर रिश्ते को जीते हुए,
जीवन के कई पड़ाव पार कर
जिस मुक़ाम पर हूँ मैं
अब तेरी वेदना-संवेदना की
समर्पण की, स्नेह की, स्पर्शों की
भागीदारिणी हो गई हूँ मैं
क्योंकि अब सिर्फ़ बिटिया नही रही हूँ मैं
स्त्री हो गई हूँ
इसलिए तो सच कहती हूँ मैं
अब तुम मुझको माँ नहीं लगती।'

ऐसा हो ही नहीं सकता कि जब माँ-पिता की बात हो और अपने बच्चों की बात न हो। आखिर ज़िन्दगी में उनसे भी तो आकांक्षाएँ-अपेक्षाएँ जुड़ी हैं। तभी तो 'एक माँ की चाहना' लिखी है। यह एक हिदायत है, एक गुज़ारिश है अपने ही बेटे से कि तुम अपने अंदर कुछ अपनी माँ के अंश भी रखना पूरी तरह पुरुष मत बन जाना –

'माँ हूँ मैं तुम्हारी / खुद में मुझे थोड़ा-सा
बचा कर रखना।'

यह हिदायत मुझे और भी अच्छी इसलिए लगी कि एक पुरुष पूरी तरह से पुरुष तभी कहलाता है जब उसके अंदर बहादुरी और साहस के साथ करुणा और दया का भाव भी हो। इसी तरह एक स्त्री तभी पूरी होती है जब उसके अंदर करुणा और दया के साथ बहादुरी और साहस भी हो। इंसानी रिश्तों के ऊपर खूब कलम चलाई है–
डोर से बँधा मन, मुझ में तुम, बह जाने दो, सावन, मुलाक़ात, साक्षात्कार के अलावा और भी कविताएँ इसी फ्लेवर की हैं।

वैसे तो शिरीन भावसार की सभी कविताएँ एक से बढ़ कर एक हैं। कुछ कविताएँ तो दिल को छू लेती हैं। तो कुछ दिमाग़ को उद्वेलित करने में भी सक्षम हैं।

'प्रयास', दरअसल ज़िन्दगी के कटु अनुभवों को ध्यान में रख कर लिखी गई लगती है। यह एक व्यंजना जैसी ही है। इसमें विचार सौन्दर्य परिलक्षित होता है।

'परिस्थितियाँ गढ़वाती रही
नई परिभाषाएँ
सिद्धान्त स्वयं ही बनाए कई।
और फिर, उन्हें वक्त के हाथों छोड़ दिया।'

ज़िन्दगी भी क्या है? नित-नए सिद्धान्त बनाती है। रोज़ ही, नई परिभाषाएँ गढ़ती है और फिर वक्त की गुलाम हो जाती है।
'थकन', एक भावपूर्ण अभिव्यक्ति है। अपने मन की व्यथा है –

'सामंजस्य की धुरी पर
गुँथा यह जीवन
बढ़ाए हाथ, साथ माँग रहा।
बंद किवाड़ों की
जंग लगी साँकलों पर
दस्तक देता हाथ
थकने से बचना चाह रहा।'

पूरी कविता का सार इन्हीं पंक्तियों में निहित है। एक अनचाही-सी थकन जो कुछ कहे बिना ही सब कुछ कह देना चाहती है।
'मंज़िलें', में ज़िन्दगी की तमाम मंज़िलों को तरह-तरह की उपमाएँ देकर बहुत ही सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है। एक-एक बंद में जीवन दर्शन छिपा हुआ है।

देखिये न!

'यादों और लम्हों की निशानियों को
वक्त की गर्द से लीप-पोत कर
मिटाती ये मंज़िल भी
दुखती तो होगी।
किसी का भी गुज़र जाना
महज़ एक घटना भी तो नहीं।

यहाँ अनुभूति की तीव्रता और व्यापकता दोनों का तालमेल बहुत खूबसूरत है।

'चक्रव्यूह गढ़ना होगा'–नारी विमर्श को जन्म देती यह कविता, एक प्रतिज्ञा करती हुई प्रतीत होती है।

'तोड़ दे जो हर पड़ाव के ठहराव को
जोड़कर कंठस्वर सारे
आवाज़ को बुलंद करना होगा
तोड़ने को व्यूह सारे
एक चक्रव्यूह स्वयं भी गढ़ना होगा।'

उपरोक्त पंक्तियों में शब्द योजना शानदार नज़र आती है, जो सम्प्रेषण को प्रभावशाली बनाती है।

एक अन्य कविता 'धार' है। ये कड़वी सच्चाई है कि 'धार', धार बनाने वाले हाथों को भी लहूलुहान कर देती है। एक ऐसी प्रक्रिया के बारे में सोचना और लिखना, उनकी वैचारिक क्षमता को दर्शाता है। यह व्यंजना में लिखी गई स्त्री विमर्श की शानदार कविता है। इन्हीं श्रेणी में देवी या देह, परीक्षा, चीत्कार, आक्रोश, चरित्रहीन जैसी स्त्री विमर्श की विचारपरख कविताएँ भी शामिल हैं जो समाज में स्त्रियों की दशा व दिशा इंगित करती हैं।

एक कविता है 'रास्ते' जो प्रतियोगिता में शामिल बेतहाशा दौड़ती ज़िंदगी को बयान कर रही है –

'कई योजनाबद्ध रास्ते गुने गए
नामालूम किनके द्वारा।
सहमति या असहमति
आवश्यक ही कहाँ थी कभी।
आदर्श स्थापित करने का
बोझ ढोते-ढोते
रास्तों पर कदम बढ़ाते
जाने किस मंज़िल चले जा रहे कदम।'

इस कविता के साथ ही अवरुद्धता, प्रतीक्षा, रूई, पकड़ कविताएँ भी अच्छी बन पड़ी हैं व सोचने को विवश करती हैं।

पेज न.–13 , 23, 51, 75, 103 पर कुछ छोटे आकार की कविताएँ भी हैं जो कि उनके बाद आने वाली कविताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनकी मारक क्षमता बहुत है। सीधा तीर निशाने पर जाता है और दिल के अंदर पैवस्त हो जाता है। ये एक तरह से शब्दवाण है जो दिल में एक नश्तर सा चुभो कर अपना असर छोड़ती हैं।

संकलन में लगभग सभी विषयों पर लिखी गईं सत्तर (70)कविताएँ हैं। कहीं अपने आप से जंग जारी है तो कहीं सारी बंदिशों को तोड़ने का अज़्म है। रिश्तों की अहमियत है तो कहीं दर्द की अपनी एक अलग ज़ुबान है। इनकी एक और छोटी सी कविता है जिसने मुझे बहुत प्रभावित किया। हो सकता है बाद में लिखी हो इस किताब में शामिल नहीं है।
आप भी पढ़िए –

'रात के दामन में
दुशाला इश्क़ का
नफ़ासत से बुन रही है चाँदनी...
आज फिर
रेशम हो गया चाँद।'

कौन किसको, कितना समझता है, ये उसकी समझदारी पर निर्भर करता है। चाँदनी का बुना दुशाला ओढ़ कर चाँद भी रेशम हो गया। बहुत ही सुंदर बिम्ब दिया है। बहुत नफीस सी लगीं यह चार पंक्तियों की कविता। शिरीन जी की सारी कविताएँ पढ़ने के बाद, एक बात जो बाहर निकल कर आती है, वह यह है कि काव्य का सीधा संबंध, हृदय से होता है। अनुभूति से होता है। कल्पनाशीलता से होता है।

आपने, अपनी अनुभूतियों और कल्पनाओं को संयोजित कर, शब्द संयोजन की भट्टी में डालकर, तपाकर, एक ऐसा स्वादिष्ट व्यंजन बनाया। जिसका रसास्वादन अनूठा है।

साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद, संस्कृति विभाग भोपाल के द्वारा इसकी पांडुलिपि चयनित हुई और इसी के सहयोग से प्रकाशित भी। एक तरह से संस्कृति विभाग द्वारा सम्मानित है। प्रथम संग्रह की हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये। और लिखिए, लिखती रहिये, बस यही दुआ है।

भोपाल (मप्र)
9977589093

पहली बारिश

– अवधेश प्रसाद सिंह

'मौत से पहले नहीं मरना सुधीर / जिंदगी है जिंदगी की शाम तक' ये पंक्तियाँ सुधीर सजल के सद्य: प्रकाशित ग़ज़ल-संग्रह 'पहली बारिश' की हैं, जहाँ हमारा परिचय एक ऐसे सचेत और जाग्रत-विवेक वाले कवि से होता है, जिसकी वैचारिकता और विमर्शों के प्रति दृष्टिकोण में एक नयापन है। इन ग़ज़लों में कवि के आसपास की दुनिया तथा व्यक्ति के विभिन्न स्तरीय संबंधों को गहराई से परिभाषित करने की कोशिश है। इस काम में मददगार है उनकी लोकदृष्टि, संवेदना और सम्यक सोच, जिनके बल पर वे सृजन के दुर्गम मार्ग पर बढ़ते हुए नजर आते हैं। दरअसल कविता के मार्ग पर वही बखूबी चल सकता है जिसे लावे पर चलने की ललक हो। जलते-छटपटाते पाँवों से ही कवि अपने समय और देश-काल की व्याख्या ईमानदारी और सत्यनिष्ठा के साथ करने में सफल हो पाता है।

पुस्तक : पहली बारिश
लेखक : सुधीर सजल
प्रकाशक : सजल प्रकाशन
मूल्य : 300/- रु.

सुधीर सजल ने इस ग़ज़ल-संग्रह में कवि-कर्म का एक नया प्रतिपाद्य रचने की चेष्टा की है। बदलती राजनीतिक-सामाजिक स्थितियाँ कवि को बेचैन करती हैं, जिन्हें वह ग़ज़लों में दर्ज करता है। इन ग़ज़लों में अभिव्यक्त संवेदना-समुच्चय की सघनता, अभिनिवेश की बहुस्तरीयता और सोच की मौलिकता उसके भीतर के कवि को एक ऊँचे मुकाम पर खड़ा करती हैं। उसकी संवेदना-भूमि के दायरे में ग्राम्य समाज की दारुण स्थितियाँ हैं तो तथाकथित सभ्य शहरी समाज के कुटिल नागरबोध पर तीक्ष्ण व्यंग्य भी। गाँवों का शोषण, सपनों की खोज में पलायन करते लोग और सपनों से ठगे गए निरीह व्यक्ति की मन:स्थिति का चित्रण मर्माहत करता है –

'दसमुँहा अजगर शहर ये सब निगलता जा रहा
गाँव, घर, नदियाँ, फसल, यादों की सब अमराइयाँ।'
'लगाकर दोस्त का चेहरा हमारे घर में आते हैं
वो इतमीनान से फिर दुश्मनी हमसे निभाते हैं।'

आज मनुष्यमात्र के सामने विवशता है, वह चाहकर भी कुछ कर नहीं पा रहा है, पर उसके भीतर संघर्ष की एक आवाज है, जिसे व्यक्त किए बिना नहीं रहता –

'सुनेगा कौन फिर भी कहने की आदत है कहते हैं
हम अब भी उसी डूबे गाँव वाले घर में रहते हैं।'
'जीने की चाह थी मगर मरना पड़ा हमें
हर एक साँस के लिए लड़ना पड़ा हमें।'
'आगजनी, औरतखोरी कल दिन भर कत्लेआम हुआ
आज भी मंदिर की मूर्ति के चेहरे पर मुस्कान वही।'

सुधीर सजल की ग़ज़लें लोकधर्मी है, क्योंकि एक ओर जहाँ वे व्यक्तिगत अनुभवों को लोक से जोड़कर देखते हैं, वहीं अपने समाज, उसके संगठन, सामाजिक-पारिवारिक संबंधों और राजनीतिक उखाड़-पछाड़ को बेबाकी से प्रकट कर लोक पर पड़ने वाले प्रभावों को भी व्यक्त करते हैं। व्यक्ति, परिवार, पास-पड़ोस, निकटस्थ-दूरस्थ परिवेश सब इसी क्रम में मार्मिकता से अभिव्यक्त हैं –

'जिसके नकशे-कदम पे चलने की मिली नसीहतें
उसकी कमजोरियों को अपने मन में पालने लगे।'

इसी प्रकार वे आगे आज के समय का दर्द बयाँ करते हुए कहते हैं –

'कातिल था उसको कत्ल करने का जुनून था
मैं उसको बस इक जुल्म का मारा समझता था। चढ़कर किसी के काँधे
पे खड़ा था सितमगर
मैं उसको आसमाँ का सितारा समझता था।'

कवि में सच को सृजित करने का साहस है। आज मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य होता जा रहा है, वैसे-वैसे हिंसक, स्वार्थी और बर्बर भी होता जा रहा है। धर्म की जो बारूद लोगों की मानसिक चेतना में भरी जा रही है, वह मनुष्यता को बरबाद करने में लगी है। जाति, संप्रदाय, वर्ग आदि की कट्टरता हर एक को आशंका और आतंक से भर रही है। कवि कहता है –

'वो जब भी मुस्कराते हैं हमें तब याद आता है
जिसे कुर्बान करना हो उसी पर फूल चढ़ते हैं।
यूँ उनका चेहरा आदमी जैसा ही लगता है

मगर डर जाओगे देखोगे जब वे मुस्कुराते हैं।'

सुधीर सजल की ग़ज़लों में सामाजिक स्थितियों के लिए जो दर्द है वह व्यंग्य की शक्ल में प्रकट होता है –

'सुना है तुम्हारा हर दिन ही मंगलवार होता है
यहाँ तो रोज भूखे-बिलखते इतवार देखे हैं।'
'हमारे खेत की फसलें चुराता कौन है बोलो
अनाजों से भरे सारे तेरे भंडार देखे हैं।'

इसी तरह शोषण, जमाखोरी और छीना-झपटी तथा आहत मन की ओर भी इशारा करते हैं –

'अनाजों से भरे गोदाम पर तेरे ही ताले हैं
इधर खाली करोड़ों पेट हैं रोटी के लाले हैं।
अगर भीतर तुम्हारे है नहीं घनघोर अँधेरा
बता फिर कैद करके क्यों रखे इतने उजाले हैं।'

अंग्रेजियत पर व्यंग्य करते हुए कवि कहता है–

'अपनी तहजीब को मिटना है तो मिट जाएगी
बच्चों की घुट्टी में अंग्रेजी को मिलाना है।
हम तो पहले भी थे नौकर उन्हीं के आज भी हैं
अपने बच्चों को भी नौकर हमें बनाना है।'

इसी प्रकार हमारे कर्तृत्व को जब दूसरे हथिया लेते हैं तो व्यक्ति के भीतर की पीड़ा उभर आती है–

'हमने बनाए रास्ते सब उनके हो गए
जब हम चले तो फिर नया गढ़ना पड़ा हमें।'

कवि के चिंतन और दृष्टिकोण में एक खुलापन है। कई बार कविताओं की पंक्तियाँ अक्षरमात्र नहीं रह जातीं, बोलने-बतियाने लगती हैं। उनके नए रंग उभरने लगते हैं, जिनमें धरती के रंगों की तरह विविधता है, स्वाभाविकता है, स्वच्छता है –

'कोई किताब जिंदगी से बड़ी नहीं हो सकती
सभी भाषाएँ, लिपियाँ, शब्द, अक्षर सब हमारे हैं।'

जहाँ तक भाषा का मामला है, कवि की भाषा में बेजान शब्द-चित्र नहीं हैं। जीते-जागते इनसान की सहज अभिव्यक्तियाँ उनकी भाषा में हैं। कवि ने लक्षणा एवं व्यंजना में तो अपनी बात कही ही है, कविता की शक्ल में अभिधात्मक पंक्तियाँ भी हैं, जो कवि की वाणी को विश्वसनीय बना देती हैं। यह भाषा प्रचलित और अनुकूलित सौंदर्यशास्त्र का प्रतिसंसार रचने का प्रस्ताव करती है एवं संवेदना के क्षेत्रों तक ले जाने का कार्यभार सँभालती है। हम देखते हैं कि कवि की काव्यभाषा प्रसादन की नहीं, बल्कि दंश की भाषा है। तिर्यक और मुखर भाषा समाजशास्त्र के साथ भी आक्रामक ढंग से विमर्श करना चाहती है। सुधीर सजल के जीवन में उम्मीदों के तार बहुत मजबूत हैं। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद कवि पूरी तरह से हताश-निराश नहीं है, उसमें आशाओं-आकांक्षाओं की किरणें बची हैं–

'घुली फिजाँ में है बेवफाई / यकीं करे दिल तो किसपे बोलो
जो तंग आए हैं दुश्मनी से / वही निभाएँगे दोस्ती को।'

यह आशा उनकी इच्छाशक्ति और आत्मविश्वास से और भी बलवती हो उठती है–

'सुबह इस रात की आएगी एक दिन हम भी गाएँगे
ये दिल जब जुगनुओं के साथ जलना सीख जाएगा।
मैं जब तक हूँ, नहीं मायूस होना जिंदगी से तुम
अँधेरा देख मुझको रोशनी बन कर बिखरता है।'

कवि की सकारात्मक सोच ही कविता को मानव जीवन के लिए पयस्विनी बना देती है। सुधीर सजल इसी राह पर हैं। उनकी पंक्तियाँ आश्वस्त करती हैं–

'क्यों सजाना ख्वाब अब हम छोड़ दें
रोशनी देता है सूरज शाम तक।'

ऐक्शन एरिया 1, 222, सीए ब्लॉक,
स्ट्रीट नं 221, न्यू टाऊन,
कोलकाता-700156 (प.बं.)
मो.-9903213630

और इस बार जब तुम नदी बनी

- क्रांति कनाटे

शिशिर उपाध्याय का काव्य संग्रह 'और इस बार जब तुम नदी बनी' मेरे सामने है और पंद्रह शब्दों की पहली ही कविता -
नदी को रेत /होता देख /मैं पानी-पानी हो गया / मैं बादल /और क्या करता... (और क्या करता... पृ.17) के माध्यम से ही जैसे उन्होंने आने वाली कविताओं की पूरी इबारत लिख दी क्योंकि इसके बाद जो 83 कविताओं का सिलसिला चला तो वह मुझे बाँधता चला गया, कुछ कविताएँ, विशेष रूप से छोटी कविताएँ जिनके केंद्र में नदी अथवा स्त्री है वे तो सचमुच मंत्रमुग्ध करने वाली हैं। काल के प्रवाह में नदी का रेत होना तो हम सबका देखा है परंतु उसे देख बादल का पानी-पानी हो जाना अपने आपमें एक अनुपम कल्पना है।

पुस्तक : और इस बार जब तुम नदी बनी
लेखक : शिशिर उपाध्याय
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सीहोर (म.प्र.)
मूल्य : 185/- रु.

'अस्तित्व'(पृ. 20) कविता निश्चित ही नदी के सागर से मिलने को उसकी परम्परागत नियति अथवा सौभाग्य न मानते हुए कवि का एक अलग ही दृष्टिकोण दर्शाती है, जहाँ अंत में वह कहता है -
क्या पाया नदी ने? / अपना अपार मृदु जल लुटाकर?
सिर्फ एक कसैलापन /और अपनी अस्तित्व हीनता।

'अस्तित्व' में कवि को लग रहा है कि यह मिलन एक समझौता भर है। संग्रह की शीर्षक कविता 'और इस बार जब तुम नदी बनी' (पृ. 32) भी रेखांकनीय है जिसमें नदी को संबोधित करते हुए कवि पेड़ का मानवीकरण करते हुए उससे संवाद साधते हुए कहता है -
चंद ऊँचाइयों के लिए मैंने क्या पाया?/ नीचे उद्दाम भाव से बहती रही तुम / और मैं देखता रहा / तुम्हारे पानी में अपनी प्रतिछाया।

संग्रह की नदी केन्द्रित दस से अधिक कविताएँ उसे अलग-अलग रूप में प्रस्तुत करती हैं। संग्रह में स्त्री केन्द्रित जो कविताएँ हैं वे भी बड़ी विशिष्ट हैं जैसे 'स्त्री, ओजस्विनी, गणित और तुम, विलयन' आदि। इनमें विशिष्टतम है 'पूर्ण स्त्री' परंतु उसे पूरा पढ़ना होगा क्योंकि उसके किसी अंश भर को यहाँ उद्धृत करना कविता के साथ भी अन्याय होगा और उस पूर्ण स्त्री के साथ भी जिसके बिना पुरुष का जीवन निरर्थक है। एक सत्य हम सबके लिए एक-सा है और वह यह कि हम अपना गाँव भले ही छोड़ दे, गाँव हमें कभी नहीं छोड़ता, वह निरंतर हमारे भीतर बना रहता है, बसा रहता है तभी तो शिशिर कहते हैं-
जाएँ, एक बार वहाँ भी / तीर्थाटन के रूप में
की वहाँ कभी/रहते थे हमारे पुरखे (जाएँ कभी गाँव में, पृ. 31)।
आजीविका के लिए शहर जाना एक आवश्यकता भी है और यंत्रणा भी, तभी तो कवि जब भी गाँव जाता है तो पूरा कब लौटता है, कभी वह खेत में गेहूँ की बालियों की तरह रह जाता है, तो कभी थोड़ा बह जाता है नदी में यादों की गठरी के साथ, 'पूरा कब लौटा' (पृ. 79) कविता हर पाठक को नॉस्टेलजिक बना देगी, यूँ भी कविता के साथ नॉस्टेलजिया का एक अंतरंग और आत्मीय संबंध तो है ही।

112 पन्नों में सिमटे इस काव्य संग्रह में और भी बहुत कुछ है। कभी पिता को याद करता हुआ बेटा है '**लौटेंगे पिता/यादों की शाखों पर/हर मौसम में सुमन बनकर**' (लौटेंगे पिता, पृ.103) तो कहीं आँख बंद कर माँ का ध्यान करता हुआ बेटा है इस विश्वास के साथ कि-'**वह बह निकलेगी/ तुम्हारी आँखों से पानी बनकर**' (वो यहीं कहीं है, पृ. 104); राखी बँधवा कर देर तक खंडवा बस स्टेंड पर किसी परिचित की राह देखता एक भाई भी है और मित्र भी (एक समय था यार, पृ. 95); 'बेटे के जन्म दिन पर' (पृ. 82) कविता लिखता एक पिता भी है। संग्रह में विषयानुरूप अश्विन है, अगहन है, आषाढ़ है, पतझर है और हैं शरद, हेमंत शिशिर चलो अच्छा है इस बहाने हमारी नई पीढ़ी को हमारे परंपगत महीनों और ऋतुओं की कुछ तो समझ और जानकारी मिलेगी। संग्रह में निमाड़ है तो गुलमोहर और टेसू तो खैर हैं ही परंतु 'इंदौरी गरीब सूरज' (पृ. 51) में मालवा भी है अपनी पूरी छटा के साथ। कोई आश्चर्य नहीं कि कवि की संवेदनशीलता 'मुखौटे' (पृ. 112) कविता में अपने चरम पर यह कहते हुए पहुँचती है कि-'**मैं डरता हूँ आज भी/ उन मुखौटों से/ चाहे रावण का हो या राम का।**' मेले, ठेलों में मिलते शेर, बंदर, राक्षस और हाँ भगवानों के भी मुखौटे कवि को कभी न भाए क्योंकि इनके पीछे छिप जाते हैं नकली चेहरे कभी दहशत तो कभी आस्था लिए।

वर्तनी की दृष्टि से लगभग शुद्ध इस संग्रह में संयोजक शब्द (कंजंक्शन) 'कि' के स्थान पर संबंधसूचक (प्रेपजिशन) 'के' का उपयोग तथा 'तय' की जगह 'तै' का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है, यह समझ में नहीं आता। शिवना प्रकाशन और कवि शिशिर उपाध्याय का एक अच्छे संग्रह के लिए हार्दिक अभिनंदन।

203, टॉवर-3, साईनाथ स्क्वेयर,
मदर्स स्कूल के पीछे, जलाराम चौकड़ी,
वड़ोदरा-390021 (गुजरात)
मो.-9904236430

पुस्तक – कविता की चार पंक्तियों से
लेखक – नारायण श्रीवास्तव
प्रकाशक – दिशा प्रकाशन, धनश्री काम्प्लेक्स, इलाहाबाद बैंक के पास, करेली बस्ती रोड, नरसिंहपुर (म.प्र.)
मूल्य – 200/– रु.

पुस्तक – आँगन टेढ़ा
लेखक – राजेन्द्र निशेश
प्रकाशक – वनिका पब्लिकेशन्स, एन.ए–168, विष्णु गार्डन, नई दिल्ली–110018
मूल्य – 190/– रु.

पुस्तक – दिहाड़ी मजदूर
लेखक – विवेक सत्यांशु
प्रकाशक – हिन्दुस्तानी एकेडेमी, 12–डी, कमला नेहरू मार्ग, प्रयागराज–211001
मूल्य – 100 /– रु.

पुस्तक – नाद सुनाना पड़ता है
लेखक – प्रियंका मिश्र
प्रकाशक – प्रभात प्रकाशन प्रा. लि. 4/19, आसफ अली रोड, नई दिल्ली–11002
मूल्य – 250/– रु.

पुस्तक – बहुत दिनों के बाद
लेखक – चंद्रकांत दीक्षित
प्रकाशक – मुंबई भाषा परिषद प्रकाशक, 605, परम मोगा टॉवर, जे.एस.एस. रोड, चर्नी रोड, मुंबई–400004 (महा.)

पुस्तक – एक पाव सच
लेखक – राजेन्द्र गट्टानी
प्रकाशक – ऋषिमुनि प्रकाशन, 90, विद्यानगर, सांवेर रोड, मार्ग, उज्जैन (म.प्र.)
मूल्य – 250 /– रु.

पुस्तक – उद्भ्रांत साहित्य संचयिता
संपादक – सेवाराम त्रिपाठी
प्रकाशक – नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002
मूल्य – 595 /– रु.

पुस्तक – बाल सुमन
लेखक – कुसुम श्रीवास्तव
प्रकाशक – भव्या पब्लिकेशन, एल.जी. 42, लोअर ग्राउण्ड, करतार आर्केड रायसेन रोड, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य – 150/– रु.

पुस्तक – हमारा हरदा (पीढ़ियों के संस्मरण)
सम्पादक – ज्ञानेश चौबे
प्रकाशक – संभावना विचार मंच हरदा, मित्रों की ओर से एक अनौपचारिक पहल
मूल्य – 125/– रु.

पुस्तक – गुनगुनाते बोल
लेखक – जया आर्य
प्रकाशक – अपना प्रकाशन, म.नं. 21, सी–सेक्टर, हाईटेंशन लाइन के पास, सुभाष कॉलोनी, गोविंदपुरा, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य – 200/– रु.

पुस्तक – कितने अभिमन्यु
लेखक – योगेन्द्र शर्मा
प्रकाशक – नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002
मूल्य – 350 /– रु.

पुस्तक – समय की दस्तक, अस्तित्व की यात्रा
सम्पादक – कांता रॉय
प्रकाशक – अपना प्रकाशन, म.नं. 21, सी–सेक्टर, हाई टेंशन लाइन के पास, सुभाष कॉलोनी, गोविंदपुरा, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य – 595/–, 360 रु.

पुस्तक – प्रेमार्थ, सुरमयी लता
लेखक – सुरेश पटवा
प्रकाशक – सर्वत्रा, द्वितीय तल, उषा प्रीत कॉम्प्लेक्स, 42 मालवीय नगर, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य 299 /– रु.

पुस्तक – कविता से आलोचना तक (कृष्णगोपाल मिश्र की सृजन–यात्रा)
संपादक – संतोष व्यास
प्रकाशक – पहले पहल प्रकाशन, 25–ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य – 300 /– रु.

पुस्तक – व्यथा संवेदनाओं की
लेखक – असीम धीमहि
प्रकाशक – श्वेतवर्ण प्रकाशन, 232 बी–1, लोकनायक पुरम्, नई दिल्ली–110041
मूल्य – 250 /– रु.

पुस्तक – चालाकी का मुरब्बा, समर्थ आहुतियाँ
लेखक – विनय कोतवाल
प्रकाशक – अपना प्रकाशन, म.नं. 21, सी–सेक्टर, सुभाष कॉलोनी, गोविंदपुरा, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य – 250, 250 /– रु.

पुस्तक – विन्ध्य लाड़ली (बुंदेली के विविध निबंध)
लेखक – अभिनन्दना गोइल
प्रकाशक – मनीष प्रकाशन, 75, चित्रगुप्त नगर कोटरा, भोपाल (म.प्र.)
मूल्य – 175 /– रु.

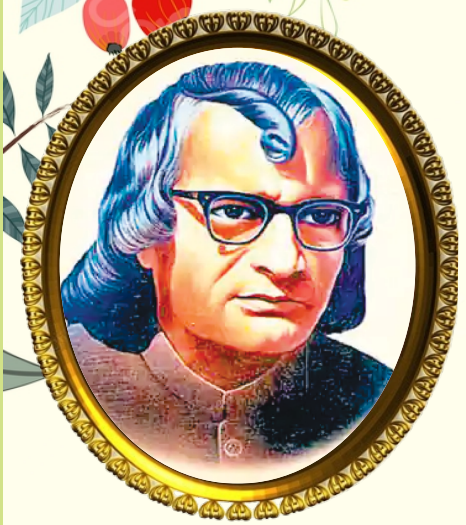

सुमित्रानंदन पंत

जन्म – 20 मई 1900
प्रयाण – 28 दिसम्बर 1977

नौका-विहार

शांत स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भू–तल !
सैकत–शय्या पर दुग्ध–धवल,
तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म–विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !
तापस–बाला गंगा, निर्मल,
शशि–मुख से दीपित मृदु–करतल,
लहरें उर पर कोमल कुंतल।
गोरे अंगों पर सिहर–सिहर,
लहराता तार–तरल सुन्दर
चंचल अंचल–सा नीलांबर !
साड़ी की सिकुड़न–सी जिस पर,
शशि की रेशमी–विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित–सीपी पर,
मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर।
मृदु मंद–मंद, मंथर–मंथर,
लघु तरणि, हंसिनी–सी सुन्दर
तिर रही, खोल पालों के पर।
निश्चल–जल के शुचि–दर्पण पर,
बिम्बित हो रजत–पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राज–भवन,
सोया जल में निश्चिंत, प्रमन,
पलकों में वैभव–स्वप्न सघन।

नौका से उठतीं जल–हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर–छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल,
कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तथल,
जिनके लघु दीपों को चंचल,
अंचल की ओट किये अविरल
फिरतीं लहरें लुक–छिप पल–पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल,
पैरती परी–सी जल में कल,
रुपहरे कचों में ही ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक–झुक,
दशमी का शशि निज तिर्यक्–मुख
दिखलाता, मुग्धा–सा रुक–रुक।

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहों–से दूरस्थ–तीर,
धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर।
अति दूर, क्षितिज पर विटप–माल,
लगती भू–रेखा–सी अराल,
अपलक–नभ नील–नयन विशाल;
माँ के उर पर शिशु–सा, समीप,
सोया धारा में एक द्वीप,
उर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता,
हरने का निज विरह–शोक ?
छाया की कोकी को विलोक ?

पतवार घुमा, अब प्रतनु–भार,
नौका घूमी विपरीत–धार।
डाँड़ों के चल करतल पसार,
भर–भर मुक्ताफल फेन–स्फार,
बिखराती जल में तार–हार।
चाँदी के साँपों–सी रलमल,
नाँचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं–सी खिंच तरल–सरल।
लहरों की लतिकाओं में खिल,
सौ–सौ शशि, सौ–सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।
अब उथला सरिता का प्रवाह,
लग्गी से ले–ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह।

ज्यों–ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा–सा ही जग का क्रम,
शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला–विकास,
शाश्वत शशि का यह रजत–हास,
शाश्वत लघु–लहरों का विलास।
हे जग–जीवन के कर्णधार !
चिर जन्म–मरण के आर–पार,
शाश्वत जीवन–नौका–विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व–ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व–दान।

bob World

आज़ादी का अमृत महोत्सव

एक ऐसा बचत खाता जो है पूरी तरह से डिजिटल.

खाते के साथ पाएं आकर्षक उपहार

B3

प्लस खाता	एज खाता	अल्ट्रा खाता
शून्य शेष	न्यूनतम ₹ 25,000/-	न्यूनतम ₹ 50,000/-

एक खाता जो आपकी तरह रहता है ऑनलाइन.

क्यूआर कोड स्कैन करें
bobworld.com पर जाएं

बैंक ऑफ़ बड़ौदा
Bank of Baroda
विजया VIJAYA | देना DENA

प्रेषक, प्रकाशक, मुद्रक कैलाशचन्द्र पंत, भोपाल द्वारा, स्वत्वाधिकारी मध्य प्रदेश राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल से प्रकाशित एवं श्रेया ऑफसेट, 4 लाजपत भवन, जोन-1, एम.पी.नगर, भोपाल से मुद्रित।